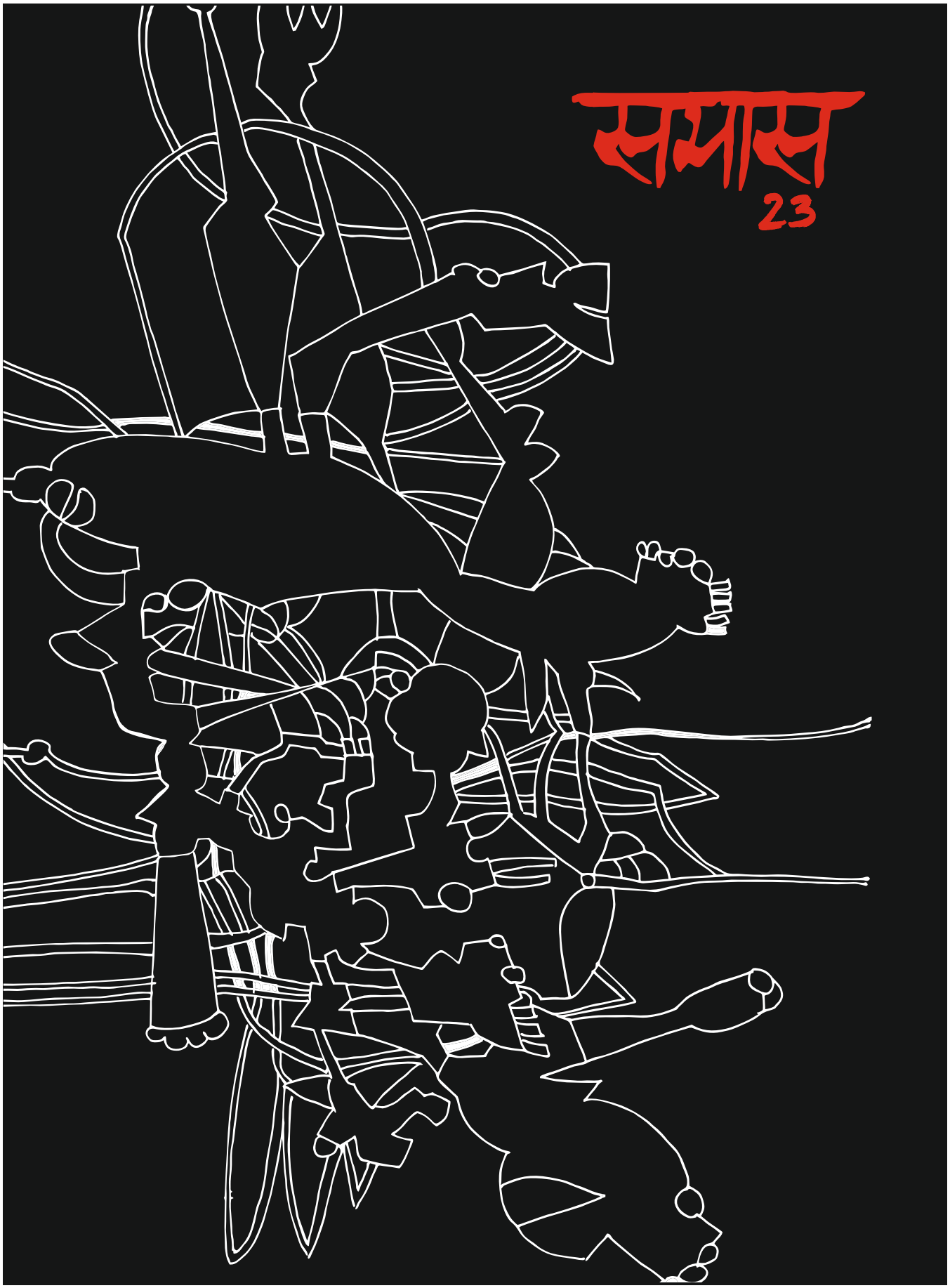
समास
23

यहाँ से काटिए

समास की सदस्यता ग्रहण करें

सम्पादक
समास
नयी दिल्ली

प्रिय महोदय,
समास के एक वर्ष (३ अंक+डाक व्यय) ४५०/- तीन वर्ष (९ अंक) १३५०/- पाँच वर्ष (१५ अंक) २०००/- रुपये का चैक/ड्राफ़्ट संलग्न कर रहा हूँ। कृपया मुझे वार्षिक/तीन वर्ष के लिए/पाँच वर्ष के लिए ग्राहक बना लें और मेरी प्रति निम्नलिखित पते पर भिजवाएँ। या यह धनराशि 'समास' के खाते (स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया खाता क्रमांक-६५१६७३२८५०७, आई.एफ.एस.सी.SBIN0050203) में जमा करवाकर नीचे लिखे ईमेल पर सूचित कर दें।
(अगर आप दिल्ली के बाहर का चेक हमें भेज रहे हैं तो कृपया बैंक कमीशन के ४०/- रुपये उसमें अतिरिक्त जोड़ दें।)

नाम .....
पता .....
.....
.....
.....
टेलीफ़ोन नं. .....
ईमेल : .....

(चेक/ड्राफ़्ट- समास के नाम पर बनाएँ जो नयी दिल्ली में देय हो और निम्नलिखित पते पर हमें भेजने की कृपा करें)

प्रबन्धक - संजीव चौबे
रज़ा फ़ाउण्डेशन, सी-4
139, सफ़दरगंज डेव्हलपमेण्ट एरिया, नयी दिल्ली-16
ईमेल - <ms.razafoundation@gmail.com>
टेलीफ़ोन : 9425674851, 9810166953, 011-46526269/67

विदेश में :
हवाई डाक : एक प्रति 15 अमेरिकी डॉलर/8 ब्रिटिश पाउण्ड
समुद्री डाक : एक प्रति 8 डॉलर/5 पाउण्ड

समास

साहित्य, कला और सभ्यता पर एकाग्र
त्रैमासिक

सम्पादक
उदयन वाजपेयी

द रज़ा फ़ाउण्डेशन |THE RAZA FOUNDATION

समवेत लेखकों के विचारों का 'समास' आदर करता है
लेकिन यह आवश्यक नहीं कि वह उनसे सहमत ही हो।

समास : 2023
वर्ष-९, अंक-२३
त्रैमासिक पत्रिका

प्रकाशक : **अशोक वाजपेयी,** प्रबन्ध न्यासी,
द रज़ा फ़ाउण्डेशन, सी-४/१३९ सफ़दरगंज डेव्हलपमेण्ट एरिया, नयी दिल्ली-110016
फ़ोन- +91–11–46526269

सम्पादक : **उदयन वाजपेयी**

सहायक सम्पादक : **संगीता गुन्देचा**
आवरण : **अखिलेश**
आभार : **शिवदत्त शुक्ला**

सम्पादकीय पत्र व्यवहार : उदयन वाजपेयी
एफ़ 90/45 तुलसी नगर, भोपाल (म.प्र.) 462003
फ़ोन : +91-755-2556940, +91-9753882343
ईमेल - <udayanvajpeyi@gmail.com>

विक्रय सम्बन्धी पत्र व्यवहार : **संजीव चौबे**, फ़ोनः +91-9810166953
E-mail: msrazafoundation@gmail.com

Samas, A literary Quarterly Magazine
Editor : Udayan Vajpeyi
Language : Hindi

Published by : Ashok Vajpeyi, Managing Trustee, The Raza Foundation,
C-4/139, Safdarjung Development Area, New Delhi-110016

मूल्य : 100 रुपये

कम्पोज़िंग : **मनोज कुमार डेकाटे**
मुद्रण : **भण्डारी प्रेस**, अरेरा कॉलोनी, भोपाल (म.प्र.)

समास - २३

सम्पादकीय

बातचीत

दैशिक कलाएँ और चिदाकाश

नवज्योति सिंह से उदयन वाजपेयी की बातचीत ०१

कविताएँ

महाकाल की दर कहो, साहूकार - कुमार मोहन्ती ४२

अपने क़दमों के पास - प्रवासिनी महाकुद ५८

डरी हुई हमारी ज़िन्दगी - ल्योनीद गुबानोव ६८

शीत एवं अन्य कविताएँ - कमलेश राहा राय ७५

आसमाँ की आस में कुछ पैबन्द नक्षत्र - वंशी महेश्वरी ८३

उनींदी आँख खोलते बीज - वसु गन्धर्व ९२

उपन्यास अंश/कहानियाँ

नेमतख़ाना - ख़ालिद जावेद ९५

देखना - आनन्द हर्षुल १०२

कास्ट आयरन की इमारत - अम्बर पाण्डेय ११७

फ़ारसी कहानियाँ

दो भाई - गुलाब हुसैन सा'अदी १३७

भेड़िया - होशंग गुल्शीरी १६१

निबन्ध

नेक्रोपोलिस - महेश एलकुंचवार १६९

परवीन शाकिर - वागीश शुक्ल १९०

हवा में गाँठ - अमित दत्ता २२६
मनुष्य - अमृता भारती २५०

जीवनी/स्मरण

राग में बार-बार होता जन्म - ध्रुव शुक्ल २७३
इरफ़ान : जहाँ ले चले हवा - अनूप सिंह २९१
हमारे 'राष्ट्रपति' यानी जितेन्द्र - पंकज सिंह ३१३
लेखक परिचय ३२१

सम्पादकीय

लगभग सभी भारतीय भाषाओं के साहित्य विशेषकर हिन्दी साहित्य में ऐसे लेखक की कल्पना करना अब दूभर हो गया है, जो किसी राजनैतिक दल या राजनैतिक विचारधारा से निरपेक्ष होकर लेखन करता हो या करता रह सकता हो। यहाँ कहने का आशय यह नहीं है कि किसी भी लेखक को अपने समय की राजनीति पर विचार नहीं करना चाहिए। चूँकि हमारे समय में राजनीति का हस्तक्षेप जीवन के अनेक पक्षों में हो गया है, इसलिए उस पर अनेक लेखक सहज ही विचार करते हैं। हम यह भी कह सकते हैं कि हमारे समय में राजनीति इस हद तक हमारे जीवन के लगभग हर हिस्से में घुस चुकी है कि वह किसी भी नागरिक की तरह लेखक के जीवन से टकराये बिना नहीं रहती। इसलिए एक बात तो निश्चित है कि राजनीति आज उससे कहीं अधिक फैल गयी है, जितनी उसमें खुद को सम्भालने की ताक़त है। जब राजनीति की चर्चा केवल राजनैतिक मुहावरे में होती है, राजनीति की शक्ति और घुसपैठ बढ़ती जाती है। शायद इसलिए क्योंकि राजनीति का स्वभाव उस राक्षस की तरह है, जो अपने उन विरोधियों की शक्ति को भी सोख लेता है, जो उसका विरोध उसकी शब्दावली में करते हैं। लेखन का क्षेत्र व्यापक होता है, उसमें राजनीति एकमात्र या केन्द्रीय विषय नहीं होती। राजनीति अनिवार्यतः मनुष्य केन्द्रित होती है जबकि सर्जनात्मक लेखन और अन्य कलाओं का क्षेत्र जैव केन्द्रित हुआ करता है। उसकी ज़द में मनुष्य ही नहीं, समूची प्रकृति बल्कि ब्रह्माण्ड आ जाता है। साहित्य और कलाओं की सक्रियता के इस व्यापक क्षेत्र की तुलना में राजनीति का क्षेत्र अपेक्षाकृत छोटा होता है। ऐसा लेखक हो सकता है, ऐसे लेखक हुए हैं, जिन्होंने राजनीति या राजनैतिक विषयों को राजनैतिक मुहावरे में देखने या चित्रित करने का प्रयास नहीं किया। उन्होंने राजनीति को अपनी कल्पना में उतना ही स्थान दिया जितना व्यापक ब्रह्माण्ड के सन्दर्भ में उसका है। ऐसे लेखकों के साहित्य में राजनैतिक मुहावरों का अभाव अवश्य होता है पर वह राजनीति को उसकी अपनी हैसियत बताने में कहीं अधिक कारगर साबित होता है। ऐसे लेखकों के साहित्य में किसी राजनैतिक विचार-दृष्टि का अभाव तो होता ही है, उसे पूरी तरह अनावश्यक मानकर अनायास ही त्याग दिया जाता है। ये वे लेखक होते हैं जो अपनी स्वतन्त्र मेधा से, अपनी तरह के मुहावरे में जिस तरह अन्य सामाजिक, ऐतिहासिक, व्यक्तिगत या कैसे भी विषय पर विचार करते हैं उसी तरह राजनीति पर भी बिना राजनैतिक हुए विचार कर पाते हैं। इस तरह के साहित्य में ऐसे मूल्यों की स्थापना होती है जिनके सन्दर्भ में तात्कालिक राजनैतिक या ऐतिहासिक मूल्य स्वयं अपने पर विचार करने की स्थिति में आ जाते हैं। क्या ऐसे किसी लेखक की हिन्दी के समकालीन साहित्य में कल्पना भी की जा सकती है? हम कब तक साहित्य की अपनी व्यापकता से अनभिज्ञ रहकर उसे बेहद संकुचित दायरों में महदूद करने का प्रयास करते रहेंगे? यह किसी भी साहित्यिक संस्कृति की कमज़ोरी मानी जाएगी जिसमें एक ऐसे लेखक का स्थान ही न बन पाये जो सीधे-सीधे राजनैतिक न हो, हालाँकि जिसके साहित्य में व्यापक जीवन

के मूल्यों का - सौन्दर्यात्मक और नैतिक मूल्यों का प्रकटन होता हो। वही साहित्य महत्व का हुआ करता है, जिसमें लेखक पाठक को अपने विवेक का अनुभव करने का अवसर प्रदान करता है। ऐसा लेखन कभी भी लेखक की राजनैतिक दृष्टि की अभिव्यक्ति से सम्भव नहीं होता। यह तभी सम्भव होता है, जब लेखक अपने स्वभाव में अन्तर्भूत उस औचित्यबोध को सक्रिय कर संसार को एक विशेष तरह से देखता है, जिसे लेकर वह पैदा हुआ था। ऐसे साहित्य में ही यह सामर्थ्य होती है कि वह अपने पाठकों के औचित्यबोध-जिसे विवेक भी कहा जाता है- को जाग्रत कर सके। विवेकवान नागरिकों से ही राजनीति का वह स्वरूप पलट सकता है जो हम सबको अपनी गिरफ़्त में लेकर निष्क्रिय बनाये दे रहा है।

भोपाल,
०४ जनवरी, २०२३

उदयन वाजपेयी

दैशिक कलाएँ और चिदाकाश

नवज्योति सिंह से उदयन वाजपेयी की बातचीत

नवज्योति सिंह को संसार छोड़े चार से ज़्यादा वर्ष हो चुके। जब वे गये, उनकी उम्र ६० वर्ष थी। वे स्वतन्त्रता प्राप्त भारत के सबसे अनोखे और प्रयोगशील, लेकिन साथ ही पारम्परिक दार्शनिक थे। दार्शनिकों, लेखकों, चित्रकारों आदि के संसार में उनका नाम बहुत आदर से लिया जाता रहा है, लिया जाता रहेगा। पहले उनका हृदय रोग का इलाज हुआ, फिर कैंसर ने उन्हें घेर लिया। वे हृदय रोग से बाहर आ गये थे, कैंसर से नहीं आ सके। इन दोनों के बीच वे दो बार भोपाल आये। इनमें से एक बार उन्होंने चित्रकला पर व्याख्यान भी दिया। इन दोनों बार हमने उनसे कला के दर्शन पर बातचीत की। योजना यह थी कि पहले दैशिक कलाओं के दर्शन पर विस्तार से बातचीत हो। बाद में कालिक कलाओं पर उतने ही विस्तार से चर्चा हो। हमारा यह सौभाग्य था कि हम उस पाये के दार्शनिक नवज्योति सिंह से दैशिक कलाओं के दर्शन पर बातचीत कर सके। पर हमारा यह दुर्भाग्य था कि जब कालिक कलाओं पर बातचीत का अवसर आया, उनका स्वास्थ्य इस योग्य नहीं रह गया कि वे इस विषय पर चर्चा कर पाते। अपनी बीमारी के दौरान ही उन्होंने इंटरनेशनल इंस्टीट्यूट ऑफ़ इन्फोर्मेशन टैक्नोलॉजी, हैदराबाद में स्थित अपने विभाग (सेंटर फॉर एक्जेक्ट ह्यूमेनिटीज़) में 'वर्ण' (रंग) पर क़रीब दस व्याख्यान दिये। ये व्याख्यान आज भी यू-ट्यूब पर सुने जा सकते हैं। नवज्योति यह मानते थे कि पश्चिमी सभ्यता का भारत पर ऋण है। वे इस ऋण को चुकाने का यह उपाय मानते थे कि हमें भी पश्चिमी सभ्यता को अपनी ऐसी अन्तर्दृष्टि भेंट करनी होगी जिससे आधुनिक वैश्विक सभ्यता अपने उन सवालों से जूझ सके जिनके समाधान पश्चिमी सभ्यता में नहीं हैं। उन्होंने जीवन से विदा लेने के क्षण तक इस ऋण को उतारने और भारतीय सभ्यता को समृद्ध करने के अपने गहन दार्शनिक प्रयासों को कम नहीं होने दिया। 'समास' के पाठकों को याद होगा कि हमने अंक-६ में नवज्योति सिंह से एक बातचीत प्रकाशित की थी। वह पुस्तकाकार 'विचरण' नाम से प्रकाशित हो चुकी है। इस अंक में हम इस महान दार्शनिक की दैशिक कला सम्बन्धी बातचीत प्रकाशित कर रहे हैं। यहाँ यह याद रहे कि रंगकर्म, संगीत, नृत्य, सिनेमा आदि कालिक कलाएँ हैं। ये काल में खुलती हैं। जबकि चित्रकला, शिल्प और वास्तुकला दैशिक कलाएँ हैं जो देश (स्पेस) में खुलती हैं।

उदयन : आप अलग-अलग युगों के सन्दर्भ में कला की उत्पत्ति की कहानी बताते हैं, उससे कला का प्रयोजन भी निकलता है, वह कहानी कहिए।

नवज्योति सिंह : यह कहानी नाट्यशास्त्र से शुरू होती है। यह नाट्य-शास्त्र में भी है और

अन्य ग्रन्थों में भी बिखरी हुई है। उन्हीं सब जगहों से उठा कर बनायी गयी है।

उदयन : यह कहानी किसी एक ग्रन्थ में नहीं है?

नवज्योति : यह बनायी हुई कहानी है। किसी भी एक ग्रन्थ में नहीं मिलेगी। कहानियाँ ऐसे ही बनायी जाती थीं। पुराण इत्यादि ऐसे ही बनाये जाते थे। पुराण आदि भी किसी बात की निखारने बनाये जाते थे। कहानी का प्रयोजन यही होता है 'किसी सच को बताना। किसी चीज़ का स्वरूप निखारना।' उस कहानी से, जिसका आप जिक्र कर रहे हैं- कला की उत्पत्ति निकल आती है और भी बहुत-सी चीज़ें निकल कर आती हैं।

कहानी बनाना और कहानी कहना एक ही बात है। यहाँ जो सबसे पुराना है, वही सबसे गहरा है। गहरी कहानी है तो वह पुरानी कहानी है, वही पुराण है। कथा या गाथा में गहराई होती है इसलिए ही वह कथा या गाथा होती है। इसी तरह ही कला के सन्दर्भ में युगों की कहानी है। ऐसा नहीं है कि पहले कोई युग हुआ, बाद कोई और युग हो गया। सारे युग तात्कालिक है। एक साथ घट रहे होते हैं। वे गहराई में भी हैं, विस्तार में भी। जहाँ गहराई और अतीत मिलते हैं, उसी स्वरूप को कहानी कहते हैं। उसमें कहा जा रहा होता है। कहानी में कहन है, उसे थाम लिया जाता है। फिर उस पर कहानी बनती रहती है। उस कहानी के अंगोपांग समय-समय पर अलग-अलग जगहों से उठते रहते हैं।

उदयन : इससे अलग-अलग कहानियाँ बनती रहती हैं।

नवज्योति : उसके पीछे जो बात है, वह पकड़ में आ जाये तभी कवि कहानी बनाता है। वह एक किस्म की समाधि है, उसी के विस्तार में जाने से कहानी लिखी जाती है। आदमी उस बात को पकड़ ले और उसे कहने लगे। कहते-कहते कहानी बन जाती है। युगों की कहानी भी ऐसी ही है। युग आदि तो उसके अंगोपांग जैसे हैं। उनके सहारे एक बात कही जा रही है। उसमें से मनुष्य का स्वभाव, उसकी स्थिति, उसकी गहन वृत्तियों बाहर निकल रही है। इन्हें कहने में चतुर्युग की संकल्पना काम आ गयी। वह कहानी का प्लॉट हो गया। सारे पुराण ऐसे ही बने हैं। वे कोई गहरी बात कह रहे हैं। पुराण में सृष्टि प्रक्रिया दिखायी गयी है। बहुत गहरी बात कहने के लिए उसे सृष्टि-प्रक्रिया में पिरो दिया गया है। ऐसे ही यह कहानी भी है जहाँ एक विशेष बात कहने के लिए उसे सृष्टि प्रक्रिया में पिरो दिया गया है।

इतिहास का अर्थ है, जैसा है वैसा ही कहना। जो गहराई है, उसे ही कहना है।

उदयन : इसका आशय और स्पष्ट कीजिए।

नवज्योति : इतिहास शब्द की व्युत्पत्ति यही है : ऐसा ही हुआ है। इसके अन्दर एक दावा है: जैसा हुआ है वैसा ही इतिहास में उसका व्याख्यान करना है। 'ऐसा हुआ' यह निश्चय उसकी गहराई के कारण है। कहानी की गहराई के कारण ही ऐसा निश्चय बन जाता है कि ऐसा ही हुआ है।

उदयन : क्या ऐसा उसके वर्णनों के कारण होता है ?

नवज्योति : केवल वर्णन तो अर्थवाद है। उसमें इधर-उधर की चीज़ें आती हैं। ऐसा भी नहीं है कि आप बिना वर्णन के कह सकते हों। वर्णनों का अपने आप में औचित्य है। उसके बगैर 'बात' निकल ही नहीं सकती।

उदयन : लेकिन आप जो कहना चाह रहे हैं, उसके लिए आप नये वर्णनों की कल्पना भी कर सकते हैं।

नवज्योति : कथाओं के दो तत्त्व होते हैं। या तो वे ऐतिहासिक होते हैं या काल्पनिक। दृश्य-श्रव्य के लिए भी। यही नाट्य-शास्त्र में कहा गया है। इन दोनों तत्त्वों में खेल चलता रहता है। कल्पनाएँ ऐतिहासिक हो जाती हैं और इतिहास कल्पना में आ जाता है। जो प्रसिद्ध है उसे लोग इतिहास कहने लग गये। जो स्मृति में आ गया उसे इतिहास कहा जाने लगा। इतिहास की सृष्टि होती है। उसके रचने में गहराई बाहर आती है। वह गहराई के ऊपर रचा जाता है। इतिहास में दावा भी गहराई का है इसलिए भी वह ठीक बैठ जाता है। सारे पुराण ऐसे ही लिखे गये।

अगर सृष्टि प्रक्रिया में देखें तो पूछना होगा कि कलाओं का सृष्टि प्रक्रिया में क्या स्थान है?

उदयन : आपके अनुसार सतयुग में कलाएँ नहीं हैं?

नवज्योति : हाँ, सतयुग में वे नहीं हैं। कला हर किस्म की होती है। चोरी-चालाकी की भी कला होती है। सतयुग में कैसी भी कलाएँ नहीं हैं। उसमें लोग अपने स्वभाव से अपने प्रयोजन देखकर अपनी तपस्याओं में लगे हैं और अपने प्रयोजन ढूँढ रहे हैं, उनकी सिद्धि में लगे हैं। तपस्या सतयुग में होती है। उसमें सारे के सारे लोग तपस्वी हैं। वे अपने-अपने प्रयोजनों को सिद्ध करने में लगे हैं। उन्होंने बड़ी-बड़ी तपस्याएँ की जिनसे क्या-क्या न उत्पत्तियाँ हुई? वेद इत्यादि, और भी अनेक उत्पत्तियाँ।

उस युग में एक खोट आ गयी जिसके कारण उनकी तपस्याओं से निकलने वाले फलों में दोष आ गया। उस युग में सारे लोगों की तपस्या के कारण धर्म आदि व्यवस्थित हो रहा था। पर उसमें एक किस्म की त्रुटि आ गयी।

उदयन : यहाँ आप जिसको धर्म कह रहे हैं, उससे आपका क्या आशय है ?

नवज्योति : धर्म का अर्थ है जो धारण योग्य हो। ऐसी प्रवृत्ति जो धारण के योग्य हो, वह धर्म है। जो धारण के योग्य हो, उसे अपना अधिकरण चाहिए। जैसे आग का धर्म जलना है। आग का अधिकरण लकड़ी है, वह उसमें धारण हो सकती है। इसमें जो योग्यता है, वह धर्म है। ऐसे धर्म हों जिनसे सभी चीज़ें एक-दूसरे की पूरक हो जायें। सतयुग में ऐसा ही है, सब अपनी-अपनी तपस्या कर रहे हैं और एक-दूसरे के कामों में हस्तक्षेप नहीं कर रहे हैं। सतयुग में थोड़ा-सा पुण्य कमाने के लिए बहुत कुछ करना पड़ता है। हज़ारों-लाखों सालों की तपस्या करने पर थोड़ा-सा पुण्य कमाया जा पाता है पर कलियुग में थोड़ा-सा दान देने भर से भी पुण्य हो जाता है। इसमें पुण्य करना इतना आसान

है। सतयुग में घोर तपस्या करनी पड़ती थी। इसलिए वहाँ धर्म के सिद्धान्त बन गये। पर सतयुग में एक त्रुटि आ गयी। त्रुटि यह आयी कि सुख-दुःख की वृत्तियाँ प्रकट होने लगीं। फल के उपलब्ध होने से सुख हो सकता था और न उपलब्ध होने से दुःख। पर सुख-दुःख की वृत्तियों के बाद भी सतयुग चलता रहता है क्योंकि लोगों की तपस्याओं में एकाग्रता बनी थी।

उदयन : सतयुगी दुःख-सुख से निष्प्रभावी बने रहते हैं।

नवज्योति : हाँ। मतलब इन वृत्तियों के बाद भी सतयुग चलता रहता है। इनसे गड़बड़ नहीं होती पर इसमें त्रुटि यह आ गयी मनुष्यों का सुख की ओर झुकाव हो गया और दुःख से दूर भागने की प्रवृत्ति आ गयी। ऐसी प्रवृत्तियाँ आ गयीं कि दुःख से भाग लें और सुख की ओर जाएँ। इस प्रवृत्ति से तपस्याएँ भंग होने लगीं। उससे एक-दूसरे के पूरक रूप जो धर्म थे, उनकी स्थापना होना बन्द हो गया। इस तरह सृष्टि चल नहीं सकती। एक बहुत बड़ा संकट उत्पन्न हो गया। इस पर ब्रह्मा से आग्रह किया गया कि आप ऐसा उपाय बताओ कि सुख की लालसा और दुःख के तिरस्कार से आने वाली कमियाँ खत्म हो सकें। क्योंकि इसके कारण धर्म का सारा तन्त्र गड़बड़ा रहा है। यह नाट्य-शास्त्र का आरम्भ है। ऊपर बतायी गयी कमी को दूर करने नाट्य की सृष्टि हुई। इस समस्या के निवारण के लिए।

उदयन : सुख की लालसा और दुःख के तिरस्कार से उत्पन्न हुए धर्म के संकट से निवारण के रूप में नाट्य की उत्पत्ति हुई।

नवज्योति : इसी कारण बहुत-सी वृत्तियाँ आ गयीं। ऐसा सोचा गया कि उनसे बाहर निकलने के लिए कुछ करना था। इसीलिए नाट्य-शास्त्र में कहा गया कि क्रीड़ा का तन्त्र बनाओ। सभी समाजों में क्रीड़ा का तन्त्र जो कि नाट्य शास्त्र है, आ गया। सतयुग में सुख-दुःख की बात को कहानी कहने के लिए जोड़ दिया गया है। इसके कारण कहानी में गति में आती है। नाट्य-शास्त्र में यह लिखा हुआ नहीं है कि यह त्रेता का दस्तावेज है, यह सब कहानी बनाने के लिए किया गया है। कहानी में अर्थ-प्रकृतियाँ रहती हैं। उनमें कारयित्री शक्ति होती हैं। उसी के कारण कहानी का अगला चरण उठता है। इसीलिए इस बात को सृष्टि प्रक्रिया में डाल दिया गया है। नाट्य की रचना त्रेता में हुई। यह सतयुग में नहीं है। नाट्य-शास्त्र का संकल्प यह है कि चूँकि सृष्टि के होने से दुःख-सुख भी हैं इसलिए ऐसी कृतियों की आवश्यकता है जो हैं नहीं, अनुकृतियाँ हैं। उनमें आप दोबारा से सृष्टि कर सकते हैं। ऐसा करने से वहाँ सारा कुछ सुख या मनोरंजन हो जायेगा। इसलिए अनुकृति शास्त्र का विषय-वस्तु बन गयी। अनुकृति करने मंच की ज़रूरत है। वो अलग पदार्थ है। शास्त्र में पदार्थ होते हैं। विषय-वस्तु के अनुरूप पदार्थ होते हैं। उसमें मंच आ जाता है, संगीत, अभिनय आदि। इन पदार्थों से शास्त्र बनता है, उसकी प्रक्रिया बनती है। यह बात नाट्य-शास्त्र में दो तीन श्लोकों में आयी है। वह इसकी एकवाक्यता है।

उदयन : यहाँ एकवाक्यता यह है कि दुःख और सुख को केवल सुख में अन्तरित करना?

नवज्योति : नहीं सुख में नहीं बदलना। ऐसा रूपान्तरण करना है, ऐसी अनुकृति की रचना करना है कि धर्म के अन्दर पूरकता आ जाए।

उदयन : आप यह कह रहे हैं कि नाटक देखने वाले प्रेक्षकों या सामाजिकों में धर्म की पूरकता स्थापित हो जाती है।

नवज्योति : हाँ। वे नाट्य की किसी भी स्थिति में धर्म और अधर्म के द्वन्द्व को देख पाते हैं। इस तरह देख पाने से उनका परिष्कार होता है। उनके अन्दर धर्म और अधर्म की समझ का परिष्कार हो जाता है। इस परिष्कार से धर्म-अधर्म के बीच सन्तुलन बन जाता है, समाज के सदस्यों के कामों के बीच पूरकता आ जाती है। सुख के प्रति लालसा और दुःख के प्रति तिरस्कार के भाव को हटाने के लिए केवल सुख चाहिए पर वैसा नहीं हो सकता। सुख और दुःख तो होते हैं लेकिन उन्हें बाँध कर रखना होता है। नीलकण्ठ में जैसा ज़हर को बाँध लिया गया वैसा ही। उससे ज़्यादा सुख-दुःख का औचित्य नहीं है। इसके बाद अपने प्रयोजन की सिद्धि के लिए काम करना होता है। सुख-दुःख उस प्रयोजन में बाधा देते हैं। इनसे हटने का तन्त्र बनाओ जिसमें ये न हों। आप अपने को भूल कर प्रेक्षागृह में या ऑडिटोरियम में बैठो। उस समय अपने सुख-दुःख को एक तरफ रख दो और नाटक देखो या फ़िल्म देखो। नाटक की पहली शर्त है : डूबना। यह डूबना चुटकी मार कर हो जाता है। उसके बाद सामने घट रही कथा में क्या धर्म है, क्या अधर्म यह पूरी तरह आपके ऊपर है। आप उसका विश्लेषण करते हैं। निदेशक लोग आपको बेवकूफ़ बनाते हैं। पहले आपको अधर्म की तरफ ले जाते हैं, क्लाईमेक्स के बाद बताते हैं कि धर्म क्या है। ऐसी ड्रामें बाज़ी होती है।

उदयन : इससे धर्म-अधर्म की समझ परिष्कृत होती है।

नवज्योति : इसी प्रयोजन के लिए नाट्य की सृष्टि हुई।

उदयन : अनुकृति में साक्षित्व या साक्षी-भाव तो अन्तर्भूत ही है।

नवज्योति : नाटक देखते समय साक्षित्व पद सबसे ऊपर हो जाना चाहिए। जब आप डूब जायेंगे, आप पूरे के पूरे साक्षी हैं। आपके जीवन का रोना-धोना किनारे रखा हुआ है। आप उस समय विशुद्ध रूप से साक्षी होते हैं। मनुष्य को साक्षित्व पद में लाना जिससे वह देख पाये कि सुख-दुःख से क्या होता है, यही नाटक का प्रयोजन है। नाटक में ऐसा सुख, ऐसा दुःख चलता रहता है और उसके अन्त में आप उनका निष्कर्ष निकालते हैं जिससे धर्म की सृष्टि होती है। मैं अपने छात्रों को 'तारे ज़मीन पर' फ़िल्म की कहानी का उदाहरण देता हूँ। उसमें एक बच्चा है जो कहीं बैठ नहीं पाता। न वह स्कूल में बैठ पाता है न कहीं और। उसने सबको तंग कर रखा है। वह अपने सहपाठियों से भी तंग है, उनके पास से भाग जाता है। वह घर छोड़ कर भी भाग जाता है, इधर-उधर घूमता है। माँ-बाप को भी तंग कर रखा है। मुहल्ले के लोग भी उससे तंग हैं। वह कहीं फिट ही नहीं हो पा रहा। इसलिए सब लोग इस निर्णय पर पहुँच जाते हैं कि ऐसे बच्चे का कुछ नहीं हो सकता। उसे बोर्डिंग स्कूल में

छोड़ दिया जाता है। सारा रोना-धोना उसमें आ जाता है। लेकिन असली रोना अन्त में है जब सब लोग खुश हैं। मतलब बच्चे हल्ला मचा रहे हैं, खुश हो रहे हैं। प्रिंसिपल बड़ा खुश नज़र आ रहा है, टीचर खुश हैं, उसका भाई भी खुशी-खुशी खेल रहा है। सब खुश हैं। उसके माता-पिता कह रहे हैं कि इसको, इस बच्चे को ऐसा क्या हो गया कि यह इतना अच्छा हो गया। वे चमत्कृत हैं। लेकिन उस समय दर्शक रो रहें हैं। वे किस बात पर रो रहे हैं? उनकी फ़िल्म में दिखायी जगह से संवेदना (एक्पैथी) तो है नहीं, फिर भी सारे दर्शक रो रहे हैं। वो इसलिए रो रहे हैं क्योंकि उन्हें यह बोध होता है कि उन्होंने बच्चे पर पहले जो निर्णय लिया था वह ग़लत था। इससे धर्म की स्थापना हुई। यहाँ धर्म का विश्लेषण हुआ। अच्छी फ़िल्म वो है जो दर्शक को अपने आप पर रुलाए। इसमें हुआ यह है कि आपको साक्षी पद पर बिठा दिया और वहाँ ऐसी क्रीड़ा की या ऐसा खेल खेला कि धर्म-अधर्म का एक किस्म का परिष्कार हो गया। यही स्थापित करने नाट्य की सृष्टि हुई। यह त्रेता युग में होता है। आदमी नाटक देखता है, देख लिया, फिर वह घर जाता है। वहाँ पर नाटक नहीं है। फिर वह कहने लगता है, सारी दुनिया नाटक है। कलाओं पर एक आक्षेप हुआ कि उससे नशा होता है। इसकी आदत हो जाती है, कि आप अपने आपको भूल जाते हैं। कि वह पलायन जैसा कुछ है। नाटक आदि देखकर आप समझदार हुए और अपनी सृष्टि में आपके जो भी उद्देश्य वगैरह हैं उनकी पूर्ति में लग गये। इस दौरान जहाँ-जहाँ भी धर्म-अधर्म की बात आयी, उसे सुलझा लिया। जितना हो सका सुलझा लिया, नहीं सुलझा सके, तो नाटक कर लिया उसमें इस अनुसुलझे प्रश्न को सुलझा लिया। इस तरह त्रेता चलता रहता है। नाटक के भीतर के व्यक्तित्त्व मर्यादाओं के स्कन्ध हैं। उसमें तो वे साँस भी नहीं ले सकते। अमिताभ बच्चन साँस ले या संदीप चटर्जी ले पर उनके चरित्र को साँस लेने की जगह नहीं है। दरअसल नाटक के चरित्र मर्यादाओं के स्कन्ध के सिवा कुछ नहीं है। और नाटक की कथा इन मर्यादाओं के बीच टकराव की तरह चलती है। इस टकराव को रंगनिदेशक या कविगण सुलझा देते हैं। इस पर सब लोग वाहवाही करके घर लौट जाते हैं, परिष्कृत होकर। त्रेता की सृष्टि इस तरह चलती रही। लेकिन इसमें एक त्रुटि आ गयी : यह समझ में आ गया कि केवल मर्यादाओं पर चलकर धर्म-अधर्म स्थापित नहीं हो पायेगा। धार्मिक व्यवस्था नहीं आ पायेगी। क्योंकि अनुकृति की वास्तविकता मर्यादा की भी वास्तविकता है। मर्यादा साक्षित्व में होती है। उसकी वास्तविकता दिखती है। मर्यादाएँ परलोक में होती हैं और जीवन क्रियालोक में है। इसलिए लोगों ने मर्यादाओं के अनुरूप जीना चालू किया। ऐसे ही रामचन्द्रजी भी जीने लग सके, मर्यादाओं के अनुरूप। इससे उनकी प्रतिभा, शौर्य और कीर्ति चारों ओर फैल गयी। आज भी बहुत सारे लोगों के नाम में राम ही राम हैं। वे इतना सफल हुए। लेकिन लव-कुश ने राम के अश्वमेध का घोड़ा पकड़ लिया, उनको राम में एक खोट या त्रुटि पता चल गयी। उन्हें ताकत इस त्रुटि को जानने से ही आयी। मर्यादाओं से बना हुआ शिष्ट उत्तम पुरुष और उसमें भी एक त्रुटि आ गयी। इससे त्रेता में संकट उत्पन्न हो गया। त्रेता युग थम गया। एक बार भारत-पाकिस्तान की सरहद से छह किलोमीटर दूर वाल्मिकी आश्रम में गया। वहाँ वह पेड़ है जिससे अश्वमेघ का घोड़ा लव-कुश ने बाँधा था। वहाँ वाल्मिकी लोग जाते हैं। वह उनका तीर्थस्थान है।

वहाँ ज़रूर जाना चाहिए। वहाँ लोगों ने बहुत बड़ी हनुमान की मूर्ति लगा दी है। अकाली लोगों ने कहा है कि वे वहाँ आलीशान मन्दिर बनाएँगे। काशीराम वाल्मिकी थे। मायावती ने अकालियों को कहा तो वे बोले कि वहाँ बड़ा मन्दिर बनाएँगे। अभी तक उन्होंने वहाँ तालाब को पक्का कर दिया है। काम चल रहा है। कुछ वर्षों में काफ़ी कुछ हो जायेगा। वहाँ हनुमान की मूर्ति है। हनुमान की समस्या बड़ी थी। एक ओर राम ने प्रतिज्ञा कर ली कि सीता के बारे में मैं सोचूँ तक नहीं, उन्हें यानी सीता को मेरे चित्त में ही नहीं आना चाहिए।

उदयन : यह तब की बात है जब उन्होंने सीता-परित्याग कर दिया है।

नवज्योति : परित्याग का अर्थ यह है कि सीता मेरे चित्त में भी न आये। नहीं तो मेरा धर्म टूट जायेगा।

उदयन : मर्यादा बिखर जायेगी?

नवज्योति : राजधर्म एक तरफ पति धर्म दूसरी तरफ। उन्होंने पतित्व को त्याग दिया। हनुमान को इसमें बड़ी समस्या महसूस हुई : ऐसे कैसे सीता को भूल जाएँ? इसलिए वे कभी सीता के सामने नहीं आये और न लव-कुश के। लेकिन वे वहीं वाल्मिकी आश्रम के चारों तरफ छुप-छुप के जीते रहे। सारा जीवन उन्होंने वहीं बिताया। वे सीता की देखभाल करते रहे पर उनके सामने नहीं आये ताकि राम का व्रत न टूट जाये।

उदयन : इस दृश्य में रहते हुए लव-कुश क्या त्रुटि नज़र आयी?

नवज्योति : त्रुटि यह हो गयी कि राजा और पति की मर्यादाओं के बीच के द्वन्द्व का कोई समाधान सम्भव ही नहीं हुआ। वह असमाधेय ही रहा। यह ठीक है कि राम समाधान करके बैठे रहे और सीता भी इसी तरह समाधान करके बैठी रहीं पर वे वास्तविक समाधान नहीं हैं। ऐसा वाल्मिकी ने बच्चों को सिखा दिया। इससे उनमें बहुत ताकत आ गयी और उन्होंने अश्वमेघ का घोड़ा रोक लिया। इससे राम चक्रवर्ती नहीं हो पाये। इस खोट से यह स्पष्ट हो गया कि नाट्य का धर्म सम्बन्धी समाधान चलेगा नहीं। कुछ और बनाना पड़ेगा। यह सोचा गया कि नाटक में डूबने से काम नहीं चलेगा, सभाएँ शुरू करना चाहिए। सभाएँ होनी चाहिए। उसमें बड़े-बूढ़े लोग आकर बैठें और धर्म-अधर्म के औचित्य का विश्लेषण करें। यह धर्म है या यह ऐसा नहीं है आदि। किसी विशेष परिस्थिति में क्या हो, क्या न हो। और उस विश्लेषण से जो भी समाधान निकलता है, वह बताएँ।

उदयन : इसका आशय यह है कि नाट्य तो चले ही साथ ही सभाएँ भी बुलायी जाएँ।

नवज्योति : नाट्य तो तब से चलता ही रहा, तब से नाट्य की सृष्टि हो गयी। नाट्य के साथ सभाएँ आ गयीं। इससे द्वापर की शुरुआत हो गयी। द्वापर के आगमन में यही संशय है लव-कुश का। उन्होंने कहा कि यह ऐसे नहीं चलेगा कि धोबी ने कुछ कह दिया और आपने स्वीकार कर लिया। आपको सारे नतीजे सोचने होंगे। जब आप सब सोच चुके, आप एक मिश्रण बनाओ, जिससे धर्म में

साम्यता बनी रही। इसके लिए सभाएँ होनी चाहिए। सभाओं में जितना भी समाधान निकलना है, निकल जाएगा। इससे महाभारत निकला।

उदयन : क्या इसीलिए नैमिषाण्य में सभा हो रही है।

नवज्योति : हाँ, लोग नाटक देखते रहे और सभाओं में जाते रहे। सभाओं में निर्णय होते रहे और धर्म दोबारा से स्थापित हो गया। त्रेता की त्रुटि का एक निवारण आ गया। उस युग में विदुर लोग आ गये और भी सबने अपनी-अपनी बात रखी, सबने मिल-जुलकर समाधान निकाल लिया।

उदयन : चूँकि महाभारत द्वापर का ग्रन्थ है जिसमें सभाएँ ही धर्म की स्थापना का काम कर रही हैं, तो क्या महाभारत को सभा की तरह भी देख सकते हैं?

नवज्योति : महाभारत में तरह-तरह के चरित्र आ गये। बहुत विचित्र लोग आ गये। रामायण में विचित्र चरित्र इसके मुकाबिले कम ही हैं। उसके अन्दर दो-चार तरह के ही चरित्र हैं। एक राम हैं, एक सुग्रीव और एक रावण किस्म के चरित्र हैं।

उदयन : महाभारत में बहुत से संवाद हैं, जो सभा का लक्षण है।

नवज्योति : हाँ, गीता भी संवाद है। पूरा द्वापर सभाएँ करते-करते निकल गया। नाटक या कलाएँ बहुत सीमित स्थान और काल में घटित होती हैं। इनका सारे जीवन में विस्तार नहीं हो सकता। वह मनोरंजन है। आप उसके लिए टी.वी. देख लें। बाकी समय में तो आपको सोना है, लोगों से मिलना है, कुछ काम करना है। आप नाटक को फैलाकर पूरी ज़िन्दगी को ढँक तो नहीं सकते। कला में यह एक किस्म का बन्धन है। कलाएँ कभी कृति नहीं हो सकतीं, वे अनुकृति ही रहती हैं। उनका अपना स्थान है। अपना स्थान मतलब नीलकण्ठ जैसा। अगर ज़हर भी है तो आपने उसे बाँध कर रखा है। वैसे वे चल रही हैं। लेकिन द्वापर में भी एक और जबरदस्त त्रुटि आ गयी।

उदयन : क्या यह कहा जा सकेगा कि त्रेता का इतिहास रामायण है?

नवज्योति : त्रेता का इतिहास दरअसल रामायण है। यह बात लोकसिद्ध है। आप किसी से भी बात करेंगे, वह तुरन्त कहेगा या कहेगी कि रामायण त्रेता के बारे में है। महाभारत द्वापर के बारे में है। इतिहासकारों के पूछिए तो वे कहेंगे, महाभारत ट्राईबल समाज के बारे में है, इसके बाद रामायण आती है। चतुर्युग की कल्पना के सन्दर्भ में रामायण के त्रेता में होने की और महाभारत के द्वापर में होने की प्रामाणिकता है। पुराण भी प्रामाणिक होते हैं। उसके अंश पहले कहे जा चुके होते हैं। द्वापर में देखा गया कि मिलजुलकर सभा में विचार करके भी काम नहीं चल रहा। इसका कारण द्रौपदी का मुस्कराना था। जैसे कहीं तितली फड़फड़ायी और उससे सारी सृष्टि बिगड़ जाए। उसी तरह द्रौपदी हँस भर दे, और उससे सारी चीज़ें उलट-पलट जाएँ। ऐसा होता है। इसी को यादृच्छा कहते हैं। लोगों में तरह-तरह की इच्छाएँ हैं, इससे ही घर्षण हो जाता है, धर्म-अधर्म टूट जाता है। ऐसा नहीं कि द्रौपदी ने सोचा कि मैं महाभारत करूँगी इसलिए वो हँसी थी। उसकी हँसी वैसे ही निकल गयी जैसी बच्चों

की निकल जाती है। उसी से महाभारत हो गयी।

उदयन : लव-कुश के मर्यादा रूप राम की त्रुटि देखने से त्रेता समाप्त हुआ और द्वापर द्रौपदी की हँसी से। इन दोनों ही स्थितियों में धर्म की पूरकता के विखण्डन का संकेत मिल गया था।

नवज्योति : त्रेता के अन्त में लव-कुश को पता लग गया कि मर्यादाओं पर चलकर (मर्यादा-पुरुष के सहारे) धर्म-अधर्म की व्यवस्था बन नहीं सकती। इससे यह निकला कि गुरूओं आदि को पकड़ा जाए, उनके चारों ओर बैठा जाए, कोई बात हो तो उनके पास जाया जाए, और पूछा जाए कि आप बताएँ कि क्या करें। सभाएँ की जाएँ। यह सब मिल-जुलकर किया जायेगा। इससे द्वापर की व्यवस्था चल रही थी। उसमें महाभारत हो जाएगी, यह किसी को पता नहीं था। महाभारत से ही द्वापर का अन्त हुआ। लोगों को मार दिया गया। महाभारत में यह हुआ कि अर्जुन ने पूछा कि मैं अपने गुरूजनों को कैसे मार दूँ। इस पर कहा गया, मार दो। इस इजाज़त में मुश्किल है। यह प्रसिद्ध भी बहुत है आजकल। इसमें से ही समाधान भी निकला जो कलियुग में चला। आपको कोई विराट रूप देखना पड़ेगा, उसके बगैर धर्म-अधर्म की साम्यता नहीं बनने की। विराट रूप यानी बहुत बड़ा रूप जिसमें समग्रता आ जाए। अगर वह रूप देख पाओ तभी धर्म-अधर्म की साम्यता आयेगी।

उदयन : यानी मनुष्य से बड़ा कोई रूप...

नवज्योति : बहुत बड़ा, सृष्टि से बड़ा रूप अगर वह देख पाओ तो उससे साम्यता, धर्म-अधर्म की पूरकता आयेगी। आजकल यह चल रहा है। लोग लगे हैं, उसके बारे में प्रयोग करने में। सतयुग में लोगों ने तपस्याएँ कीं। फिर मर्यादाओं पर लोग चलते रहे, कोई यह सोचकर या वह सोचकर। उसी तरह द्वापर में साथ बैठकर वार्तालाप करने से, सभाएँ करने से साम्यता बनती रही। लड़ाई क्यों करते हो, आपस में बैठकर बात कर लो। त्रेता में राम कभी झूठ नहीं बोलते लेकिन अगर वे भी वैसे बोलने लगे तो साम्यता कैसे उत्पन्न होगी। त्रेता के मर्यादा का निराकरण आज भी चलता है। मतलब आपको अधिकार भाव को देखना है। अधिकारी के अनुरूप रहो। यानी मर्यादा पुरुषोत्तम को देखकर उसके अनुरूप अपना जीवन जिओ। यह त्रेता का उपाय है पर आज भी चलता है। ऐसे समाधान कई बार आते हैं, इसको देखो, उसको देखो आदि। सादृश्यता से जो न्याय के तर्क चलते हैं, वे ऐसे ही हैं। दूसरा यह है कि आप अपना काम करो, दूसरे को अपना काम करने दो, आप उसमें दख़लंदाजी क्यों कर रहे हो। आप उससे दूर रहो। इस तरह मुश्किल हल हो जायेगी। यह सतयुग का समाधान है। जब लोग अपने-अपने काम में लगे रहते हैं, धर्म के मसले का समाधान हो जाता है पर दरअसल वह समाधान होता नहीं, इसलिए त्रेता युग आता है और नाटक का जन्म होता है। लेकिन सतयुग का समाधान आज भी हो रहा है। त्रेता का मर्यादा का समाधान भी चल रहा है। यह आपका धर्म है कि आप अच्छे दोस्त बनें, अच्छे पति बनें, या अच्छी बेटी बनें। यह त्रेता का समाधान है। द्वापर का यह है कि चार लोग बैठ जाओ और बात ख़त्म करो। कलियुग का समाधान ठीक-से पता नहीं है।

उदयन : लेकिन आप यह जो विश्वरूप वाला समाधान कह रहे हैं?...

नवज्योति : कलियुग में यह शुरू हुआ। कलियुग में ऐसे रूप बहुत बने। तरह-तरह के दर्शन बने। कोई मेडिसिन कर रहा है तो उसका विषय सीमित है, इलाज करो। उसी तरह वास्तुशास्त्र है। उसकी विषय भी सीमित है। मगर दर्शन सभी विषयों में चलेगा। वह मेडिसिन में भी चलेगा, वास्तुशास्त्र (या स्थापत्य) में भी चलेगा। दर्शन भी विश्वरूप ही है। बड़े-बड़े दर्शन बनाए गये, बड़े-बड़े प्रयोजनशास्त्र बनाये गये। सारी भाषाएँ देखकर पाणिनी ने ग्रन्थ बना दिया। बड़े-बड़े शास्त्र बन गये कलियुग में। हिप्पोक्रेटस ने एथिक्स के बारे में बता दिया। उसे वह सब नज़र आ गया। ऐसी-ऐसी चीज़ें देख ली गयीं कि जिससे कलियुग चल सके। कहीं कहा जाता है कि आप अपने काम से काम रखो, कोई कहता है कि ज्ञान की तरफ़ जाओ, कोई मर्यादा पुरुषोत्तमों की ओर देखता है। ऐसी बातें आजकल चला करती हैं। ये सारी बातें इन्हीं सब युगों की बातें हैं। ऐसे परिस्थिति में तरह-तरह के विकल्प बनकर आये। इनमें जो मोटे विकल्प थे, वे सभ्यताएँ कहलाये। द्वापर में सभ्यताएँ नहीं होती थीं। त्रेता में भी। सतयुग में भी। लेकिन यह प्रश्न उठेगा कि सतयुग में सभ्यताएँ नहीं थी, इसका क्या प्रमाण है? तो इसका प्रमाण इस बात की गहराई में है। इसके अन्दर ऐतिह्य प्रमाण है। एक रास्ता है यूनानी। उसके अनुसार अगर धर्म-अधर्म की स्थापना करना ही है कलियुग में, तो रास्ता यही है कि पहले आप यह स्वीकार करो कि आप सबके धर्म-अधर्म को लेकर नहीं चल सकते। इतना ज़रूर है कि कुछेक लोगों में धर्म-अधर्म हो सकता है। अगर उनमें समस्या आती है, उन्हें बाहर निकाल दो। जैसे अगर किसी संस्थान में लड़ाई हो जाए तो उनसे कहा जाता है कि आप संस्थान के बाहर जाकर लड़ाई करो। संस्थान के भीतर मत लड़ो। संस्थान को मत बिगाड़ो। मतलब यहाँ कुछ लोगों की व्यवस्था बन सकती हैं, बाकी लोग बाहर रहेंगे। इससे ही शहर की कल्पना उत्पन्न हुई। सिटी स्टेट (नगर राज्य) का अर्थ यही होता है। इसे ही 'पुर' या 'पोलिस' कहा गया है। इन्द्र इसे ही तोड़ता है, तभी वह पुरन्दर है। शहर तोड़ने का उसका काम मशहूर था। यूनानी रास्ते से शहरों की सृष्टि हुई। इसमें यह हुआ कि सब लोगों की व्यवस्था सम्भव नहीं है, केवल कुछ लोग हैं जो शहर में रहकर अपनी-अपनी उत्कृष्टताओं को पाने का प्रयास करते रहेंगे। यह एक किस्म का आभिजात्यवाद है, एलिटिसिज़्म है जो आजकल चलता है। शहर में रहने वालों को सिटिज़न कहते हैं। कोई तुच्छ सिटिज़न है, कोई नाममात्र के हैं, कोई असली सिटिज़न है। केवल वे अपनी उत्कृष्टता की प्राप्ति में लगे रहते हैं। यह एक समाधान है। इसे लेकर दुनियाभर में स्कूल बने। बनते रहे, बिगड़े भी। ईसाई लोग आये और इन्होंने इसे तोड़ दिये। इन्होंने शुरू में बहुत शहर तोड़े। ये लोग सामूहिकता का तर्क लाये : हम लोग तो एक-दूसरे का हाथ पकड़कर जीने वाले लोग हैं, एक-दूसरे को झप्पी मारकर जीने वाले लोग हैं और ये शहर वाले इसको तबाह कर देंगे। कम्यूनिटी बनाना है तो सबको साथ में होना चाहिए। कम्यूनिटी का विचार ईसाई विचार है, 'कम्यून' का विचार। सब साथ में रोएँ-धोएँ। आप के कन्धे पर कोई रोए, आप किसी और के कन्धे पर, इसी तरह सब चलेगा। यही कम्यूनिटी है।

इसके अलावा दूसरी बात यह आयी कि अगर व्यक्ति मर्यादाओं पर चलने वाला हो या पंचायत पर चलता हो, लोगों से विचार-विमर्श कर चलने वाला हो, उससे काम चलने वाला नहीं है, उसे जादुई

होना चाहिए। वह शिष्ट हो। मतलब वह जैसा भी हो, उससे उत्तम कोई और न हो। ऐसा उत्तम पुरुष- फिर भले ही उसकी मर्यादाएँ उत्तम न हों - लेकिन वह व्यवहार से और हर दृष्टि से उत्तम हो, उसका पौंचा पकड़ लिया जाए। वह जिधर खींच रहा है, उधर खिंच जाओ। यह भी एक तरीका है। यह भी कलियुग का एक समाधान है। ये तीन तरीके हैं : पहला यूनानी, दूसरा ईसाई, तीसरा इस्लामी। शहर निर्माण यूनानियों का समाधान है और पौंचा पकड़ना इस्लाम का समाधान है। आज लड़ाई हो रही है बिन लादेन और यूरोप, अमरीका आदि की। यह शहर की पौंचा पकड़ने वालों से लड़ाई है। देखा जाए तो यूरोप तो ईसाई है, उन्होंने यूनान को स्वीकार कर रखा है, यह भी एक तनाव उनके बीच में है। वहाँ इस बात का बहुत रोना-धोना होता रहता है। वे कहते रहते हैं कि यहाँ तो शहर बन गये, पागलों जैसा काम हो रहा है, कम्यूनिटी कहाँ चली गयीं। यूरोप में यह लड़ाई चल रही है जिसमें एक ओर यूनानवाद है दूसरी ओर पैगम्बरवाद। अल्लामा इक़बाल कह रहे हैं कि ईसाईयों के पैगम्बरवाद में यह त्रुटि है कि उन्हें कर्मों पर विश्वास नहीं है। हम लोग (इस्लाम में) कर्मों पर विश्वास रखते हैं। लेकिन यहाँ इक़बाल उन कर्मों की बात नहीं कर रहे जो पूर्वजन्म के हों, उनका आशय इसी जन्म के कर्मों से है। अच्छा किया, बुरा किया, शैतान इधर है, खुदा उधर है। कभी आप इधर गिरते हैं कभी उधर। इक़बाल ने अपने शोध प्रबन्ध में यह लिखा है कि आधुनिकता दरअसल मुसलमानों की बनायी हुई है जिसका ईसाईयों ने अपहरण कर लिया है। यह उनके यूनानियों के अध्ययन के कारण हुआ। इस्लाम ने भी यूनान का अध्ययन किया था। लेकिन उन्होंने यह अलग ढँग से किया था। जिम्मेदारी हरेक की है, यह नहीं कि वह केवल नागरिकों की ही है। यह अभिजात्यवाद है। इस्लाम यूनान को इस तरह पढ़ते हैं। इक़बाल का यह आरोप था कि आधुनिकता का लक्षण तो अतीत से विच्छेद है। वह उसी दिन हो गया था जब पैगम्बर मोहम्मद आये थे। उनके बाद के समय के गुण ही अलग थे। उनके पहले की बात अलग थी, उनके आने के बाद अलग।

कलियुग का तीसरा समाधान यह रहा : स्मृतियों के सहारे चलो, भूलो कुछ मत। उन्हें सम्भाल कर रखो। स्मृतियों के सहारे जियो। आप स्मृतियाँ पकड़ लो, उसमें हरेक में स्वतन्त्रता बनी रहेगी। कहा जा रहा है कि ईरान में स्वतन्त्रता नहीं है। जो सहकर बाहर आ रहा है, वह परतन्त्र है। और पैगम्बरवादी कह रहे हैं कि हम स्वतन्त्र है। और ये कह रहे हैं कि वे स्वतन्त्र नहीं हो सकते क्योंकि उनके पास स्मृतियाँ नहीं है। अपना विश्लेषण करने की उनके पास ताकत ही नहीं है। वे तो अपने मुँह को बन्द करके बैठे हैं और उन्होंने पौंचा पकड़ा हुआ है। अगर कलियुग में आपको जीना है तो स्मृतियाँ पकड़ लो। यहाँ पर कई लोगों को त्रुटि दिखायी दी। आपने अपनी स्मृति की ओट में दूसरों की स्मृतियाँ दबा रखी है। भारत की इस्लाम और पश्चिम की यही आलोचना है। वे कहते हैं कि दलितों की स्मृतियाँ कहाँ हैं, औरतों की स्मृतियाँ कहाँ हैं। वह आपने दबा रखी है। और अल्पसंख्यकों की स्मृतियों का तो मानो यहाँ कोई काम ही नहीं है। उन्हें तो बाहर ही रखा जाता है। इस्लाम की मान्यता है कि पैगम्बर के 'रेवेलेशन' के पहले और बाद के समय एक बहुत बड़ा विच्छेद है। 'रेवेलेशन' के पहले का अलग ही समय था, उसके बाद का समय अलग समय है। अतीत से कटाव इन्होंने चालू

कर दिया। आधुनिकता ने इसे इस्लाम से ग्रहण कर लिया, कम्यूनिटी को एक तरफ लिया, यूनान एक तरफ। इन सबका ताकतवर मिश्रण बना, यूरोप में और वहाँ से सारी दुनिया में गया और दुनिया भर में शहर बने।

उदयन : आप इसमें जो भारतीय समाधान बता रहे हैं, स्मृतियाँ का, वह किस का समाधान है?

नवज्योति : वह यही है कि गहराई में ही अतीत है।

उदयन : और उसी में रास्ता है...

नवज्योति : यह बहुत ज़रूरी है। इसमें लोग कहते है कि इतना ज्ञान है, इतने दर्शन है। ज़िन्दगी तो इसके मुकाबिले बहुत छोटी है। इसमें अब क्या कर सकते हैं ? इतना पढ़ नहीं सकते। इसके लिए हम लोगों ने एक कहानी बनायी थी : एक लड़के को यह विचार आया कि क्या कक्षाओं में जाना, यह सब करना, क्या बक़वास है ! अगर आपको सीधा ज्ञान चाहिए, आप एन्साईक्लोपीडिया पढ़ो। 'ए' की एण्ट्री से लेकर शुरू हो जाओ। पढ़ते रहो। लोगों ने एकाध दो साल बाद पूछा कि कहाँ तक पहुँच गये तुम? तो उसने कहा यह ज्ञान का एन्साईक्लोपीडिया है ऐसी वैसी चीज़ नहीं है, अभी तो मैं 'ए' में ही हूँ। 'ए' में एब्सर्ड भी है। इसको लेकर लोग यह कहें कि इन सब चीज़ों की क्या ज़रूरत है। जीवन ही छोटा है, सत्तर साल या अस्सी साल। इसमें आप सब कुछ पढ़ नहीं सकते। तो फिर इसकी कोशिश ही क्यों करना? यह बेकार है। लेकिन इस समाधान में एक बात है कि अतीत गहराई में बहुत कम समय में भी हासिल किया जा सकता है। उसके लिए समय का विस्तार ज़रूर नहीं है। इसलिए सच के लिए अस्सी साल भी बहुत हैं। साठ साल भी बहुत हैं। गहराई और लम्बाई में एक किस्म की साम्यता है। कभी गहराई, कभी विस्तार। जब अवकाशीय विस्तार कालिक विस्तार जैसा हो जाए तब वह सत्य हो जाता है। इसे सांख्यिकी में अरगोडिक थियोरम' कहते हैं। उसमें ऐसा है कि आप एक सिक्का लो, उसे सौ बार उछालो और सौ सिक्के लो और उन्हें सौ बार उछालो, दोनों के परिणाम एक जैसे होंगे। उसी गहराई के कारण हम लोग ज्ञान का प्रयोजन दुनिया भर में कह पाते हैं। वरना ज्ञान का क्या प्रयोजन है? सनातन परम्परा में अरगोडिसिटी की बात बनी हुई है। इस्लाम में अरगोडिसिटी नहीं है।

उदयन : वहाँ स्मृति का प्रयोजन नहीं है।

नवज्योति : वहाँ ऐसा भाव है कि हमारे पास सच है। हमें सच मिल गया है। सच एक तरह की घटना है जो घट गयी है। वह मोहम्मद साहिब को उद्घाटित हो गया। उसे इस तरह से देखना या पढ़ना है कि वह अपने आप पूरा रहे।

उदयन : लेकिन वह तो पूरा है ही।

नवज्योति : उसे पूरा बनाते रहना पड़ता है। चुनाव करना पड़ता है। कुरान को बनाया गया, उसे बना कर रखा गया। वह बहुत मेहनत का काम है, अभी भी चल रहा है। आपको उसकी

एकवाक्यता बनाकर रखनी होगी। ऐसे बहुत से अध्येता हैं जिनको इस कोने से उस कोने तक कुरान पता है। कोई भी बात होती है, वे कुरान के उसे इस कोने से उस कोने तक जोड़ लेते हैं। इतने बाईबिल जानने वाले लोग नहीं है जितने और जिस तरह से कुरान को जानने वाले हैं।

उदयन : आप कह रहे हैं कि आज ये तीन समाधान हैं : यूनानी, पैगम्बरी और स्मृतिमूलक।

नवज्योति : अब चीन को समझना है। मुझे लग रहा है कि मुझे चीन जाना चाहिए।

उदयन : इन तीनों समाधानों के सन्दर्भ में कलाओं की क्या स्थिति है?

नवज्योति : इनमें स्तर हैं : एक सतयुग के स्तर पर, ऐसे ही त्रेता के, ऐसे ही द्वापर के स्तर पर और कलियुग के स्तर पर। चिर कालिक कला के लिए तो चारों स्तरों को जोड़कर देखना होगा। वरना कलियुग में आजकल कला वह है जिसे कला-आलोचक कला मानते हैं।

उदयन : लेकिन क्या हम उसकी भूमिका इन चारों स्तरों के सन्दर्भ में देख सकते हैं?

नवज्योति : इन सभी में कला का अपना स्वभाव दिखेगा। आजकल जो चल रहा है, यह दिखेगा नहीं। उसमें कला का वास्तविक स्वरूप दिखेगा। कला का अर्थ अनुकृति से है, और उसी से रहेगा। कला का प्रयोजन धर्मों में साम्यता लाना है। उसके लिए जो प्रयास हैं, उनको कला कहते हैं। वह प्रयास सतयुग में भी था।

उदयन : पर वह कला के बगैर ही हो जाता है।

नवज्योति : ऐसा नहीं कि धर्मों में साम्यता का प्रयास कला के बगैर न हो सके। वह हो जाता है पर पूरी तरह से नहीं हो पाता।

उदयन : यानी जो तरह-तरह के लोगों ने जो तरह-तरह के विचार आदि धारण किये हुए, उनके बीच पूरकता बनी रहे।

नवज्योति : उनके बीच तारतम्य बना रहे, पूरकता बनी रहे, एक-दूसरे से घर्षण न हो, वह सब करने की भूमिका कला की होती है। अनुकृति ऐसी हो जिसमें सामाजिकों का पूरा जीवन आ जाए, सिर्फ़ नाट्य-क्षण ही न हों उसमें। इसमें एक-दूसरे से मिलजुल पंचायत बनाना बहुत ज़रूरी है। पंचायतों की सृष्टि हुई महाभारत में। वैसे तो द्रौपदी के पाँच पति थे। हालाँकि ऐसा देखना कुछ ज़्यादा ही दूर की कौड़ी हो जायेगा। लेकिन इतना अवश्य है कि उस समय एक-दूसरे से बात करके समाधान खोजने का दबाव ज़्यादा बढ़ गया। मिल जुल कर बात करके साम्यता को बनाए रखना। इसी परामर्श के चलते गान्धारी ने अपनी आँखों पर पट्टी चढ़ा ली और कहा कि मैं अपने बच्चों को देखूँगी भी नहीं। ऐसे हठों से गड़बड़ी हो जाती है। बड़े-बड़े लोग ग़लतियाँ कर रहे थे। कृष्ण ने भी कीं और उनको भी उनकी सज़ा मिली। कृष्ण को मर्यादापुरुष नहीं माना गया। वे विराट रूप से आये।

उदयन : इन तीनों ही परम्पराओं (इस्लाम, ईसाइयत और सनातन) के पीछे किसी विराट रूप

की धारणा है। एक जगह अल्लाह है, दूसरी जगह ब्रह्म...

नवज्योति : यूरोप में लोकतन्त्र है। उनका समाधान लोकतन्त्र है। सनातन परम्परा में लोकतन्त्र की खोज से शायद कुछ निकल आये। पर पता नहीं।

x x x x

उदयन : चित्रकला के आरम्भ या उत्पत्ति की कल्पना यूरोप, भारत या अन्य सभ्यताओं में अलग-अलग है, इसलिए कला की हैसियत भी अलग-अलग समाजों में अलग-अलग है। कम-से-कम भारत और यूरोप की कलाओं की उत्पत्ति की क्या गाथा हैं?

नवज्योति : यूरोप में चित्रकला रेनेसाँ से शुरू हुई है, ऐसा समझ लें। रेनेसाँ की चित्रकला का वहाँ बड़ा मान है। वे बिल्कुल 'फोटो फ़िनिश' जैसी हैं। प्रकाश का भी स्थान ऑक्टिकल यथार्थवाद वहाँ बहुत होगा। तभी हल्के, गहरे और चमकीले सभी तरह के रंग भी आये। इनके साथ ही 'पर्सपेक्टिव' (परिप्रेक्ष्य) मूल रूप से आया। तब तक 'पर्सपेक्टिव' किसी भी चित्रकला पद्धति में नहीं था। न भारत, न जापान में न चीन आदि में। इससे बाहर निकलने में यूरोप को दो ढाई सौ साल लग गये। वे उन्नीसवीं शती में ही पर्सपेक्टिव से बाहर निकल सके। इसका कारण यह था कि जो चित्र का अनुभव आँख से आकर मन में होता है, उसमें पर्सपेक्टिव नहीं होता। भले कोई आदमी पास हो या दूर, वे एक ही आकार के होते हैं। आपकी दृष्टि में वे बराबर आकार के होते हैं। पर्सपेक्टिव दिखता नहीं है, वह दृष्टि में ही नहीं है। लेकिन रेनेसाँ के चित्रकारों ने पर्सपेक्टिव में चित्रकला की। पर्सपेक्टिव में एक केन्द्रीय बिन्दु होता है। जैसे राजनीति में सिंहासन होता है। उनमें देखने का बिन्दु विशेषाधिकार सम्पन्न होता है। लेकिन हम लोग जो सामान्यतः देखते हैं, उसमें पर्सपेक्टिव नहीं होता। उसमें कोई विशेषाधिकार सम्पन्न बिन्दु नहीं होता, वह आपको खोजना पड़ता है। दुनियाभर की चित्रकला पद्धतियों में चित्र को किस दृष्टि से देख जाए, इसमें बहुलता है। ये तरह-तरह की हैं। उनमें पर्सपेक्टिव है ही नहीं। चीनी चित्रों में उल्टा है। चित्र के अन्दर फोकल बिन्दु है। आप देखेंगे कि चिड़िया है, पत्थर है, लेकिन कहीं बहुत गहराई में बादल है और वहाँ अन्दर छोटे-छोटे से गाँव हैं। यहाँ भारत के मिनिएचर में टेढ़ा-मेढ़ा है, छत सीधी कर दी, सब कुछ सीधा कर दिया और दिखा दिया कि इधर से कैसे दिखता है, उधर से कैसा दिखता है। दुनियाभर की चित्रकला की पद्धतियों में पर्सपेक्टिव का विचार नहीं था। पर्सपेक्टिव में एक किस्म का विशेषाधिकार है और उसके कारण आभिजात्यवाद उसमें अन्तर्भूत है। जब यूरोप इससे बाहर आया, उसकी चित्रकला दुनिया की चित्रकला के थोड़ी क़रीब आ गयी। पर्सपेक्टिव तो ऑप्टिक्स (प्रकाश विज्ञान जिसमें लैंस आदि का अध्ययन होता है) से हुआ। ऐसा नहीं है कि ऑप्टिक्स केवल यूरोप में हुआ हो। यह विज्ञान अरब और फ़ारस में भी बहुत थी। लेकिन उनमें पर्सपेक्टिव वाला हिस्सा नहीं है। उसमें वे जैसे गुम्बद बनाते थे, अगर उसमें शुरू में चौबीस कोण हैं तो ऊपर जाकर चार ही कोण बच जाते थे, या शुरू में चार कोण है, फिर चौबीस हो गये। वे इस तरह करते थे। फोटो रियलिज़्म से यूरोप को एक बड़ा विशेषाधिकार मिला था। उन्हें लगा मानो तैल

रंग वहीं आविष्कृत हुए हैं। इसी तरह की प्रवृत्तियाँ यूरोप आ गयीं और विशेषाधिकार की तरह कला का विचार वहाँ आ गया। इटली के फ्लोरेंस के मदीची परिवार से कला में पर्सपेक्टिव की शुरुआत हुई। उन्होंने कलाकारों को आश्रय दिया, जैसे माईकिल एंजिलो को पहचान दी। बड़े-बड़े गिरजाओं को भीतर से चित्रित किया गया। इसी परिप्रेक्ष्य में यह प्रश्न उठा कि चित्रकला क्या होती है, तब इसे समझने के लिए अतीत के कई विचारों को खोजा गया। उसमें ही वहाँ कोरिन्थ की कहानी निकल आयी जिसमें कहा गया कि चित्रकला की उत्पत्ति छाया में देखी गयी है।

उदयन : यह कोरिन्थ की कहानी है?

नवज्योति : यह कहानी है, कोरिन्थ की युवती की। कोरिन्थ एक जगह है जहाँ एक युवती थी। उसकी कहानी 'प्लिनी' ने लिखी है। वह खगोलशास्त्री था और इतिहासकार किस्म का भी था। वह इतिवृत्त (क्रोनिकल्स) लिखा करता था। उसके इतिवृत्तों में यह कहानी आ जाती है। यह कहानी निकाली गयी रेनेसाँ काल में। उसमें ऐसा है कि एक तरफ प्रकाश रखा गया, मान लो मोमबत्ती रखी गयी, उसके बाद आदमी बैठा और इस कारण जब उसकी छाया दीवार पर पड़ी तो इस छाया को दीवार पर ही अंकित (ट्रेस) कर लिया गया। इस कहानी के रास्ते चित्रकला को समझें तो कहेंगे कि चित्रकला वह होती है जो छायाओं को पकड़ती है। यूरोप में चित्रकला की इस तरह की समझ बनी।

उदयन : कोरिन्थ की युवती का अपने आदमी की छाया को अंकित (ट्रेस) करने का किस्सा क्या है?

नवज्योति : उस युवती का प्रेमी अगले दिन सुबह युद्ध पर जाने वाला था। युवती को लग रहा था कि ये चला जायेगा और अगर यह वापस नहीं आया तो? इसलिए वह उस क्षण को (जब वे साथ थे) ठहरा लेना चाहती थी, चित्र में इसके लिए उसने उसकी छाया को ट्रेस कर लिया (दीवार पर)। इस विषय पर रेनेसाँ में क़रीब पचास चित्र बने होंगे। इसी तरह का एक चित्र स्टालिन का भी बना है जिसमें स्तालिन की 'म्यूज़' (देवी) उसकी छाया अंकित रही है। इस तरह वह स्तालिन को अमर कर रही है। बाद में उन्होंने चित्रकला उत्पत्ति की और भी कहानियाँ ढूँढ ली। जब यूरोप में पर्सपेक्टिव टूट गया और उसके बाद तरह-तरह के प्रयोग होने लगे : प्वाईंटलिज़्म, इम्प्रेशनिज़्म, एक्सप्रेशनिज़्म आदि। ये प्रयोग यह प्रश्न भी उठा रहे थे कि चित्रकला क्या है? क्या वह छाया को पकड़ना है, इस तरह या उस तरह? इसी में 'दादाइस्ट', 'क्यूबिस्ट' आदि सब भी आ गये। इसी में अतियथार्थवाद-साल्वाडोर डाली- वगैरह भी आये। इसके बाद यूरोप में कुछ बड़ा हुआ नहीं। जादुई यथार्थवाद अवश्य आया पर वह भी चित्रकला में उतना नहीं है जितना साहित्य या फ़िल्मों में आया था। इस किस्म की खोज यूरोप में प्रयोगधर्मी चित्रकलाओं में होती रहीं।

बाकी जगहों की तरह हमारे यहाँ भी चित्रकला औद्योगिक कला थी। औद्योगिक कला में काम का बँटवारा होता है। लाइन कोई बनाता है, रंग कोई और भर रहा है। यह काम इस तरह से चलता था। परिकल्पना किसी और की है। इसी तरह आज की आधुनिक कला में परिकल्पना एक करता है,

रेखांकन कोई और करता है, रंग कोई और भरता है, या आकार कोई बनाता है। चित्रकला यूरोप के अलावा ज़्यादातर जगहों में इस किस्म की थी। इसमें कुछ परिवार या समूह शामिल थे, यह दुनियाभर में होता था। आज यूरोप में प्रयोगधर्मी कला करना या कलाकार होना ही विशेषाधिकार हो गया। ऐसे ही चित्रकला की पद्धतियाँ दुनिया भर में फैल गयी हैं। लोग इसकी नकल करते रहते हैं। यह अभी भी चल रहा है। उन्हीं पद्धतियों के भीतर ही बाकी दुनिया के कलाकार अपना तरीका खोजते हैं। इसमें चित्रकारों को लगता है कि हठधर्मिता से कोई नयी चीज़ निकल आयेगी। हठधर्मिता क्या होती है? यह सोचना कि मैं तो ऐसे ही चित्र बनाऊँगा। उसी में प्रयोग करते हैं, पचासेक चित्र बना कर देखते हैं, फिर तय करते हैं कि थोड़ा बदल कर अब मैं ऐसा करूँगा। फिर वैसा करके देखते हैं। यूरोप में जो प्रयोग हुए, उनमें विचार था। मैंने एक बार हीगल को उद्धृत किया था : जीवन्त रूपाकार की तरह कला मर चुकी है। अगर कला को जीवित रहना है, उसे विचार के रूप में ही जीना पड़ेगा। इसे अपना नया आधार खोजना पड़ेगा।

उदयन : वह रोज़मर्रा के जीवन से बाहर निकल गयी।

नवज्योति : वह काम अब औद्योगिक कला करती है। आधुनिक समय में प्रयोग में नवीनता सब जगह पायी जाने लगी है, उसके भीतर की हठधर्मिता उनकी अपनी संस्कृति से आ जाती है। हमारे चित्रकार कहेंगे कि हमारे यहाँ मिनिएचर चित्र हुए हैं, सो हम उसी शैली में काम करके देखेंगे। या हम बिन्दुओं पर ही काम करेंगे। इसी तरह किसी ने किसी को पकड़ लिया, किसी और ने कुछ और को। आजकल चित्रकला इस तरह हो गयी है। बाकी औद्योगिक कला 'पब्लिक कला' बन गयी है। उसमें पुराने किस्म की औद्योगिक कला का हिसाब कम है। उसमें आधुनिक प्रयोगधर्मिता आ गयी है।

केवल कुछ ऐसे कलाकार हैं जिन्होंने कला-कर्म का औद्योगिकिकरण किया है। इसमें कई बड़े नाम है जैसे अनीश कपूर। वो बैठकर इधर-उधर स्केच करता है बाकी लोग उससे कलाकृति बनाते हैं।

उदयन : आप औद्योगिक कला में क्या मूल्य देखते हैं?

नवज्योति : ये तो कमर्शियल कला है।

उदयन : उसकी बात मैं नहीं कर रहा। आपने कहा कि मिनिएचर कला भी औद्योगिक रही है। उसमें सहकार के कारण क्या मूल्य आते हैं?

नवज्योति : उसमें चित्र का जो प्रारूप है, उसका जो लावण्य है, उसके भीतर जो तरह-तरह के षड़ंग हैं, वे सब विचारों के आधीन होते हैं। उनको नज़र में रखते हुए वे की जाती हैं। उसके बाद उनमें एपरेण्टिसशीप का भी विचार है। इससे बच्चे सीखते भी जाते हैं, वे उसी तरह सीखते जाते हैं जैसे संगीत में रियाज़ किया जाता है। संगीत में शार्गिद परम्परा का बहुत महत्व है। औद्योगिक कला में प्रशिक्षण चाहिए होता है। उसका दायरा बँधा होता है। अगर किसी उस्ताद ने लाइन बना दी, शिष्य उससे लाइन लगाना सीख जायेगा। उसके बाद उसका स्तर उठेगा। इस पद्धति में सबसे अधिक महत्व

प्रशिक्षण का होता है। ऐसी पद्धति भारत में थी और इसके साथ ही अच्छे-अच्छे चित्रकार भी हुए जैसे नैनसुख, मानकू आदि। उस दिशा में कुछ कला हो रही है पर कला के सिद्धान्तों को लेकर बहुत भ्रम की स्थिति है। प्रयोगधर्मी कला के अनुसार चित्रकला है क्या? इसमें अगर स्पष्टता हो तो बात बने। लेकिन यहाँ स्पष्टता है नहीं। अभी तो पश्चिम में लोगों की समझ यही जान पड़ती है : अच्छी कला वही जो आलोचकों को पसन्द आती है। आलोचक कहेगा तभी गैलेरी स्वीकार करेगी। पहले भी वाहवाही की कीमत थी। राजे-रजवाड़ों के अगर आपको ज़्यादा बुलावे आते थे, तो आप बड़े कलाकार माने जाते थे।

x x x x

(यहाँ आकर यह बातचीत अचानक 'अक्षर' की अवधारणा पर होने लगी। इस प्रत्यय पर नवज्योति से समास-६ में हुई बातचीत से प्रकाश डल सकता है। यह है पुराना प्रत्यय पर नवज्योति ने इसकी नयी व्याख्या की है।)

नवज्योति : अक्षर का हो पाना ही समाधि है। अकेले अक्षर का। नग्नतम, न्यूनतम, मूल जगत...

उदयन : वहाँ अपने चित्त को अवस्थित करना ही समाधि है?

नवज्योति : इसमें बड़ा रहस्यवाद है। बौद्धों में तो बहुत है, शून्य (अक्षर) को लेकर। बौद्धों में इसको लेकर चर्चाएँ होती हैं। निर्वाण को शून्य माना गया है। प्रासंगिक बौद्ध इस तरह से मानते हैं क्योंकि प्रसंग में ही शून्य होता है। अलग-अलग लोगों ने अलग-अलग कहा है।

उदयन : लेकिन क्या वे सभी शून्य विशिष्ट हैं?

नवज्योति : अत्यन्त विशिष्ट। जिसे विशेष कहा जाता है : कोई भी नहीं, बस वही, वह केवल शून्य है। हर विशेष दूसरे विशेष से अलग होता है। इसीलिए दुनिया में यह फैलाव है। दुनिया में फैलाव ही न हो अगर अक्षर न हो। यह प्रपंच अक्षर से ही है। 'अक्षर' को लेटिन में 'प्वाइंट' कहते हैं। 'प्वाइंट' से ही प्रपंच। प्रपंच यानी पंच। उसकी धातु है 'पुंग'। प्रपंच, सरपंच, पंचायत। इस फैलाव को प्रपंच कहते हैं। अक्षर में सीमाएँ नहीं हैं, ये 'प्वाइंट' हैं, छोटे-मोटे जैसे भी है। प्वाइंट मतलब जो अत्यन्त विशेष हो। मतलब हर चीज़ से भिन्न।

उदयन : सिर्फ़ अपनी तरह !

नवज्योति : जिसे 'पर्टिकुलर' कहते हैं, वह सिर्फ़ प्वाइंट होता है। इस प्वाइंट की वजह से चीज़ों में अलग-अलग फैलाव आया है। जब आप अंग्रेज़ी में कहते हैं, 'मेक यूअर प्वाइंट'। या 'स्टिक टू यूअर प्वाइंट' या 'व्हॉट एस द प्वाइंट इन ऑल दिस' तब यह पूछा जा रहा होता है कि आपका शून्य कौन-सा है? आपका 'अक्षर' क्या है? यह अक्षर समझ से बाहर हो गया। यूक्लिड का शून्य आ गया, बिना लम्बाई, चौड़ाई और ऊँचाई का। उसे यूक्लिड ने प्वाइंट कह दिया। इससे बड़ा अन्याय नहीं हुआ। 'यूक्लिडियन प्वाइंट' आधुनिकता का सबसे बड़ा अन्याय है। इससे जो लॉजिकल (तार्किक) प्वाइंट था,

जो ज्ञान का अंग था (स्टिक टू यूअर प्वाइंट वाला प्वाइंट) उसे भाषा में दफ़ना दिया गया।

उदयन : यह यूक्लिड के विचार से हुआ !

नवज्योति : उसका प्वाइंट लम्बाईहीन, चौड़ाईहीन और ऊँचाईहीन है। जहाँ दो रेखाएँ एक-दूसरे को काट रही हों, वहाँ वह होता है। इस 'प्वाइंट' का क्या मतलब है? यह तो प्वाइंट है ही नहीं। लाइबनीज़ ने कहा कि अगर आप एक रेखा बनाते हो तो उसके बीच में अनन्त सम्भव प्वाइंट हैं और उसकी किनार पर जो प्वाइंट है, वह सम्भव नहीं वास्तविक 'प्वाइंट' है। अगर आपने कम्पास से उस रेखा को बीच से काट दिया, (वह बनाना सम्भव था लेकिन जब आपने उसकी दो रेखाएँ बना दी) तब वहाँ किनार पर वास्तविक प्वाइंट बन गया। आपने एक लकड़ी का टुकड़ा लिया और सोचा कि उसे आधे आयतन का बनाना है। इसलिए आप उस लकड़ी को लाखो-करोड़ों तरीके से काट सकते हैं। लेकिन जिस तरह से आपने उसे काटा, वह वास्तविक है। लाइबनीज़ ने अरस्तू को ख़ारिज करते हुए उसमें भेद किया : सम्भावित प्वाइंट और वास्तविक प्वाइंट। जैसे इंटीग्रल होता है। मान लो उसमें आप 'x' और 'dx' को जोड़ रहे हैं, 'ए' से 'बी' तक। 'ए' और 'बी' वास्तविक प्वाइंट है, वे सीमाएँ हैं। जबकि dx वैसे ही है, हवाबाज़ी वाला प्वाइंट। लाइबनीज़ ने वास्तविक प्वाइंट को 'रेस कोजीटॉन' संज्ञान की वास्तविकता कहा। यह रेस मेंटेलिस है, इसे मानस ने दिया है।

उदयन : यह 'संज्ञान की वास्तविकता' है !

नवज्योति : यह 'वास्तविक प्वाइंट की वास्तविकता का संज्ञान' है। आपने लकड़ी के टुकड़े को ऐसे काटा है, पर आप किसी और तरह से भी उसे काट सकते थे। आपने शिल्प में किसी जगह एक तरह से किया, दूसरी तरह से नहीं किया तो वह वास्तविक रूप से एक तरह का हो गया। वास्तविक प्वाइंट क्रियाओं से उत्पन्न होता है। प्रयास (एफर्ट) ही प्वाइंट को स्थापित करने की प्रकृति है, जीवन में वास्तविक प्वाइंट को स्थापित करने की प्रकृति। हर कला में वास्तविक प्वाइंट (बिन्दू) बनाये जाते हैं। उन वास्तविक बिन्दुओं से ही अनुभूत सामग्री बनती है। अनुभूत सामग्री जो चित्रकार उस शरीर में (चित्रित आकार में) डालता है, वह उन वास्तविक बिन्दुओं से ही बनती है। रेखा ऐसी बनायी फिर वैसी बनायी, पहले ऐसा रंग फेंका फिर वैसा रंग फेंका। इन सबसे वास्तविक प्वाइंट अस्तित्त्व में आता है।

उदयन : मान लीजिए मैं नाटक कर रहा हूँ और यह बता रहा हूँ कि थककर आ के बैठ गया। तब यह कुर्सी जिस पर मैं बैठा हूँ, अनुभाव है। इस अनुभाव की रचना...

नवज्योति : अभिनय में संचारी भाव, विभाव आदि है, उन्हें भरना पड़ता है। जो भरता है, वह विभाव होता है। यशोदा पहले बच्चा देखती है, उसी के बाद चाँद लाती है, वहाँ बच्चा हो या न हो, वह विभाव होता है। इन भावों के साथ अनेक संचारी भाव होते हैं। वो ऐसा करती है वैसा करती है। वहाँ वह प्वाइंट डालती है। वह इसको पकड़ती, उसको पकड़ती है, इसमें अनुभाव भी रहते हैं,

बहुत सारे। इन सबसे वह स्थायी भाव की रचना करती है। भावों का एक प्रारूपण बनाया जाता है।

उदयन : वो जैसे-जैसे कर रही है, नये-नये प्वाइंट डालती जा रही है?

नवज्योति : लाइबनीज ने कहा है कि प्वाइंट 'जीनस फेस्ड' है : उसके दो चेहरे है, बायाँ और दाँया। प्वाइंट लम्बाईहीन, ऊँचाईविहीन आदि नहीं है। वह 'स्ट्रक्चरल' है।

लाइबनीज ग़ैर-यूरोपीय दृष्टि के अपेक्षाकृत निकट है। उसका कहना था कि वास्तविक यथार्थ 'मोनाड' है। मोनाड मतलब ईकाई, मतलब 'एकत्व'। अनन्त अनेक हैं। 'मोनाड' में कोई खिड़की नहीं है। उसमें न कोई चीज़ आती है, न उससे कोई चीज़ जाती है। उसमें सिर्फ़ बिम्बन होता है। उसमें बाकी सब सृष्टि का बिम्बन हो जाता है। उसके बाहर कुछ नहीं, वह अन्दर बिम्बों से भरा रहता है। इसका दृष्टान्त है आपकी आत्मा। हरेक व्यक्ति मोनाड है, उसका दिमाग मोनाड है, उसमें कोई रिसाव नहीं है। इसमें कोई घुस नहीं सकता, आ नहीं सकता है। ऐसे ही अनन्त मोनाड हैं। इनमें आपस में कोई सम्बन्ध नहीं है। सिर्फ़ इतना है कि एक मोनाड के अन्दर बाकी मोनाड बिम्बित है। यह एक इन्द्रजाल की छवि है। यह एक भूलभुलैया का रूप है। हर मोनाड में अनन्त के प्रारूपण बनते हैं।

उदयन : हरेक मोनाड की अनन्तता अलग-अलग होगी।

नवज्योति : दिमाग का अध्ययन अनन्तता का अध्ययन है। कैलकुलस उसी से बनी है। न्यूटन और इसकी लड़ाई है कि वह किसने बनायी है। लाइबनीज के नोटेशन्स आज सबसे भ्रमित है। न्यूटन के नोटेशन्स भ्रमित है। इसने सीमा की परिस्थितियाँ (बाउण्ड्री कनडिशन्स) बाहर निकाल दीं। इन्टीग्रन को जोड़ने के बाद निकाला। एक जगह से दूसरी तक मेरी मर्ज़ी है, मैं कैसे जोड़ूँ, यहाँ से जोड़ूँ या वहाँ से जोड़ूँ, आपको मतलब क्या? ये चीज़ें लाइबनीज के बाद भी चलीं। एक था हुर्सल का गुरू ब्रेनटेनो। उसका कहना था कि हरेक मानसिक स्थिति में एक तिर्यक कथ्य होता है और सीधा कथ्य होता है, हरेक संज्ञान में। इनके बीच एक आकार होता है। उससे भूत-भविष्य वगैरह बनता है, उसी से काल बनता है, देश (स्पेस) उससे बनता है। इन्हीं प्वाइंटों से देश-काल बनते हैं। लाइबनीज कह रहा था कि देश-काल वास्तविक नहीं हैं। ये सब तुलनात्मक (रिलेटिव) हैं और विशिष्ट हैं। देश-काल निरन्तर नहीं होते, उनके बीच में प्वाइंट आते हैं। देश में कैसे प्वाइंट आते हैं और काल में कैसे? इसका अध्ययन किया जाता है। ब्रेनटेनो मानता था, सबसे ऊँचा विज्ञान मनोविज्ञान है। गणित नहीं है। इसी से फिनॉमिनॉलॉजी निकली।

x x x x

उदयन : आपने दो तरह की कलाओं का ज़िक्र किया है। एक कालिक हैं, दूसरी दैशिक। इन सबके सन्दर्भ में आपने भयजीत की कथा कही है। हम पहले दैशिक कलाओं पर आते हैं। ऐसे कौन-से मूलभूत तत्त्व हैं जो सभी दैशिक कलाओं में मिल जाएँगे। उसके बाद उनके विशिष्ट लक्षणों पर विचार कर लेंगे।

नवज्योति : दैशिक कलाओं यानी चित्रकला, मूर्तिकला और वास्तुकला या स्थापत्य कला का सामान्य तत्त्व यह है कि इन कलाओं को अनुभवगम्य होने के लिए जो भी सामग्री आवश्यक होती है, वह एक ही काल में उपलब्ध हो जाती है। मूर्तिकला, स्थापत्य कला और चित्रकला आदि में यही होता है। मूर्तिकला का कल्पना-व्यापार होने के लिए सारी सामग्री तात्कालिक रूप में मिल जाती है। कालिक कलाओं में ऐसा नहीं होता, जैसे गान है या नृत्य उनमें कुछ सामग्री पहले मिलती है, कुछ बाद में। उसी के बाद उसका पूरा स्वरूप बनता है, तभी ये अनुभवगम्य होती हैं।

उदयन : यह सच है कि इन कलाओं में सारी सामग्री की उपलब्धि की एक काल में शक्यता है। यानी वह एक ही काल में प्राप्त हो जाती है लेकिन दर्शक के इनका अनुभव ग्रहण में एक किस्म की क्रमता होती ही है।

नवज्योति : हाँ, उसका अनुभव होने में क्रमक रहेगी पर उस अनुभव का कारण चित्र में बाँधा गया है। चित्र में है क्या? तरह-तरह के रंग (पिगमेण्ट्स) हैं। पिगमेण्ट यानी पदार्थ-भौतिक वस्तु। वह भौतिक सामग्री जिससे चित्र बनता है, वह सामग्री एक ही क्षण में पूरी उपलब्ध रहती है। ऐसा नहीं कि ऊपर के वर्ण इत्यादि बाद में आयेंगे, नीचे के वर्ण पहले आ जाएँगे। जब आप देख रहे हैं तब ऐसा हो सकता है कि आँख पहले एक कोने को देखे, बाद में दूसरे कोने को आदि। पर आँख किसी भी कोने से देखना आरम्भ कर सकती है।

उदयन : क्या यह कह सकते हैं कि ये कलाएँ अपने स्वरूप में दैशिक भले हों पर वे दर्शक के अनुभव में दैशिक बनी रहें, आवश्यक नहीं है?

नवज्योति : नहीं ऐसा नहीं है। दरअसल ऐसी कला के दैशिक होने के लक्षण दर्शक के अनुभव की प्रक्रिया में भी दिखते हैं। यह इस तरह कि ऐसी कला दर्शक का समय लेती है, और अपना समय नहीं देती। जैसे चित्र और मूर्तिकला है, उसे अनुभव करने दर्शक को अपना समय देना पड़ता है। दर्शक जो समय देता है उसमें वह चित्र के चारों ओर नहीं जा सकता पर वह मूर्ति के चारों तरफ चला जाता है। स्थापत्य में दर्शक के समय का प्रकार अलग हो जाता है। इन तीनों के धर्म में अन्तर है। वे बाद में निकाले जा सकते हैं। पर इनका सामान्य लक्षण यह है कि इन कलाओं का जिस परिमिति में दृश्य बनता है या जो इन कलाओं की कारण सामग्री है, वह सारी की सारी एक काल में उपलब्ध होती है। कलात्मक अनुभव या कल्पना के अनुभव की कारण रूपी सामग्री एक पल में उपलब्ध होती है। जबकि संगीत में, नृत्य या नाटक में वह एक ही समय में उपलब्ध नहीं होती। उसमें सामग्री को निखारने में समय लगता है। लेकिन इसके फलस्वरूप श्रोता के मन में जो बैठता है, वह दैशिक होता है। स्थायी भाव दैशिक होता है। संगीत आदि कालिक कलाओं में स्थायी भाव दैशिक होता है, वह अन्दर होता है। बाहर की कारण सामग्री कालिक होती है। दैशिक कलाओं की कारण सामग्री दैशिक होती है और कार्य सामग्री में तरह-तरह की गतियाँ चलती रहती हैं। उसमें सारी सृष्टि की गतियाँ होती हैं। जब चित्र बनता है, उसमें सारी गतियाँ होती हैं तो इनके अन्दर काल होगा। दैशिक कलाओं का

कार्य कालिक होगा और कालिक कलाओं का कार्य दैशिक होगा। यह इस तरह होगा कि इन कालिक कलाओं के कार्य में तात्कालिकता होगी। स्थायी भाव आयेगा। दैशिक कला के कार्य में तात्कालिकता नहीं होगी। सिर्फ़ कारण सामग्री में तात्कालिकता होगी।

उदयन : दैशिक कलाओं का एक लक्षण तो यह हो गया। क्या कोई अन्य लक्षण भी होंगे?

नवज्योति : दैशिक कलाएँ भी कई प्रकार की हैं। जैसे दर्शक मूर्ति के चारों तरफ घूमने में समय निकाल सकता है। पर चित्रकला में चारों ओर नहीं घूम सकते। चित्रकला में एक तरह की तथ्यता (फेक्टनेस) होती है। वह न्यासज्य नहीं है। वह चारों ओर फैलने वाली चीज़ नहीं है। मूर्ति न्यासज्य वस्तु है। इन दोनों के बीच भी कई तरह की कलाएँ होती हैं, जैसे चित्रों में 'एम्बोस' तकनीक का इस्तेमाल आदि। चित्र दो आयामी होते हैं और मूर्ति तीन आयाम में होती है। चित्र में जिस तरह अनुभव कारण सामग्री से बँधा होता है, मूर्ति में कारण सामग्री में अनुभव का बँधाव उससे अलग होता है। चित्र को बनाना कारण सामग्री के भीतर किया जाता है। अंग्रेज़ी में जिसे इनवोल्यूशन कहते हैं। वह अन्दर की ओर झुका रहता है। कारण सामग्री एक-दूसरे की परस्परता में विकसित होती है। लेकिन शिल्प में वह बाहर होता है। इसे अंग्रेज़ी में रेडिएण्ट कहते हैं। मूर्ति जैसी भी बने, चाहे जोड़ कर या घटा कर, उसका कारण रूप उसकी सतह से बाहर होता है। सतह के भीतर तराशा नहीं जाता। अगर आप मिट्टी लें और उसे तराशें तो अन्दर की मिट्टी का कोई मतलब नहीं होता। वह अन्दर से खाली है। जो उसके बाहर है, वही अर्थपूर्ण है। मूर्तिकला बाह्यमुखी और चित्रकला अन्तर्मुखी है। यह इस दृष्टि से है कि चित्रकला में जो कार्य होना है, वह उसके अन्तर्मुख होने से होता है, जबकि मूर्ति कला में जो कार्य होना है, वह इसके बाह्यमुखी द्रव्य पर होना है। जैसे आपने गाँधी का शिल्प बनाया तो उसमें कार्य उसके बाहर ही बाहर होता है पर हमें गाँधी उसके अन्दर दिखते हैं। चित्र के बनने में अन्दर से कार्य किया जाता है, उस इलाके में जहाँ चित्र बन रहा है, जहाँ कल्पना बनेगी, जिसमें अनुभव बनेगा, उसके अन्दर ही काम करना पड़ता है और शिल्प में जहाँ बन रहा है, उसके बाहर काम करना पड़ता है। शिल्प में काम बाहर किया जाता है और वह अन्दर बन जाता है। चित्र में अन्दर काम किया जाता है और वह बाहर बन जाता है। चित्र में जितना काम किया जाता है, वह उससे कहीं अधिक व्यापक होता है। चित्र के अनुभव की मोटाई क्षितिज से लेकर आपके भीतर तक की होती है। जबकि शिल्प बहुत छोटा होता है। उस पर बाहर से काम किया जाता है और वह अन्दर घटित होता है। चित्र की कार्य सामग्री बाह्यमुखी होती है, चित्र फैल जाता है, अन्दर फैल जाता, बाहर फैल जाता है। उसका घन बन जाता है। मूर्ति की कार्य सामग्री अन्दर होती है, उसका घनत्व इतना नहीं होता। आपने गाँधी का शिल्प देखा तो आपको सीधी गाँधी की आत्मा दिख जाती है। आत्मा विभु है, सारा विभु आपको दिख रहा है, यह बात दूसरी है। दूसरे शब्दों में मूर्ति का कारण बाहर से आ रहा है, वह बाह्यमुखी है जबकि कार्य अन्तर्मुखी है। वास्तुकला साँस की कला है। वह अन्दर और बाहर साँस लेती है। उसमें अन्तर्मुख और बाह्यमुख का खेल बराबर चलता रहता है। उसमें दोनों का संयोजन है। जैसे चित्रकला

का मूल स्वरूप दो आयामी और मूर्तिकला का तीन आयामी होता है, उसी तरह वास्तुकला घनाकार होती है जिसमें खिड़की होती है। वास्तुकला में घनाकार (क्यूब्योइड आकार) बन्द नहीं होता, उसमें साँस आती है। उसमें खिड़की होती है। उससे साँस कभी अन्दर आती है, बाहर जाती है। कभी उसका अन्तर्मुख निखरता है, और बाह्यमुख कारण सामग्री होती है, कभी बाह्यमुख कार्य सामग्री होती है और अन्तर्मुख कारण सामग्री होता है। ऐसा चलता रहता है। ऐसा होने से दर्शक का काल बिल्कुल अलग हो जाता है। चित्र और मूर्तिकला में दर्शक को अपना निजि काल समर्पित करना पड़ता था, चित्र देखने या मूर्ति देखने के लिए। लेकिन वास्तुकला में नींद सम्भव है, वह उसमें सो सकता है। अपना साक्षी भाव त्याग सकता है। स्थापत्य कला की यह विशेषता है कि उसमें आप अपनी निजि उपस्थिति रख सकते हैं। इसमें आप किसी और के काल में 'अवस्थित' होकर इसका अनुभव कर सकते हैं चिन्तामुक्त होकर। आप सो सकते हो, अपना काल छोड़ दे सकते हो। अगर आप चित्र या मूर्ति के सामने अपना काल छोड़ दें तो चित्र या मूर्ति ग़ायब हो जायेंगे। पर स्थापत्य में ऐसा नहीं होता। कहा जाता है कि 'घर घर कुछ कहता है!' इसका आशय है कि कहानियाँ और काल दीवारों पर लिपटे होते हैं। वहाँ किसी के काल लिपटे रहते हैं, किसने बनाया, कब बनाया, क्यों बनाया, यह सब स्थापत्य की दीवारों पर चिपका रहता है।

उदयन : या उसका काल भी जो उसमें पहले रह चुका है...

नवज्योति : बिल्कुल। इसलिए स्थापत्य सामाजिक कला है। इसका आशय यह है कि इसका कभी भी अनिवार्यतः एक कर्त्ता नहीं होता। यह औद्योगिक, सामाजिक कला है। इसमें हरदम कई कर्त्ता होते ही हैं। जैसे चित्र में होते है, उसे बनाया किसी ने, देखा किसी और ने। उसमें भी एक अलग तरह से अनेक साक्षी आ जाते हैं लेकिन स्थापत्य में कला की कारण सामग्री में ही कई कर्त्ता होते हैं। खिड़की के बाहर दुनिया दिखती है। कभी नहीं भी दीखती। दुनिया आपको खिड़की के अन्दर देखती है, आप दुनिया को खिड़की के बाहर देखते हैं। ऐसा चलता रहता है, यह श्वास जैसा है। गृह प्रवेश के पहले पुताई क्यों की जाती है? क्योंकि घर की दीवारों पर दूसरा काल चिपका हुआ है, पुताई उसे मिटाने के लिए की जाती है। नहीं तो वह काल परेशान कर सकता है।

उदयन : क्या आप यह कह रहे हैं कि हर घर 'हॉण्टेड' (भुतहा) है?

नवज्योति : बिल्कुल। हॉण्टेड घर इसलिए सम्भव है क्योंकि दीवारों आदि पर भूत-प्रेत चिपके रहते हैं। आपको एक आयोजन करना पड़ता है कि ये सब निकल जाएँ। गृह प्रवेश की विधि यही है।

उदयन : घर के भूत को बाहर निकालना।

नवज्योति : उसमें यह प्रयास होता है कि वहाँ जो भी रह रहे हैं, वे शुभ रहें। आप भूत को बाहर नहीं निकाल सकते। वह तो घर के स्वभाव में है। दूसरों का काल उसमें लगा हुआ है। वह भले ही आपने आज ही क्यों न बनाया हो। मूर्तिकला से भी जुड़ा अनुष्ठान है जिसमें आप प्राण प्रतिष्ठा

की बात करते हैं। उस मूर्ति में जान डालने की बात।

उदयन : लेकिन जो भी अनुष्ठान हैं, वे उन कलाओं को देखने या अनुभव करने के रास्ते सुझाते हैं।

नवज्योति : हाँ, यह ठीक है। चित्र और मूर्तिकला में प्राण प्रतिष्ठा का अनुष्ठान होता है। स्थापत्य में गृह प्रवेश का अनुष्ठान। इसमें खिड़की दरवाज़े बने हैं तो आपको उसमें प्रवेश करना है। अन्दर जाना है, बाहर आना है। यह याद रखना चाहिए कि स्थापत्य की कारण सामग्री में अनेक लोगों के काल लगे हैं। कोई आदमी भले यह कहे कि अपना घर मैं खुद बनाऊँगा। इतना बड़ा कोई अहंकारी हो नहीं सकता। वास्तु में त्याग का भाव होता है। वहीं से वास्तुकला प्रोफ़ेशनल बनी। चित्रकला भी प्रोफ़ेशनल बनी और बाद में मूर्तिकला भी। पर वे प्रोफ़ेशनल वास्तु के अधीन बनीं। वास्तुकला इस तरह की जाती है कि उसका भोग कोई और कर सके। सबसे शुद्ध कला वही होती है। आप उससे जीवननिर्वाह कर सकते हैं लेकिन आप उसे बनाते दूसरों के लिए हैं। वास्तु के अन्दर बनने वाले के अनुभव में दूसरों का काल होता है। वास्तु साँस लेती है, वह जीवन्त होती है। वह धड़कते रहती है। आप किसी इमारत में जाते हैं तो आपको वहाँ या तो अच्छा लगता है या ख़राब। किसी जगह जाकर आप अस्वस्थ भी हो जाते हैं। आप अपने काल को त्याग कर सो जाते हैं। चित्र या मूर्ति के सामने आप केवल तब सोयेंगे जब आप थकान से चूर-चूर हों। पर वास्तु में अपनी इच्छा से सोते हैं, अपनी इच्छा से ही अपना काल त्यागते हैं। चित्र और मूर्तिकला को आपका काल/समय चाहिए। वास्तु को कभी-कभार आपका काल चाहिए और नहीं भी चाहिए। श्रेष्ठ स्थिति वह है, जब वास्तु को आपका काल नहीं चाहिए। दूसरों पर भरोसा करने का भाव वास्तुकला में आता है।

उदयन : यह विचार कि जब आप कुछ न भी कर रहे हों, पुरखे आपकी रक्षा करते हैं, यह वास्तुकला से ही आया होगा।

नवज्योति : आप ऋणी हैं क्योंकि आप अपना काल त्याग सकते हैं। काल त्यागने की ज़रूरत आपके शरीर को है। चित्र को घेरकर वास्तुकला बना सकते हैं। बड़ौदा के गुलाम मुहम्मद शेख ने ऐसा किया है। यह कुछ ऐसा है कि मैं तो सिर्फ़ अपने लिए ही घर बनाऊँगा।

उदयन : अब तक आपने दैशिक कलाओं के सामान्य लक्षणों की चर्चा की है। अब हम इन तीनों दैशिक कलाओं पर बारी-बारी से आते हैं। हम चित्रकला से शुरू करते हैं। चित्रकला में भी हम रेखा की आपकी धारणा पर बात करते है। चित्रकला परलोक में कैसे घटित होता है, उसके सृजन अक्षर कैसे सक्रिय होता है?

नवज्योति : जो बात सामान्य रूप से कही है, उसे पारिभाषिक रूप से भी कह सकते हैं। चित्र की परिधि या मूर्ति की या वास्तुकला की, उनके अक्षर भिन्न है। यानी यह कह सकते हैं कि इन तीनों में परिधि-अक्षर भिन्न हैं। चित्र में रंग फेंकते हैं या कहें कि आप सतह के ऊपर रंग चढ़ाते

हैं। अगर कैनवस काला है तो उस पर दूसरी तरह से रंग चढ़ाते हैं। यह रंग चढ़ाना क्या है? जैसे एक रंग चढ़ाते हैं, वैसे ही कई-कई रंग चढ़ाते हैं। लेकिन अन्त में जितने भी रंग चढ़ाए गये हैं, अदृश्य हो जाते हैं। शुरू में चढ़ाये रंग दृश्य से ग़ायब हो जाते हैं। ये अपने आप ढँकते जाते हैं और जो निकल कर आता है वह चित्र की कल्पना होती है। उसके भीतर से चित्र निकलता है। रंग उस चित्र के सिर्फ़ कारण हैं। अन्त में आपको रंग नहीं दिखते, चित्र दिखता है। चित्र बनाने की प्रक्रिया सामान्यतः कुछ ऐसी होती है : जब चित्र बनाना शुरू होता है, एक स्ट्रोक लगाया जाता है। या दो या तीन। हर चित्र में स्ट्रोकों की संख्या सीमित होती है, उन्हें गिना जा सकता है। एक-एक स्ट्रोक को गिना जा सकता है। हर स्ट्रोक की शैली को देखा जा सकता है अगर आप चित्र बनाने की प्रक्रिया का विडियो बना लें। हर स्ट्रोक के अन्दर बहुत-सी विशेषताएँ होती हैं, वे ज़रूर होंगी पर वह होता एक ही है और एक काल में होता है। स्ट्रोक क्या चीज़ है? इससे चित्र कैसे कार्य रूप में आ गया? आपने एक रंग का धब्बा लगाया और उसे कैनवस ने सोख लिया। वह कैनवस से जुड़ गया। काम तो यह हुआ, इसमें चित्रकला कहाँ से आ गयी। चित्र का ऐसा स्वरूप होता है कि वह रंग से नहीं बना होता। रंग बहुत सारी सामग्री को छिपाता है। जैसे आपने एक रेखा बनायी, पेंसिल से या क्रियोन से या किसी भी सामग्री से। उस रेखा से चित्र नहीं बनता। उसके पीछे पूरा ब्रह्माण्ड छिपा हुआ है, जो दिख नहीं रहा। उसके पीछे गहराई छिपी हुई है, जिसको रेखा ढँक रही है। वह सामग्री तिर्यक (टेंजेंशियल) है। रेखा अपने पीछे के क्षेत्र को छिपा रही है। वह रेखा उस क्षेत्र का कोना है। दूसरी रेखा के प्रभाव से पहली का क्षेत्र थोड़ा झुक जाता है और वह दिखने लग जाता है। जो क्षेत्र अदृश्य था, जिसे पहली रेखा ने ढँका हुआ था, वह निखर आता है, दिखने लग जाता है। यह देख कर ही चित्रकार चित्र बनाता है। वह यह देखता है कि जो क्षेत्र छिपा हुआ था, वह निखर कर बाहर आ रहा है कि नहीं। फिर वह रंग का कोई और धब्बा कैनवस या कागज़ आदि पर डालता है, उससे भी कुछ और क्षेत्र निकल आते हैं जो उन रेखाओं और रंगों ने ढँक रखे थे। चित्रकार एक-स्ट्रोक, दो-स्ट्रोक, चार, छह, दस-स्ट्रोक लगाता चलता है। वह तब तक स्ट्रोक लगाता रहता है, जब तक ये स्ट्रोक दिखें नहीं, केवल वह क्षेत्र दिखे। शुरू में जो चीज़ दृष्ट थी, वह अन्त में अदृश्य हो गयी (स्ट्रोक) और जो शुरू में अदृश्य थी, वह अन्त में दृश्य हो गयी (दृश्य)। जब ऐसा हो जाता है, वह कहता है चित्र पूरा हुआ। जब दर्शक आता है, उसे स्ट्रोक दिखते नहीं है, वह सीधे दृश्य देखता है। चित्रकार घुमा-फिरा कर, मोड़ कर, सिलकर, नौंचकर छिपे हुए क्षेत्रों को बाहर निकाल कर लाता है। वह क्षेत्र कितना होता है? वह क्षितिज से लेकर आपके मानस पटल तक फैला होता है। वह चारों तरफ फैला हुआ होता है। आप छोटा-सा चित्र देखते हैं, नौ इंच गुणित नौ इंच का, लेकिन उसमें सूरज भी है, बादल भी है, ज़मीन भी है, वह आपको इतना बड़ा दिखेगा मानो आप बैठे हैं, सामने शाम हो रही है। वह क्षेत्र इतना फैल जाता है। वह चिदाकाश है। आपने भौतिक आकाश या दिक् में रंग फेंके और उसका परिणाम यह होता है कि चिदाकाश में रंग आ जाते हैं। आपने जो बनाया वह केवल शरीर था, लेकिन चिदाकाश में आत्मा से जुड़ जाता है। चित्रकला का शरीर ऐसा है कि वह अन्दर की ओर झुका हुआ है और उसे बनाने

वाला चिदाकाश खुला हुआ है। शुरू में आपके कैनवस या कागज़ पर डाले हुए रंग आपको दिखते हैं, बाद में उन्हें छुपाया जाता है। इसका कारण यह है कि जितने भी ब्रश स्ट्रोक्स हैं, वे दिखने नहीं चाहिए। उनका दिखना दोष है। मैं एक क़िस्सा सुनाता हूँ। शान्ति निकेतन का कला-विभाग हर साल एक प्रदर्शनी करता है। वह कभी मुम्बई, कभी चैन्नई आदि में प्रदर्शनी करते हैं। इस बार उन्होंने वह प्रदर्शनी हैदराबाद में की। वह उन विभागों के अध्यापकों की ही प्रदर्शनी थी। मैं वहाँ गया। पहली बार एक चित्र देखकर उसे खरीदने की इच्छा हुई। वह एक प्रिंट था, बाद में वहाँ मौजूद विभागाध्यक्षों आदि ने कहा कि आप खरीदिए नहीं, आपको वह प्रिंट भेज दिया जाएगा। बाद में पता चला कि वह प्रिंट उत्तर-पूर्व के किसी चित्रकार का था, जो शान्ति निकेतन में पढ़ाता था। उसमें एक ऐसा बिन्दु बना था, जिसके अभाव में वह चित्र गिर जाता। उस चित्र में उपस्थित दृश्य उस एक बिन्दु के अभाव में गिर पड़ता। चिदाकाश गिर पड़ता। चित्र ने क्या कहर बरपा दिया, उस एक बिन्दु से। मैंने पता किया कि इसकी कीमत कितनी होगी। लोग हँसें कि ये क्यों कीमत पूछ रहा है, इसके पास पैसे-वैसे तो हैं नहीं। मुझे जानने वाले कई थे, गैलेरी का मालिक मेरे शोध छात्र का ससुर था। बहरहाल मुझे बताया गया कि यह चित्र पन्द्रह हज़ार का है। मैं खरीदने तैयार हो गया। मुझे कहा गया कि आप गैलेरी से क्यों लेते हैं, आप सीधे चित्रकार से ही ले लें, वह आपको यह चित्र पाँच हज़ार में दे देगा। फिर शान्ति निकेतन के किसी प्रोफ़ेसर ने मुझे कहा कि मैंने चित्रकार से बात की है, वह बढ़िया आदमी है, वह आपको यह चित्र भेंट कर देगा। वह भेंट आज तक नहीं आयी।

उदयन : उस चित्र में ऐसा क्या था? मुझे पता है, उसे कह पाना नामुमकिन है, पर आप कोशिश कीजिए।

नवज्योति : उसमें एक ऐसा बिन्दु था, जिससे सारे चित्र में गहराई आ गयी थी। उससे चित्र के स्पेस में एक चरित्र आ गया। मैंने यह जिसे भी बताया, वह उस चित्र को देखने के बाद यह मान गया। वह चित्र इस बात को स्पष्टतः व्यक्त कर रहा था : दृश्य और अदृश्य के बीच जो द्वन्द्व है, वह कारण सामग्री और कार्य के बीच का द्वन्द्व है। कारण मात्र कारण है। वह दरअसल कारण है नहीं। आप जितनी भी पेंटिंग देख रहे हैं, वे पेंटिंग नहीं हैं। पेंटिंग तो चिदाकाश में बन रही है। चित्र तो चिदाकाश में बन रहा है। आप उस चिदाकाश को खींचते हैं, दबाते हैं, संकुचित कर रहे हैं, उसे फाड़ रहे हैं, ऐसी कुल मिलकर सात क्रियाएँ होती हैं। चित्रों में आपको इनके अलावा और कोई क्रिया नहीं मिलेगी। ये चित्रकला के 'अक्षर' हैं। चिदाकाश में आप क्या करते हैं? कोई चीज़ सामने ले आते हैं, कोई चीज़ पीछे कर देते हैं। यह आगे-पीछे की व्यवस्था है। मेरे पास एक चित्र है, जिसमें मधुमक्खी का छत्ता है, वह एक ऐसा त्रिकोण है, लगता है कि तीन दीवारें हैं, जिनके मिलने की जगह के कोने पर वह छत्ता है। उसमें यह पता नहीं लगता कि वह छत्ता अन्दर है या बाहर। चित्रों में कारण कार्य से अत्यन्त अलग हो जाते हैं। इनके बीच में अक्षर आता है।

उदयन : चिदाकाश में कौन-सी दूसरी क्रियाएँ हो सकती हैं?

नवज्योति : एक क्रिया फाड़ने की है। एक ऐसा चित्र है, जिसमें एक चित्रित हाथ बाहर निकलकर चित्र को फाड़ रहा है। एक और क्रिया है, अन्दर और बाहर पैदा करने की। एक क्रिया है, संकुचन और विस्तार की। इस तरह की एक दूसरे से द्वन्द्वरत सात क्रियाएँ हैं।

उदयन : मैं आपको आपके बनाये सिद्धान्त का अपवाद बताता हूँ। आप कह रहे हैं कि चित्र बनाते समय ब्रश-स्ट्रोक्स को गायब कर दिया जाता है लेकिन वॉन गॉग के जितने भी चित्र हैं, उनमें आपको एक साथ स्ट्रोक या ट्यूब से निकाले रंग का आकार भी दिखता है और उनसे बना चित्र यानी इमेज भी दिखती है। यह अपूर्व उदाहरण है। यह करके वे चित्रकला में ऐसी बात ले आये, जो अब तक थी नहीं।

नवज्योति : यह सही है। बात यह नहीं है कि ब्रश स्ट्रोक्स गायब हो जाते हों। पर यह बात भी है कि गायब होते हैं। वॉन गॉग ने जितने भी ब्रश स्ट्रोक्स लगाये, उनको देखने से उनसे बना दृश्य गायब हो जाता है। इन स्ट्रोक्स को चिदाकाश में शैली (स्टाइल) कहा जाता है। वॉन गॉग की एक शैली है कि वह मोटे-मोटे स्ट्रोक्स लगाता है।

उदयन : वह कई बार सीधे ट्यूब से रंग केनवस पर लगा देता था।

नवज्योति : वह कई तरह से रंग लगाता है। वे मोटे-मोटे और छोटे-छोटे स्ट्रोक्स होते हैं। अगर आप जलरंगों से या किसी और तरह के रंगों से बनाया चित्र देखें, वहाँ भी शैलीगत फ़र्क हो जाता है। प्रश्न यह है कि आपके स्ट्रोक्स लगाने की शैली क्या है। जलरंग में स्ट्रोक्स अलग होते हैं, तैल रंगों में अलग। दूसरे माध्यमों में अलग।

उदयन : अगर इसमें कुछ जोड़ने की कोशिश करूँ तो कहूँगा आपके ही सिद्धान्त के अनुसार वॉन गॉग में ऐसा है कि बिन्दू या इमेज बनाने के कारण स्ट्रोक्स चिदाकाश में धीरे-धीरे गायब हो जाते हैं, वे चिदाकाश तक पहुँचकर वहाँ अदृश्य हो जाते हैं। असल में वहाँ यानी चिदाकाश में घुलते हैं।

नवज्योति : हाँ, वे घुलते हैं और उनकी आत्माओं का कुछ शेष वहाँ रह जाता है। हम किसे शैली या स्टाइल कहते हैं? यही विषय है, हमारे शोध छात्र सुनील का; चित्रकला में आइकन और स्टाईल्स। यहाँ यह सोचना ठीक नहीं कि केवल स्ट्रोक्स ही शैली या स्टाइल होते हैं। दरअसल कई स्ट्रोक्स के बार-बार आने वाले संयोजन को शैली या स्टाइल कहते हैं। हम जिन्हें लोककलाएँ कहते हैं, उनमें भी शैलियों की विभिन्नता है : वारली चित्रकला ऐसी है, मधुबनी वैसी है, उनके बीच का अन्तर शैलीगत (स्टाइलिस्टिक) अन्तर है। शेर मधुबनी में बना है, शेर ही वारली में बना हुआ है, शेर जनगढ़ कलम के चित्रकारों का भी बनाया हुआ है, पर उनकी शैलियाँ अलग हैं। जो लोग कला समझते हैं, वे शैली पर विचार करते हैं, उसे देखते हैं, वे स्ट्रोक्स भी देखते हैं, उन पर विचार करते हैं। कोई कहता कि फलाँ चित्रकार ने स्ट्रोक्स पर कुछ ज़्यादा ही ज़ोर दे दिया है? क्योंकि चित्रकार की रुचि ऐसी भी हो सकती है। वे यह सब चित्र के बनने के गुणों को देखने के लिए करते हैं। यह

सब चिदाकाश में नहीं आता।

उदयन : फिर चिदाकाश में होता क्या है?

नवज्योति : चिदाकाश में जो वस्तु आती है, उसको शैलियाँ दिखाती ज़रूर हैं। जैसे रंग-सम्बन्ध की शैलियाँ। ब्रश-स्ट्रोक्स के संयोजन की शैलियाँ। या हम जिसकी भी शैली कहते हैं, वह दिखती है। शैली इस पर भी निर्भर करती है कि चित्रकार किस तरह के और कौन-से रंगों का इस्तेमाल करता है। मान लीजिए उसके यहाँ केवल चार रंग ही होते हैं, वह उन्हीं से सारे रंग बनाएगा।

उदयन : चित्रकार की पसन्द भी इसमें भूमिका अदा करती है। जैसे जैराम पटेल अधिकतर काले रंग का ही उपयोग करते हैं।

नवज्योति : शैली वस्तु के आधार पर भी हो सकती है। जैसे क्यूबिज़्म है।

आकार वस्तु का गुण नहीं होता। यह बात अरस्तू और कणाद दोनों ही मानते हैं। भारत में और पश्चिम में भी यह मान्यता है कि आकार वस्तु का गुण नहीं होता। जहाँ वस्तु का अन्त हो जाए और परिवेश का आरम्भ, उसे आकार कहते हैं। वह वस्तु के ठीक बाहर होता है और वस्तु के बाहर जो चीज़ है, आकार उसके ठीक अन्दर होता है। आकार कल्पित होता है। कल्पित तो क्या वह वास्तविक बिन्दु से बना होता है। चित्रकला में आकारादि बनते हैं, शैली में वे ही होते हैं। उनमें रंग होते हैं, कौन-से रंगों की भरमार है, कौन-से रंग कम हैं, उनका किस तरह का अनुपात है।

उदयन : हम आकार पर कुछ देर और ठहरते हैं। आप कह रहे हैं कि आकार 'लिमिनल' है। यानी वह वस्तु में नहीं है, उसके ठीक परे है।

नवज्योति : शून्य तत्त्व है। यह वस्तु पर टिका हुआ है, एक दृष्टि से और वस्तु के बाहर जो चीज़ें हैं, उस पर भी टिका हुआ है।

उदयन : यह दोनों पर टिका हुआ है।

नवज्योति : दोनों पर। पर उसकी अपनी सत्ता शून्य है। शैली इन आकारों की बनी होती है। रंग दो किस्म के होते हैं। एक तरह के रंगों को सब्ट्रेक्टिव और एक को एडिटिव रंग कहते हैं। इस पर न्यूटन और ग्येटे में ज़ोरदार बहस भी है। न्यूटन कहता था कि अगर सभी रंगों को जोड़ दें तो सफ़ेद हो जायेगा। ग्येटे कहता था कि अगर सभी रंगों को जोड़ दें तो काला हो जायेगा। इनके बीच बड़ी लड़ाई थी कि रंग क्या हो जाता है। प्रकाश में जो रंग हैं, वे जुड़कर सफ़ेद हो जाते हैं। पेंटिंग में कौन-से हैं? वहाँ दृश्य में पिगमेण्ट रंग हैं और जो शुरू में अदृश्य था, उसमें दूसरे रंग हैं। प्रकाश का रंग सिर्फ़ प्रकाश का नहीं, चिदाकाश का रंग है। अगर आप यह कहेंगे कि अगर कहीं रंग है तो उसमें ज़रूर पिगमेण्ट होना चाहिए या प्रकाश होना चाहिए लेकिन लोगों के सपनों में बहुत रंग आते हैं। वहाँ कोई सूर्य नहीं है, यानी प्रकाश वहाँ स्रोत नहीं है न ही वहाँ कोई पिगमेण्ट है। सपनों में आने वाले रंगों में न तो प्रकाश है न पिगमेण्ट। वे चिदाकाश के रंग हैं इसलिए ऐसा माना जा सकता

है कि रंगों की दो कारण सामग्रियाँ हैं। एक प्रकाश (या उजाला) और एक रासायनिक। रासायनिक रंग की कारणता प्रकाश के रंगों से अलग होती है। प्रकाश और रासायनिक रंग के बीच साम्य नहीं है। साम्यता चिदाकाश से की जाती है। जैसे वाइन टेस्टर्स होते हैं वैसे ही शुरू-शुरू में मुद्रण व्यापार में ऐसे लोग होते थे जो बताते थे कि किस रंग में कौन-सा और कितना दूसरा रंग जोड़ा जाए कि मनचाहा रंग आ जाए। यह उनकी विशेषता थी क्योंकि वे चिदाकाश के रंगों के सहारे यह कर लेते थे। चिदाकाश का रंग प्रकाश-रंगों और पिगमेण्ट रंगों के बीच के अन्तर्रंग (अन्तःभाषी) हैं। वे इन दोनों के बीच में आते हैं और इन दोनों के बीच की बातचीत इन्हीं के कारण होती है। असली रंग तो चिदाकाश के रंग हैं। दरअसल शैली चिदाकाश के रंगों में होती है। चिदाकाश में अक्षर इत्यादि हैं, उनसे शैली उत्पन्न होती है। यह सोचना ठीक नहीं कि स्ट्रोक से आकार होता है, स्ट्रोक की परिधि आकार नहीं होती। आकार अलग चीज़ है। एक दोष बहुत से उन वैज्ञानिकों और दार्शनिकों में मिलता है, जो रंग पर लिखते हैं या चित्रों का अध्ययन प्रकाशित करते हैं। वे आकार को भौतिकता से भ्रमित कर लेते हैं। आकार भौतिक नहीं होता। हम आकार शैलीगत ढँग से देखते हैं : किस तरह के अक्षर आये हुए हैं। किसी चित्र में अक्षरों की कैसी रचना है। यह देखना कि किसी चित्र में बिन्दु (प्वाईंट) किस तरह से फैलाये गये है : वहाँ कैसा प्रपंच खड़ा किया गया है। यह मुश्किल काम है, पर इसे किया जा सकता है।

उदयन : क्या आप अपने शोध-छात्रों को ऐसा कुछ करने को कहते भी हैं?

नवज्योति : मैं उन्हें यह करने को कहता हूँ कि वे 'S' के आकार का चित्र बनाएँ, उसे बनाकर उसे भरें और इस प्रक्रिया में जितने भी ब्रश-स्ट्रोक्स लगते हैं, उनका लेखा-जोखा रखें। आपने उस 'S' आकार का क्या बनाया, यह महत्वपूर्ण नहीं, भले ही वह साँप हो या जैसी भी आपकी कल्पना हो। इस प्रक्रिया में शामिल हर स्ट्रोक का विवरण लिखो। यह दर्ज करो कि वह आकार किस तरह रूपान्तरित हो रहा है। मानो आप कुछ बना रहे हैं और आपको अचानक लगा कि यह जम नहीं रहा- मसलन आप बना तो रहे थे भू-दृश्य पर वह बना गया कुछ और - तब आप अगले स्ट्रोक से उसे ढँक देंगे। इस जगह आकर आपकी कल्पना बदल गयी और आपने चित्र में दूसरी कल्पना डाल दी। इस तरह दो तीन रूपान्तरण हरेक शोध-छात्र के चित्र में होते थे। शुरू में ये लोग किसी शैली के वशीभूत चित्र बनाते थे पर शैली मूल तत्त्व नहीं है लेकिन उन्हें शैली से मूल तत्त्व पकड़ने में नहीं आता तो कल्पना से उसे मोड़ देते थे और उसे छिपा देते थे। दरअसल चित्र बनाना दोषों को छिपाना भी है। यही कुछ शिल्पकारी है। अगर स्ट्रोक दिख रहे हैं तो एक विचार से यह आपकी ग़लती है तो उससे कुछ अलग करना होता है। उसे छिपाना होता है। मसलन अगर आपने एक लाइन खींच दी अब उसका क्या करें? उसे छिपाना है। तो उसे मोटा कर दिया या उसे फैला दिया। इसलिए शैली चिदाकाश का हिस्सा है पर वह चिदाकाश का केन्द्रीय हिस्सा नहीं है। चिदाकाश का एक गुण शैली है लेकिन वह मूलभूत नहीं है।

उदयन : वह तात्त्विक नहीं है?

नवज्योति : वह तत्त्व तो है, सो तात्त्विक है पर वह तत्त्व मौलिक नहीं है।

आज के दौर में चित्रकार अपनी हठधर्मिता खोजते हैं और उससे क्या हो सकता है यह करके दिखाते हैं। वॉन गॉग ने एक तरह से स्ट्रोक्स लगाये और उन्हीं से सब कुछ बना दिया। जब स्ट्रोक्स छिप गये तो आपको लगा तूफ़ान आ रहा है या गिरजाघर खड़ा है या जूते नज़र आ रहे हैं। इसमें स्ट्रोक्स छिप रहे हैं लेकिन वे दिख भी रहे हैं, उसने यह दिखा दिया कि स्ट्रोक्स छिप भी सकते हैं और साथ ही दिख भी सकते हैं। यह उसकी शैली बन गयी। अभी जो चित्रकार हैं, वे अपनी-अपनी शैली पकड़ लेते हैं। कोई-कोई चित्रकार एक ही चीज़ को पकड़ कर बैठ जाते हैं और कहते हैं कि मैं तो सिर्फ़ झाड़ी बनाऊँगा। मैं जो भी बनाऊँगा, वह झाड़ी जैसा ही होगा। इसी 'फ़ेटिश' में से अपनी विशेषताएँ निकालते हैं। वे अपने मूल्य उसी से निकालते हैं। यह बात उन सब के साथ हो रही है, जिन्होंने पश्चिम से सीखा है। इन शैलियों में कुछ अच्छा भी होता ही है।

चित्र में चिदाकाश को खींच सकते हैं, दबा सकते हैं, तोड़ सकते हैं, उसको ढँक सकते हैं। उसके साथ बहुत सारी क्रियाएँ सम्भव हैं। आप चिदाकाश को तोड़ते-मरोड़ते हैं और उनके सहारे जैसा चिदाकाश को बनाते हैं, उससे जो अर्थ निकलते हैं, वे अर्थ प्रकृतियाँ हैं। वह अर्थ नहीं है। वह तो देखने वाले कुछ और ही निकालेंगे। आप चिदाकाश को तोड़-मरोड़कर उसमें से अर्थ निकालते हैं कि यह एक मेहनतकश व्यक्ति का जूता है (वॉन गॉग), 'मेहनती आदमी' आदि यह सब उसमें से निकल रहा है। आपने चिदाकाश को अक्षरों से इस तरह बनाया था कि उसमें से वैसा अर्थ निकल आये। यह अर्थ निकलना, चिदाकाश के कारण हो रहा है। चिदाकाश में तोड़-मरोड़-खींचने आदि क्रियाओं से सहारा लिया जाता है, स्ट्रोक्स का, पिगमेण्ट्स का। चिदाकाश के कारण ही अर्थ का स्फोट होता है। दरअसल स्ट्रोक्स आपकी स्मृति से रगड़ खाते हैं, उससे चिदाकाश बनता है। आपके भीतर अनन्त स्मृति पड़ी हुई है। स्ट्रोक्स उसका मन्थन करते हैं। चिदाकाश स्ट्रोक्स से जिस तरह जुड़ा हुआ है, उसी तरह वह स्मृति से भी जुड़ा हुआ है। चिदाकाश से आप थीम नहीं निकाल सकते, उसके लिए स्मृति चाहिए। चित्रकला की थीम का एक अलग ही स्तर होता है (वह अर्थप्रकृति नहीं होती) उसी जगह चित्र के आलोचक आते हैं कि वे उसका विश्लेषण कर सके। अर्थ-प्रकृतियाँ होती हैं, सन्धियाँ होती हैं और अवस्थाएँ आदि होती हैं। इन सब के संयोग से ही अर्थ-प्रतीति होती है। चित्रकार ने चिदाकाश को जो रूप दिया था, उसे तोड़ा, नौंचा, दबाया, खींचा आदि था, उस कार्य से एक समर्थ या क्रियमाण स्थिति बन गयी, जिससे दर्शक को अर्थ-प्रतीति या अर्थ-स्फुरण होता है और उसके बाद यह कहा जाता है कि 'भई क्या बात है?' या 'रोथको के चित्र ने तो रुला दिया' आदि। रोना आना भी अर्थ ही तो है। अगर कोई पूछेगा कि चिदाकाश में वह कहाँ है तो इसका क्या जवाब है! वैसे चिदाकाश का एक तरह का कार्य था पर वह भी एक कारण है। चित्रकला का मूल कार्य चिदाकाश ही था। चिदाकाश में अनुकृति रहती है। अनुकृति में सारे अर्थ आ जाते हैं। चिदाकाश कारण रूप से एक

अनुव्यवसाय हो जाता है। उस अनुव्यवसाय में तरह-तरह के अर्थ आते रहते हैं। लोग कह सकते हैं कि एक ही किस्म के अर्थ आये हैं पर फिर उन्हें खींच कर अलग-अलग भी किया जा सकता है। लोग ऐसा करते ही हैं। वे कहेंगे कि नहीं आप लोगों के मन में जो अर्थ आ रहे हैं, उनसे अलग अर्थ भी हैं। इस तरह किसी भी चित्र की कई व्याख्याएँ हो जाती हैं। क्योंकि वह अनुव्यवसाय है, अनुकृति नहीं। उसका व्यवसाय चिदाकाश है। वह मूल कार्य है। व्यवसाय है।

उदयन : अनुव्यवसाय का तात्कालिक कारण चिदाकाश में चित्रकार द्वारा की गयी तोड़-फोड़, खींचा-तानी आदि ही है।

नवज्योति : चिदाकाश का कारण पिगमेंट हैं। चिदाकाश पिगमेंट का कार्य है। जब वह आँखों के सामने आया तो उसका अर्थ व्यापार हुआ। उस पर आपने कुछ सोचा-विचारा। सोचा कि यह चित्र इतना महँगा क्यों है, इसे तो मैं भी बना सकता था। क्योंकि चिदाकाश में तो चित्र की कोई कीमत लिखी नहीं होती। इसीलिए आपको गुस्सा आ रहा है कि इसमें क्या है, इसे तो मैं कर देता हूँ। यह सब अनुव्यवसाय है।

उदयन : यह दर्शक की अपनी प्रकृति पर निर्भर करेगा।

नवज्योति : दरअसल वह आपकी स्मृतियों पर ही नहीं, आपके संस्कारों पर भी रगड़ खा रहा है। इसमें आपकी प्रवृत्तियाँ भी शामिल हैं। स्ट्रोक्स, रंग संधान आदि आपके संस्कारों पर रगड़ खाते हैं, वे कारण थे चिदाकाश के। अब चिदाकाश प्रत्यक्ष बन गया। प्रत्यक्ष में आने पर जो संस्कारों से रगड़ हुई थी, उसके सन्दर्भ में अनुव्यवसाय शुरू हुए जिसमें मसलन आपको लग सकता है कि आप मसूरी में बैठे हैं। या गोवा में। या ऐसी किसी जगह जहाँ पानी तक नहीं, पर फिर भी लग रहा है बारिश हो गयी है। हालाँकि चित्रकार ने पानी की एक बूँद तक नहीं बनायी तब भी। ऐसी-ऐसी बातें दिमाग में आ जाती हैं। इनको देखकर कला-आलोचक कथाएँ लिख देते हैं। वह कथा चित्र को देखने का आधार बन जाती है।

उदयन : अब हम क्यों न शिल्प पर विस्तार से विचार करें। यह ठीक है कि दैशिक कलाओं के सामान्य लक्षण बताते समय आपने शिल्प पर भी विचार किया था पर अब हम शिल्प के विशिष्ट लक्षणों पर आ सकते हैं।

नवज्योति : पहले सभी दैशिक कलाओं के कलाकारों को शिल्पी ही कहते थे। किसे शिल्पित किया जाता है? चिदाकाश को। चित्रकार को भी शिल्पी ही कहते थे। वास्तुकार को भी। रूप देना, तराशना। आप चिदाकाश को रूप देते हैं, उसे तराशते हैं। चिदाकाश को तोड़ना-मोड़ना, उसको इस तरह तोड़ना-मोड़ना कि वह व्यवस्थित हो जाए।

उदयन : मूर्तिकार कौन थे?

नवज्योति : चित्र में भी जो आकार है, वह मूर्ति है। मूर्ति बनाना यानी प्रतिमा बनाना। ऐसा

नहीं था कि उसे कैसे या किसमें बनाया जाए। ये तो आजकल, सब अलग अनुशासन हो गये हैं। प्रश्न यह होता था कि किसी की मूर्ति बनानी है तो किस माध्यम में कैसा करना श्रेष्ठ होगा और यह भी कि किस माध्यम की आपको पकड़ है, आपके कौशल का स्वरूप क्या है? उसी हिसाब से प्रतिमाएँ बनायी जाती थीं। पहले मूर्तियाँ ही ज़्यादा बनती थीं, चित्र कम ही बनते थे। अजन्ता में निश्चय ही चित्र हैं, पर वे कम ही थे। किन्हीं भी मूर्त पदार्थों के स्कन्ध से मूर्ति बनती है। मूर्त पदार्थ चार होते हैं। भौतिक पदार्थ पाँच हैं, उनमें चार मूर्त हैं। एक पदार्थ 'विभू' यानी आकाश है। महाभूतों में सिर्फ़ आकाश है, जिसे आप बाँध नहीं सकते, जिसे आप परिधि में नहीं डाल सकते। कलाएँ चार भूतों (मूर्त पदार्थों) से बनती हैं। चिदाकाश को देखने का एक तरीका यह है कि आप चित्र में पानी भर दें। आपको यह सोचना भर है। यह एक विचार-प्रयोग है। अगर आप ऐसा करते हैं तो सोचिए कि वह पानी कहाँ से निकलेगा? वह उसमें अटक जाएगा या सारा बह जाएगा! इस आधार पर आप चित्रों का वर्गीकरण कर सकते हैं। एक रैखिक परिप्रेक्ष्य वाले चित्र में वह ज़मीन पर बैठ जाएगा। हिन्दुस्तानी चित्रों में पानी के बैठने की जगह ही नहीं है, वह बह जाएगा। अगर आप विचार-प्रयोग करते हुए चिदाकाश में आग लगा दो तो कौन-सी चीज़ें बच जाएगीं। पश्चिम में तो 'मोर्बिडिटी' बहुत है, वहाँ इसीलिए बहुत-सी चीज़ें बच जाएँगी। पर हमारे चित्रों में केवल दीवारें आदि ही बच पायेंगी बाकी सब जल जाएगा। यह भी वर्गीकरण का आधार बन सकता है।

उदयन : शिल्प में अक्षर कहाँ होते हैं?

नवज्योति : वे उसकी परिधि में हैं और बहिर्मुखी हैं। दरअसल वे परिधि के बाहर जो निकल रहा है, उसमें हैं। मूर्ति में जो बाहर निकल रहा है, वही शिल्प है, जो अन्दर निकल रहा है, वह मूर्ति के लिए अप्रासंगिक है। मेरे पास एक शिल्प है, जिसमें आदमी के आकार की चादर-सी रखी हुई है। अन्दर खाली है। वह आदमी नज़र आता है। उसके अन्दर क्या है, क्या नहीं, इससे फ़र्क नहीं पड़ता।

उदयन : ऐसा ही एक महावीर का शिल्प है, जिसमें पीतल की हल्की मोटी चादर में महावीर का आकार काट कर निकाल लिया गया है। वह काट कर हटाया गया स्थान महावीर जान पड़ता है।

नवज्योति : मेरे पास पश्चिम के किसी कलाकार का एक शिल्प है। अन्दर की सामग्री शिल्प के लिए बेकार है। शिल्प बाह्यमुखी होता है, चित्र अन्तर्मुखी। शिल्प की सतह बाहर की तरफ़ निकलती है, वही तराशी जाती है। जैसे कि वह चादर वाला शिल्प है, जिसका मैंने ज़िक्र किया, उसकी अन्दर वाली सतह से शिल्प नहीं बनता। वह चिदाकाश से सम्बन्धित नहीं है। वह केवल बाहर की सतह से सम्बन्धित है। बाकी स्मृति से भर जाता है। यह चित्र से बिल्कुल उल्टा है।

उदयन : शिल्प की इस स्थिति के कारण उसकी ग्राह्यता में क्या फ़र्क पड़ता है, चित्रकला की तुलना में।

नवज्योति : पहली बात तो यह है कि शिल्प की रचना के समय शिल्पकार का चलन बिल्कुल

अलग होता है। शिल्प में कलाकार सतह पर काम करता है। कहीं मिट्टी डाल दी, कहीं तराश दी। उसका पूरा ध्यान सतह पर होता है। वह सतह की बाह्यमुख सामग्री को देखता है। जबकि चित्र में काम करते समय कलाकार उसके भीतर की सामग्री को देखता है। शिल्प दो आयामी होता है क्योंकि सतह भी दो आयामी ही होती है। पर वह वक्र होती है और उसका वक्राकार स्वरूप तीन आयामी हो जाता है। चित्र की वक्रता दो आयाम के भीतर होती है। चिदाकाश न तो दो आयामी होता है या तीन आयामी। उसमें घन भी होता है पर वह उतना नहीं होता जितना भूत द्रव्य में होता है। भूत द्रव्य में घनत्व ठोस होता है, चिदाकाश ठोस नहीं होता। पर वह भरा होता है। उसमें पीछे आगे वस्तुएँ होती हैं। शिल्प की बाह्यमुखी सतह से ही चिदाकाश पर आरोपण अन्तर्मुखी होता है। चित्रकार का चलन चित्र के अन्दर की तरफ होता है पर उससे चिदाकाश बाहर की तरफ बनता है। उसका आयाम स्ट्रोक्स के आयामों से अधिक होता है। शिल्प में तराशने के आयामों से चिदाकाश का आयाम कम होता है। आप, माल लें राजा भोज के शिल्प की सतह देखते हैं, यह देखते हैं कि उस पर प्रकाश कैसे पड़ रहा है लेकिन आपको दिखते हैं भोजराज। कई लोगों को उसमें शिल्प नहीं भी दिख रहा है। किसी शिल्प के भीतर गाँधी भी दिख सकते हैं। वहाँ गाँधी कहाँ हैं? वे शिल्प की सतह से बने हैं। उसमें क्या पदार्थ है, पत्थर या धातू या मिट्टी, उसका उतना असर नहीं है। पर इतना तो है कि अलग-अलग मूल पदार्थों से कुछ अलग-अलग असर पड़ता ही है। पर पदार्थ बहुत अधिक प्रासंगिक नहीं है। शिल्प बनाने में परिवेश पर काम करना होता है। उसे परिवेश में ही तराशा जाता है। आपने जो पदार्थ लिया है, उनकी कीमत उतनी नहीं है, शिल्प में पदार्थ के परिवेश पर काम होता है। जब शिल्पी पदार्थ को तराशता है, वह पदार्थ के बाहर के परिवेश को तराशता है। सतह के बाहर जो अनुभव होगा, वह उसको छूता है। ऐसा करते हुए वह शिल्प के बाह्यमुखी तत्त्व को छूता है। वह बाह्यमुखी तत्त्व तो शून्यस्थ है।

उदयन : एक तरह से यह कह सकते हैं कि शिल्पी पत्थर को तराशते हुए शून्य को रूप दे रहा है।

नवज्योति : हाँ, वहाँ शून्य की स्थापना हो रही है। शून्य की स्थापना से ही चिदाकाश आरोपित होता है। शिल्पी शून्य को किस तरह छूता है, कैसे तराशता है? वह देखता/देखती है कि उसके तराशने से चिदाकाश बन रहा है या नहीं। वह गाँधी या भोज लग रहा है या नहीं। वह सोचता है कि ऐसे तराशे तो शायद न लगे ऐसा बनाये तो लग सकता है। शिल्प कला में यह चलता रहता है। शिल्प औद्योगिक कला भी है। उसे एक बार बना लिया तो उसका 'मोल्ड' बनाना पड़ता है यानी उसमें तकनीकी का उपयोग होता है। कई बार तकनीकी भी खेल कर जाती है। कई बार नेगेटिव मोल्ड बनता है, मोम का या धातु का शिल्प बनाने के लिए। आपको अन्दर की धातु पर भी ध्यान देना पड़ता है। ध्यान चिदाकाश के लिए नहीं है, वह तो शिल्प की निर्मिति के लिए है। चिदाकाश सतह से ही बनता है। बाहरी सतह से।

चित्रकला और शिल्प में एक और अन्तर हो जाता है (वैसे तो सतहें दोनों ही हैं, एक सपाट सतह है, दूसरी वक्र!)। दिशाओं की दृष्टि से देखें तो शिल्प सभी दिशाओं में फैला होता है पर चित्र एक या दो दिशाओं में। वह क्षेत्रिक है और शिल्प घनिक है। इसका आशय है कि चिदाकाश और दृष्टा का सम्बन्ध चित्र और शिल्प में अलग हो जाता है। दृष्टा शिल्प के चारों ओर घूम सकता है, यह बात साधारण लगती है पर चित्र के चारों ओर कोई नहीं घूमता। उसके पीछे कुछ नहीं होता। अब यह हो सकता है कि कोई प्रयोगशील चित्रकार चित्र के पीछे भी कुछ लगा दे। चित्र और शिल्प दोनों में ही आप प्रवेश नहीं कर सकते। हालाँकि विचार-प्रयोग के लिए शिल्प में फिर भी प्रवेश हो सकता है पर चित्र में नहीं। कई बार चिदाकाश पूरा घूमने से बनता है। जब आप चित्र देखते हैं, आपकी आँख कुछ समय लगाती है, इस कोने से उस कोने को जाती है, आजकल आई-ट्रेकर हैं जो बता सकते हैं कि चित्र देखते समय आपकी आँखें कहाँ-कहाँ जा रही थी। इसी तरह शिल्प को भी देखने में समय लगता है। लेकिन ये दो समय (चित्र और शिल्प में लगने वाले) इन दोनों में अलग हो जाते हैं। चित्र देखते समय आप एक जगह खड़े हो गये और शिल्प में आपको समय लगाने के लिए इसके चारों ओर घूमना पड़ता है। शिल्प देखने में दृष्टा के समय की प्रतिबद्धता चाहिए होती है। जैसे कोई भी चित्र बिना दृष्टा के समय के फलित नहीं होता वैसे ही शिल्प भी बिना दृष्टा के समय के फलित नहीं हो सकता। शिल्प को भी दृष्टा के जीवन का समय चाहिए तभी वह चिदाकाश में फैलता है। चाहे वह चित्र हो या शिल्प। पर समय का इन दोनों कलाओं में, दिक् की तुलना में अलग सम्बन्ध है। दिक् यानी पदार्थ। हम उसे आकाश कह देते हैं, पर आकाश ऐसा देश होता है, जिसमें गुण होता है। दिक् ऐसा देश है, जो गुण रहित है। दिक् से काल का सम्बन्ध शिल्प और चित्र में अलग हो जाता है। दोनों बनाते तो चिदाकाश ही हैं, दोनों से ही गुणात्मक क्षेत्र बनते हैं। आकाश का फैलाव गुणात्मक होता है, दिक् निर्गुण होता है, इसमें कोई विशेषताएँ नहीं होतीं। सिर्फ़ दिशाएँ ऊपर-नीचे, आगे-पीछे, चारों तरफ होती हैं। शिल्प में लगने वाले समय का कुछ शिल्पी इस्तेमाल भी कर लेते हैं। वे एक तरफ एक चीज़ बनाते हैं, दूसरी तरफ दूसरी चीज़ बना देते हैं। हैदराबाद में यूरोपीय शिल्प बहुत हैं। गोएटे का एक शिल्प है जिसमें एक आदमी है और एक औरत है। वह एक तरफ से आदमी है दूसरी तरफ से औरत है। इस तरह के शिल्प भी बनाए गये, इसका कारण शिल्प के चारों ओर घूमने की आवश्यकता है, जिसमें अलग ही उपलब्धि होती है। उससे आप चिदाकाश में क्या रच सकते हैं, उसकी सम्भावना बदल जाती है। हमारे यहाँ के शिल्पियों ने आधा ही शिल्प बना दिया। दीवार के ऊपर बना दिया और आधा दीवार के अन्दर डाल दिया। पर इसके बावजूद आप पूरे की कल्पना कर लेते हैं। यहाँ आप सोच लेते हैं कि आप घूम गये हैं। आप दीवार के अन्दर जाने से तो रहे पर चूँकि शिल्प में दृष्टा घूम सकता है तो आप ऐसे शिल्पों में ऐसी कल्पना कर लेते हैं कि आप घूम गये हो। चिदाकाश का विचरण दोनों में ही है। इनका अनुव्यवसाय तो विचरण ही होता है। शिल्प में आप चारों ओर विचरण कर सकते हैं, चित्रकला में ऐसा नहीं हो सकता क्योंकि उसका फ्रेम सख़्त है। आप चित्र के अन्दर जाकर विचरण कर लीजिए। शिल्प के परिवेश में आप विचरण करते हैं। फिर चाहे वह शिल्प दीवार पर ही क्यों न

बनाया गया हो। ऐसे बहुत-से शिल्प दीवार पर उकेरे गये हैं।

उदयन : यह जो आप चित्र और शिल्प में विचरण का फ़र्क बता रहे हैं, उसी के सन्दर्भ में एक फोटोग्राफ़ की याद आती है। मैंने यह तस्वीर जेनेवा में देखी थी। फोटोग्राफर ने एक बड़े-से लगभग पारदर्शी रेशम के कपड़े पर फोटो का पोज़िटिव बना लिया। इस फोटो में विवस्त्र लड़की की पीठ दिख रही है। वह विवस्त्र लड़की पीछे देख रही है। बस इतनी ही तस्वीर है। वह रेशम हवा में लटकाया हुआ है। चूँकि रेशम पर बनी तस्वीर हवा में लटकी है, उससे आपको शिल्प का अनुभव होता है और इसलिए आप रेशम के पीछे जाकर देखते हैं और दंग रह जाते हैं जब आप पाते हैं कि वहाँ भी आपको पीठ ही नज़र आ रही है। आप शिल्प की प्रत्याशा में उस लटकती तस्वीर के चारों ओर जाते हैं पर पाते हैं कि वह दो आयामी तस्वीर ही है। यहाँ चमत्कार इस बात में है कि वह लटकती तस्वीर (रेशम) शिल्प नहीं है।

यह तस्वीर का अनुभव नहीं, 'यह शिल्प नहीं है' का अनुभव है!

नवज्योति : यह काल और दिक् में विचरण से लक्षित होता है। एक मुल्ला नसरूद्दीन हुए हैं। वे सूफ़ी थे। उनका ऐसा था कि वे जो भी दुनिया को बनाना चाहते थे, मज़ाक में या चुटकुले में बताते थे। जैसे जापानी काउन होते हैं। वह षष्ठपदी कविता होती है, काउन, उसमें गुत्थी होती है। मुल्ला नसरूद्दीन का स्वभाव था कि मज़ाक करो। उनकी क़ब्र है। क़ब्र मूर्ति होती है। उसमें एक दीवार का हिस्सा है जिसमें दरवाज़ा है, जिस पर कुण्डा लगा है, कुण्डे में ताला लगा है। क़ब्र के दूसरी तरफ़ जाएँगे वहाँ भी कुण्डा है, जिसमें ताला लगा हुआ है। दोनों तरफ एक-सा ही है। जो भी अन्दर है, वह बन्द है। अगर आप एक तरफ से नहीं जा पा रहे तो दूसरी ओर चल के जाएँगे पर वहाँ भी कुण्डे में ताला लगा है। वह क़ब्र भी देश-काल के विन्यास को लेकर ही बनायी गयी है। मुल्ला का एक किस्सा मुझे बहुत अच्छा लगता है, उसे मैं यहाँ बिना किसी प्रसंग के ही सुना देता हूँ। सूरज डूब गया, शाम हो गयी। गाँव के बाहर एक पेड़ था। उस पेड़ पर लालटेन टंगी हुई थी। मुल्ला उसके प्रकाश में कुछ खोज रहे थे। उधर से गाँव के लोग आ-जा रहे थे। उन्होंने पूछा, 'क्या हुआ मुल्ला, क्या हुआ?' मुल्ला नसरूद्दीन बोले, 'मेरी चाबी खो गयी है। मैं घर कैसे जाऊँगा!' वे लोग भी ढूँढ़ने लग गये। वे काफ़ी देर तक ढूँढ़ते रहे, वह मिली ही नहीं। वहाँ प्रकाश था पर चाबी मिली नहीं। गाँव के लोगों ने पूछा, 'मुल्ला ये बताईए कि वह चाबी कहाँ खो सकती थी, वह आपके पास कब थी? आप बताएँ तो हम अपनी खोज को उसके अनुरूप बना लेंगे। और उससे निश्चय चाबी मिल जायेगी!' वे सब खोजते रहे, चाबी मिली नहीं। मुल्ला बोले, 'वह चाबी तो गाँव के दूसरी तरफ़ खोयी थी!' तब गाँव वालों ने कहा कि क्या आप पागल है, तब यहाँ क्यों ढूँढ़ रहे हैं। मुल्ला बोले, 'जहाँ रोशनी थी वहीं ढूँढ़ रहे थे। अँधेरे में टटोलने का क्या मतलब है?' इस तरह के मज़ाक हैं, मुल्ला नसरूद्दीन के।

एक बार मैं हैदराबाद के क़ब्रिस्तान गया, वहाँ का चौकीदार बोला, 'यह क़ब्र एक बूढ़े-से इंसान की है। यह क़ब्र बहुत मशहूर है क्योंकि इसमें से सुगन्ध निकलती है और कुछ लड़कियाँ यहाँ आकर

रोती हैं और उस पर लेटती हैं।' कुछ क़ब्रों पर आप रात भर लेट सकते हैं। उससे सन्तुष्टि होती है। आप पूछ सकते हैं कि किसी क़ब्र से महक कैसे आ सकती है? तो उसका जवाब ये है कि अगर आपमें आस्था है तो महक ज़रूर आयेगी। मृतक था ही ऐसा आदमी, जिससे लोग बहुत प्यार करते थे। उस क़ब्र पर लोग चादर चढ़ाते हैं, उसे छूते हैं। कई लोगों को महक आ जाती है और जिन्हें आती है, वे बार-बार आते हैं। आपको नहीं आती तो न सही, आपमें आस्था नहीं है। दरअसल जब शिल्प स्मृति से रगड़ खाता है, ये सब चीज़ें हो जाती हैं। गाँधी की मूर्ति में आपको वीरता दिख जाती है। अगर आपने गाँधी को जाना है तो वीरता दिख भी सकती है। मूर्ति तो बूढ़े आदमी की है पर आप उसे देख कर सोचते हैं कि गाँधी में क्या दृढ़ता थी जबकि बूढ़े की मूर्ति में दृढ़ता कहाँ है? ये सारी चीज़ें अनुव्यवसाय से हो जाती हैं। चिदाकाश में अनुव्यवसाय चाहिए, फिर उससे गन्ध भी आ जाती है। लोगों के चिदाकाश के अनुव्यवसाय अलग-अलग हो सकते हैं। और चिदाकाश वही है जो उसने (शिल्पी ने) बनाया है, सतह को तराश कर। दरअसल वह सतह को उतना नहीं जितना परिवेश को तराशता है। सारे शिल्प स्वभावतः पदार्थ को नहीं, परिवेश को तराशने से ही जन्म लेते हैं। जब उसमें शून्यता बनती है, तभी उसमें चिदाकाश आता है। आप चिदाकाश के अन्दर जाकर तराश नहीं करते, उसके बाहर ही बाहर तराशते हैं। चित्रकला में आप चिदाकाश के अन्दर बैठकर तराशते हैं। इस तरह चित्रकला का शिल्प बिल्कुल अलग है, शिल्पकला का अलग। इन दोनों को बनाने की क्रियाओं में अन्तर है लेकिन कई चीज़ों में समानता भी है। इन दोनों ही कलाओं में जो चिदाकाश बनता है, उसमें कालिक वस्तुएँ रहती हैं। चिदाकाश जीवन्त चीज़ है, जिसमें सब कुछ चल रहा है। अगर उसमें गाँधी हैं, वे चल रहे हैं, उसमें गाँधी की सारी जीवनी आ गयी। इन सब चीज़ों से अनुव्यवसाय हो जाता है। अनुव्यवसाय वही होता है जो शिल्पी/चित्रकार चाहता था। वह 'प्रॉम्प्टेड' अनुव्यवसाय है। वह अक्षर इत्यादि से संचालित होता है। वह अपनी मर्जी से नहीं होता। अक्षरों आदि के निर्देश में होता है। शिल्पी चाहता था कि चिदाकाश में ऐसी गति हो कि मसलन उसमें गाँधी का व्यक्तित्व आ जाए। गाँधी की अपनी जो विशिष्टताएँ हैं, वे सब की सब आ जाएँ, समय के आर-पार ऐसा हो क्योंकि वे विशिष्टताएँ चिरकालिक हैं। यह सब अनुव्यवसाय चलता रहता है। जितनी भी दैशिक कलाएँ हैं, वे बाह्य रूप से दैशिक हैं और अन्दर से कालिक हैं।

उदयन : जैसे गाँधी का एक शिल्प है जिसमें वे लाठी लेकर आगे जा रहे हैं और पीछे लोग चल रहे हैं। इससे गाँधी के विषय में एक तरह का अनुव्यवसाय होगा। दाण्डी मार्च से जुड़ा अनुव्यवसाय। यानी शिल्प में शिल्पी अनुव्यवसाय की सीमा तय कर सकता/सकती है कि उसका दर्शक कहाँ-कहाँ तक जायेगा/जायेगी।

नवज्योति : यह शिल्पी करता है। उसमें जितने भी चिह्न हैं, वे उसने जानबूझकर बनाए हैं। मसलन लाठी डाली है, उन सबको झुका हुआ बनाया है, सबकी चलते हुए की मुद्रा बनायी है। मुद्रा चलायमान वस्तु का अंकन होता है। शिल्पों में मुद्राएँ होती हैं, चित्रकला में मुद्राएँ उतनी नहीं होतीं।

चित्र से रचित चिदाकाश में जो चल रहा है, उसका पूरा परिवेश चल रहा है। चूँकि वहाँ चिदाकाश को भीतर ही भीतर बनाया गया है वह चलता है। वहीं मानो किसी नर्तक का शिल्प है तो चिदाकाश में वह पूरा-पूरा नर्तक चलता है। उसकी आत्मा और शरीर सब। शिल्प उस चलन की विशिष्टता को मुद्रा में पकड़ लेता है। उस मुद्रा में सारे भाव आ जाते हैं। जैसा चित्रकला का संगीत से सम्बन्ध है, वही शिल्प का नृत्य से है। जैसे चित्रकला बाहर दैशिक है और अन्दर कालिक है। संगीत बाहर कालिक है, अन्दर दैशिक है। ऐसे ही शिल्प का बाहर दैशिक है, अन्दर कालिक और नृत्य बाहर कालिक है, अन्दर दैशिक है। उसमें तरह-तरह के भाव हैं। शिल्प में भी भाव आरोपित होते हैं। ये भाव क्षणों के मुद्रांकन में आ जाते हैं। शिल्प में एक क्षण में भाव को अकालिक रूप से पकड़ा हुआ है। उसे ही मुद्रा कहते हैं जो तरह-तरह की होती हैं। शिल्प में सबसे अधिक बोलती मुद्राएँ होती हैं। इसमें काल का इस्तेमाल मुद्राओं के संकेतन को व्यक्त करने किया जाता है।

उदयन : इसी प्रसंग में वास्तुकला क्या है?

नवज्योति : वास्तुकला में जीवन भरा पड़ा है। उसका साम्य नाटक से है जो बाहर से कालिक और अन्दर दैशिक। वास्तुकला में इससे उलट है। दैशिक और कालिक कलाओं की निर्मिति में उपयोग में आने वाले भौतिक पदार्थों के सन्दर्भ एक अन्तर यह है कि कालिक कलाएँ स्थूल शरीर से बनती है और दैशिक कला स्थूल पदार्थों से बनती हैं पर वे पदार्थ निर्जीव होते हैं। नृत्य, संगीत में शारीरिक क्रियाएँ किसी जीव की शारीरिक क्रियाओं से बनती हैं। दैशिक कलाओं का शरीर निर्जीव पदार्थों से बनता है। कालिक कलाओं में मानवीय शरीर का उपयोग होता है। आपको अभिनेता चाहिए, नर्तक/नर्तकी चाहिए, संगीतकार चाहिए, उसी जगह चाहिए जहाँ संगीत, नृत्य या नाटक हो रहा हो। पश्चिम में इसको उलटने की कोशिश हुई। संगीत लिख दिया है, सारी संगीत रचनाओं की स्वरलिपियाँ बना दी गयी। आप उसे कभी भी गा/बजा लीजिए। लेकिन इनमें भी शरीर तो चाहिए भले ही किसी और का शरीर ही क्यों न हो।

उदयन : अब वास्तुकला के विस्तार में जाना चाहिए। आपने शुरू में इस पर कुछ-कुछ कहा ज़रूर है पर इस पर विस्तार से विचार ज़रूरी है। यह बेहद व्यापक कला है।

नवज्योति : वास्तु सबसे विचित्र कला है। सबसे प्रचलित कला है। चित्रकला उतनी प्रचलित नहीं है। अब तो चित्र सब ओर हैं पर अब चित्रकला फोटोग्राफ़ी हो गयी है, कम-से-कम लोकप्रिय स्तर पर। आजकल चैत्रिकता (विज़ुएलिटी) बढ़ गयी है। कालिक कलाएँ कम हो गयी हैं। संगीत कम हो गया। संगीत लोग अवश्य सुनते हैं पर कलात्मक दृष्टि से संगीत में भी प्रयोगात्मकता कम है। 'सोनिक' कथ्य भी बढ़ गया है। पर वास्तु पहले भी थी, आज भी है और आगे भी रहेगी। वास्तुकला उपभोग के लिए बनी है। भोग के लिए बाकी सब कलाएँ भी बनी हैं पर उनमें दृष्टा के काल का सम्बन्ध वास्तु की तुलना में अलग है। वास्तु में दृष्टा का काल ज़रूरी नहीं है। यह ज़रूर है कि दृष्टा को वास्तु को समझने घर के अन्दर आना पड़ता है और वास्तु-पुरुष का उससे सन्निकर्ष होता है और उसमें

काल लगता है। पर वास्तुकला का चिदाकाश वास्तु-पुरुष होता है। इसे ऐसे भी कह सकते हैं कि वहाँ चित्त-पुरुष को चिदाकाश कह देते हैं। ऐसे ही शिल्प में मूर्ति-पुरुष है या मुद्रा-पुरुष है। ऐसे ही वास्तु-पुरुष होता है, जो वास्तु का चिदाकाश होता है। उसमें समय तो चाहिए पर वहाँ (वास्तु के) सन्निकर्ष में दृष्टा के काल की हरदम माँग नहीं होती। बल्कि उसका उल्टा होता है। वास्तु-पुरुष की छाया में आप सो सकते हैं। आप अपना मन शान्त कर सकते हैं। ऐसा होना कला की बहुत बड़ी उपलब्धि है। सोना शरीर का धर्म है। इसकी मनुष्य को आवश्यकता होती है और वास्तुकला वह उसे देती है। यह इसलिए है क्योंकि दृष्टा के काल का सम्बन्ध वास्तुकला से बिल्कुल भिन्न है। वास्तुकला भी दैशिक है। वास्तु-पुरुष के सारे अंग तत्काल उपलब्ध रहते हैं। वे एक ही काल में या एक समय में उपलब्ध हैं। पर आपको उसका स्वाद लेने में कई पल लगेंगे। जो कई पल आपको चित्रकला और शिल्प में लगते थे, वे ज़रूरी थे। वास्तुकला में ज़रूरी नहीं हैं। आपको वास्तु-पुरुष के सन्निकर्ष में भले कुछ पल लगें, पर उस सन्निकर्ष में आप अपना काल हटा भी सकते हैं, आप वहाँ सो सकते हैं।

उदयन : आप वास्तुकला में अपने काल को स्थगित कर सकते हैं।

नवज्योति : यह उसकी बहुत बड़ी उपलब्धि है। इसीलिए यह सबसे लोकव्यापी कला है। इसकी ज़रूरत आपको हर रोज़ पड़ती है। वास्तु नैसर्गिक भी होती है। ऐसी वस्तुओं की व्यवस्था जिसमें आप अपने काल का समर्पण कर पाएँ, वह वास्तु-व्यवस्था है। जैसे चित्रकला में अन्दर-अन्दर काम किया जाता है, शिल्प में बाहर-बाहर वैसे ही वास्तु में अन्दर-बाहर दोनों में ही काम करना होता है। वह एक साथ नहीं हो सकता इसलिए कभी अन्दर काम होता है, कभी बाहर। इस कभी अन्दर कभी बाहर में कोई क्रम नहीं है। इसलिए वह कालिक भी नहीं है। जैसे श्वास होता है कि समय लगता है पर यहाँ वास्तु में अन्दर-बाहर में क्रम नहीं है। वास्तु 'श्वासवान' होता है। उसका चिदाकाश फड़कता है। कभी बाह्यमुखी होता है, कभी अन्तर्मुखी। इस फड़कने से ही वास्तु बनती है। एक ग्रन्थ है प्रणव-वेद। पाँचवा वेद है, जैसे नाट्यशास्त्र भी पंचम वेद है। यानी चारों वेदों से अलग। उसके अनुसार वास्तु में घनात्मक ईकाई होती है, जिसमें श्वास चल रही होती है। वह निर्जीव है पर उसमें श्वास चलती है। लेकिन श्वास में क्रम नहीं है। जैसे जीवों में श्वास चलती है, जिसमें पहले वे साँस भीतर लेते हैं फिर बाहर छोड़ते हैं, वहाँ श्वास क्रमिक है पर वास्तु में श्वास अक्रमिक है। यह एक विशिष्ट कल्पना है। वास्तु की घनात्मक ईकाई होती है, जो धड़कने लगती है। इन ईकाईयों को जोड़ कर वास्तु बनती है।

उदयन : यानी इसमें बहुत-सी अ-क्रमिक श्वास लेती ईकाईयाँ हैं।

नवज्योति : बिल्कुल। जब आप दीवार खड़ी करते हैं तो वह अन्दर भी है और बाहर भी है। आप उसमें जो द्रव्य डाल रहे हैं, वह अन्तर्मुख भी है, बाह्यमुखी भी। पर एक साथ अन्तर्मुखी और बाह्यमुखी नहीं है। वह कभी अन्तर्मुखी होता है, कभी बाह्यमुखी। वह वैकल्पिक है। जैसे खिड़की है, उसका मुँह खुला हुआ है, या वास्तु की नाक खुली हुई है जिससे सामग्री अन्दर आती है, बाहर जाती है। वास्तु में ऐसी घनात्मक ईकाई होती है। आप रहने के लिए घर बनाते हैं। उसकी परिधियाँ

अन्दर-बाहर भिन्न हैं। पहले सोने के लिए भीतर जाते थे, जीने के लिए बाहर आते थे। आते-जाते समय घर खुले होते थे। वनवासी लोगों के घर तो अभी भी ऐसे ही होते हैं। पुराने गाँवों में घर ऐसे ही हुआ करते थे। अन्दर तो कभी-कभी जाते थे। बाकी सभी कामकाज बाहर होता था। चूल्हा, खाना-पीना, नहाना सब बाहर। बैठना गप्प मारना आदि। वह सारा परिवेश मिलकर ही वास्तुकला बनती है। उसका सम्बन्ध 'रहने' से है। आप जहाँ भी रहते हैं, वह वास्तु है। आप बाहर भी घूम रहे हैं तो वह वास्तु है। सड़क भी वास्तु है, बगीचे भी वास्तु है, इन सब चीज़ों में वास्तु है। आजकल लोग उसे लैण्डस्केपिंग कहते हैं। सड़क पर भी वास्तु होती है। कई-कई ऐसी सड़कें होती हैं, जिन पर बहुत दुर्घटनाएँ होती हैं, वहाँ वास्तु-पुरुष को शान्त करना पड़ता है। उसका इलाज करना पड़ता है। अन्दर-बाहर, बाहर-अन्दर आना-जाना, यह वास्तु है। कभी अन्तर्मुखी हो जाओ, कभी बाह्यमुखी। जैसे यह प्रश्न उठता है कि 'स्टेच्यू ऑफ़ लिबर्टी' वास्तु है या शिल्प। दूर से देखो तो वह शिल्प दिखता है, पर उसके अन्दर जाकर आप ऊपर तक चढ़ गये तो वह वास्तुकला हो गयी। अगर आप उसे बाह्यमुखी देखो तो वह शिल्प हो गयी और अगर अन्दर जाकर आपने कुछ खा लिया, या आराम किया, वहाँ कुछ देखा तो वह अन्तर्मुखी हो गयी। उसकी परिधि (एन्क्लोज़र) दोनों ही हैं। और उसके डिस्क्लोज़र या वास्तु के चिदाकाश में एक विशेष उपलब्धि होती है : आपको उसमें सान्त्वना मिलती है। वहाँ आपको अच्छा लगता है। यह अच्छा लगना चित्रकला और शिल्प कला में भी होता है पर थोड़ा होता है और वह दृष्टा के काल के खर्च पर होता है। वास्तु में दृष्टा का यह काल व्यय नहीं होता। लेकिन कुछ ऐसी वास्तु भी होती हैं, जो परेशान कर देती हैं। कुछ वास्तु आपको व्यस्त कर देती है। कुछ ऐसी होती है, जो पलायन करवा देती है। वास्तु में तरह-तरह के गुणात्मक चिदाकाश होते हैं।

उदयन : काल के समर्पण के अलावा वास्तु के और कौन-से तत्त्व होते हैं? काल के समर्पण का एक असर यह भी होता है कि दूसरे का काल आपको पूरी तरह ग्रस सकता है, जिससे 'भूत-बंगला' जैसी सम्भावना उत्पन्न होती है। यह सम्भावना केवल वास्तु में है, शिल्प में नहीं। चित्र में भी नहीं है।

नवज्योति : उन कलाओं में वि-मत हो सकता है पर वहाँ 'हॉण्टिंग' नहीं है। यह वास्तु में ही सम्भव है कि आप कहें कि 'हर घर कुछ कहता है' या 'दीवारों के भी कान होते हैं' आदि।

उदयन : शिल्प के कान नहीं होते।

नवज्योति : जैसे शहर का द्वार होता है, उसे लोग शिल्प कहते हैं पर वह वास्तु होता है...

उदयन : क्योंकि वह शहर को वास्तु में बदल रहा है...

नवज्योति : लोग उसके ऊपर उभरे हुए आकार देखते हैं...। जहाँ भी इन कलाओं का मिश्रण होता है, वहाँ इनके तत्त्वों के कारण विश्लेषण करने में आसानी हो जाती है। जैसे 'एम्बोस्ड' चित्र जो

तमिलनाडू में बहुत किया जाता है, लोक कलाकारों को यह सिखाया जाता है, उसके ऊपर वे कुछ मोती आदि लगा देते हैं। वह शिल्प और चित्र के बीच की कृति है। उसी तरह शिल्प और वास्तु के बीच की कृति या चित्र और वास्तु के बीच की कृति। ऐसे कई भ्रामक कला-रूपाकर बनते हैं। इन तत्त्वों की समझ के कारण उनका विश्लेषण बेहतर हो जाता है। जैसे 'रिलीफ़' होते हैं। या 'म्यूरल' होते हैं, वे शिल्प हैं या चित्र हैं। उन कृतियों का विश्लेषण इन तत्त्वों के कारण अच्छे से हो जाता है।

उदयन : जैसे साँची में पत्थरों पर 'रिलीफ़' है...

नवज्योति : एलोरा में पूरा का पूरा पहाड़ काट दिया गया है। वह वास्तु है। उन्होंने मन्दिर पहाड़ काट कर बनाया है। श्रमण बेला-गोला भी पहाड़ काटकर बनाया गया है, वह बहुत ही बड़ा है। पर वो वास्तु नहीं, शिल्प है।

मैं पिछले साल बच्चों को लेकर बाहुबली दिखाने गया था, कनार्टक में। वह मूर्ति एक पत्थर की बनी है। वह बहुत ऊँचा है। वहाँ पत्थर की सीढ़ियाँ चढ़कर जाया जाता है। हम लोग हज़ारों सीढ़ियाँ चढ़ कर वहाँ ऊँचाई पर पहुँचे। हम ऊपर पहुँचे ही थे कि बारिश शुरू हो गयी। मूसलाधार बारिश! इतनी अधिक मूसलाधार कि कहा नहीं जाए। हम वहाँ ऊपर केवल दस-बारह लोग ही थे। पुजारी वगैरह मिलाकर। वहाँ बैठने की जगहें थे। लोग बैठ गये थे। बारिश पूरे शोर के साथ हो रही थी। खूब पानी भरने लगा। लेकिन तब भी क़रीबन तीस प्रतिशत मूर्ति पर पानी नहीं गिर रहा था। उसके कुछ इलाकों पर पानी गिर रहा था, कुछ पर नहीं। उतने अंश सूखे थे। मूर्ति के पेट पर उभार हैं, उनमें से कुछ पर गिर रहा था, कुछ पर नहीं। परम्परा में शिल्प पुरुष को स्थापित करना होता है। अगर आपने परिवेश को तराश कर शिल्प बनाया है, आपने मूर्ति के चारों ओर का पहाड़ हटा कर शिल्प बनाया हो, उस शिल्प के बनने के बाद उसकी प्राण प्रतिष्ठा करनी थी। शिल्प-पुरुष को निकालना होता है। उसके लिए अभिषेक होता है। शिल्प के ऊपर से दूध डालते हैं, घी डालते है और भी क्या-क्या डालते हैं। ये सारी सामग्रियाँ मूर्ति की सारी सतह छू लें, ऐसा किया जाता है। इन सामग्रियों से सारी सतह छू ली गयी, उसके बाद उसमें चिदाकाश ठहर जाता है। उसके पहले तक वह मूर्ति में ठहरता नहीं है। जब यह मूर्ति बनी, ह्वसेला राज्य था। उनका प्रधानमन्त्री था चामुण्ड राय। उसने यह मूर्ति बनवायी थी। ये जैन लोग थे। उनकी एक रानी वैष्णव हो गयी थी। उनकी मूर्ति बेहद खूबसूरत है, उनका नाम था शान्तला देवी। उस शिल्प में जो मुन्दरी है, पत्थर की, उसे हिलाया जा सकता है। उस विराट बाहुबली की मूर्ति का जिसका हम ज़िक्र कर रहे थे, उसका अभिषेक हो नहीं पा रहा था। बहुत कोशिश की गयी पर वह नहीं हो पाया। उसकी सारी सतह को दूध या घी से छू पाना हो नहीं पा रहा है। इससे बड़ी बेचैनी हो गयी। चामुण्ड राय और उसके लोग परेशान हो गये। कई साल गुज़र गये। अभिषेक की पचासों कोशिशें हुईं पर सब विफल। उसकी माँ ने कहा कि यह अभिषेक तब ही हो पायेगा, जब चामुण्डा राय का यह अहंकार कि 'मैंने इसे बनवाया है', ख़त्म हो जायेगा। उनका कहना था कि मेरे बेटे (चामुण्डा राय) का अहंकार ही अभिषेक में बाधा बन रहा है। चामुण्ड राय को यह

बात समझ में आ गयी और उसने अपना अहंकार छोड़ा तब जाकर पूर्ण अभिषेक हो पाया। यह इसलिए बताया कि प्राण प्रतिष्ठा में कैसी-कैसी मुश्किलें आती हैं। बाहुबली का अभिषेक हर दस साल में होता है। पहला मस्तकाभिषेक होता है जिसमें मूर्ति के ऊपर से घी या दूध डाला जाता है पर इस मूर्ति ऊपर से डालने भर से अभिषेक नहीं होता। आपको नीचे से भी डालना पड़ता है।

उदयन : आप वास्तु-पुरुष को शान्त करने की बात कर रहे थे। वह क्या है?

नवज्योति : आजकल शान्ति के लिए स्टेंडर्ड ढँग वैदिक मन्त्र है, शान्ति-सूत्र। उसे पढ़ दिया जाता है। लेकिन प्रणव वेद (पंच वेद) की अपनी पद्धतियाँ थी, वास्तु-पुरुष को शान्त करने की। प्राण प्रतिष्ठा की भी। जब दूसरी विज्ञान कांग्रेस हुई थी, उसके दो शुभारम्भ हुए थे। एक में मैं और मेरा लड़का यजमान थे। उसमें कुल मिलाकर दो-तीन दर्शक थे। उसके एक-डेढ़ घण्टे बाद पूर्व राष्ट्रपति वेंकटरमण ने विज्ञान कांग्रेस का औपचारिक शुभारम्भ किया था। उसमें दो-चार हज़ार लोग थे। चैन्नई आई.आई.टी. के पास एक पार्क है, दूसरी ओर राजभवन है। बीच में एक जगह है गाँधी मण्डपम्। उसी के आगे अन्ना विश्वविद्यालय का फाटक है। उस मण्डपम् पर गणपति स्थपति के पिता को कहा गया कि गाँधी के पूरा होने पर मण्डपम् बनाओ। राजगोपालाचार्य ने उनसे ऐसा कहा था। पहले राजगोपालाचार्य भारत के गवर्नर थे पर धीरे-धीरे वे तमिलनाडू के ही गवर्नर रह गये थे। उन्होंने सोचा था, वहाँ गाँधी के नाम पर वास्तु-प्रतिष्ठा की जाए। कई यन्त्रियों, वास्तुविदों ने इसका विरोध किया। उनका कहना था कि यह स्थपति (गणपति स्थपति के पिता) मन्दिर आदि भले बना दें पर मण्डपम् अलग बात है। उसमें स्थायित्व यह कैसे लायेंगे। लेकिन राजगोपालाचार्य ज़िद पकड़ गये कि इतना बड़ा काम तो ये स्थपति ही करेंगे। लेकिन वह मण्डप बहुत बड़ी है और अभी भी है। उसके ऊपर कोई भी स्तम्भ नहीं है। उसके ऊपर छत है। उसे गणपति स्थपति के पिता ने ही बनाया है। आगे यूनानी रंगमंच की तरह बैठने की जगह है। मैं गणपति स्थपति के पास गया। उसने कहा कि हम पारम्परिक विज्ञान और टेक्नोलॉजी कांग्रेस कर रहे हैं, आप वास्तु पुरुष को जाग्रत करो। उसका धन्यवाद करो, उसको हमारा संकल्प बताओ। उससे आशीर्वाद माँगों। उसी मण्डप में कांग्रेस का शुभारम्भ ऐसा होना चाहिए। गणपति स्थपति बोले, 'ठीक है!' स्थपतियों के अपने ब्राह्मण होते हैं जिन्हें विश्वब्राह्मण कहते हैं। वे अनुसूचित जाति के होते हैं। वे मैसूर में रहते हैं। हमें कहा गया कि उन विश्वब्राह्मणों को बुलाया जाए, वे यह सब कर सकते हैं। हमने उन्हें बुलाया, वे खुश होकर आ गये। हमने पूरा अनुष्ठान डिज़ाइन किया था। यह लिखा गया था कि क्या-क्या होगा। उस अनुष्ठान में उस मण्डप में तैंतीस करोड़ देवी-देवताओं को बुलाया जायेगा। उनके साक्षित्व में वास्तु पुरुष को पुकारा जायेगा और वे विश्वब्राह्मण अपने प्रणव वेद से ऋचाएँ पढ़ेंगे। इससे वास्तु-पुरुष जाग्रत हो जायेगा। मैं उसका यजमान था। मैं और मेरा बेटा। उसमें संकल्प लेना होता है। वह क्या था? एक तो यह कि सारी कर्मठ जातियों के बीच मैत्री बने, उनमें सौहार्द्र बने। दरअसल वे आपस में कटे हुए हैं, यह कटाव ख़त्म हो। दूसरा संकल्प यह लिया कि इन जातियों के कौशल बने रहे, सब जगह पर। इन दो प्रतीज्ञाओं के लिए सारा

अनुष्ठान डिज़ाईन किया गया था। इससे कांग्रेस की स्थापना हुई। क्या हुआ कि स्मित कोठरी वहाँ किसी तरह से आ गया। उसने इस अनुष्ठान की दो-एक तस्वीरें ले लीं। फिर यह चर्चा भी वहाँ थोड़ी बहुत हुई कि ये लोग कुछ रहस्यमय कर रहे हैं। संस्कृत वाले प्रणववेद को तुच्छ नज़र से देखते हैं। वे कहते भी हैं कि इन्हें संस्कृत आदि आती नहीं, ये क्या पंचम वेद कह रहे हैं। प्राणप्रतिष्ठा के समय वास्तुकार नहीं रहता। उसे ब्राह्मण लोग आकर करते हैं। यजमान तो रहता है पर वास्तुकार नहीं। हम वहाँ पर विशेष कार्य कर रहे थे, वास्तु पुरुष को जगा रहे थे। हम यह उस मण्डप में कर रहे थे जिसे लेकर यन्त्रियों आदि में बहस हो चुकी थी।

उदयन : यानी वास्तु-पुरुष का यह अनुभव रहा होगा कि ऐसी बहसें कहाँ हो चुकी हैं।

नवज्योति : उसी के कारण वह मण्डप बना था। उसी पर हम अपनी पारम्परिक विज्ञान और टेक्नोलॉजी कांग्रेस में विचार करने वाले थे। हम भी यही कह रहे थे कि इन्हें मान-सम्मान मिले। इसलिए वैसा आनुष्ठानिक शुभारम्भ करना बिल्कुल उचित था।

महाकाल की दर कहो, साहूकार

कुमार मोहन्ती

ओडिया से अनुवाद : दिनेश कुमार माली

१.

क्या है दुःख की दर, कहो साहूकार
सुख की दर क्या, कहो
जीवन-मरण की दर तो गिन ली
'परम' की दर कहो
साहूकार
'सर्जन' की दर कहो।

तुम्हारी कितनी दर में
शून्य से फूटा अंकुर
पिता के बीज की दर कहो
कितनी दर में खरीदा
माता का गर्भशूल।
'ऊआँ, ऊआँ' आवाज़ की दर कहो
साहूकार
स्वर्गद्वार की दर कहो।

पृथ्वी की दर क्या होगी
कहो साहूकार

कितनी होगी जाति की दर?
ओड़िया जाति की
दर तो गिन ली
कैवल्य की दर कहो
साहूकार
विश्वास की दर कहो।

भरोसा दर के अभाव वाले
इस संसार में
अनुभूति की दर कहो
कवि के शब्दों में
दर का किया आकलन
अनाक्षर की दर कहो
साहूकार
'अन्तिम साँस' की दर कहो।
'अन्तिम साँस' की दर कहो साहूकार
महाकाल की दर कहो
दुःख की दर क्या कहो, साहूकार
सुख की दर क्या कहो ?

२.

हम सभी
अकेले-अकेले लोग
अकेले आते, जाते अकेले
लोप होते अकेले-अकेले।

देह देवल में गूँजता
महाकाल स्वर
शब्दों की ज़मींदारी पर
किसका अधिकार ?
बोता कोई, काटता कोई
खाता कोई और।

हम तुच्छ मिथ्या मालिक!

तेरे-मेरे के मोहासक्त
अन्धे जगत की
अंधेरी गलियों में खोजता
उजियाला घर
घर बताने के लिए
कहाँ है वे लोग?

हम खोजते राजपथ सारा
राजपथ देहली में
लोगों का बोबाली
लोगों का बहाना कर
खोजते अपनी पाली।

लूटने राष्ट्र देश
धर्म के वेश

कहो, हम किस देश के लोग!
अकेले आते, जाते
अकेले-अकेले लोप होते लोग।

३.

प्रणाम करो, देशवासियो!
आज कर उनका स्मरण
न्योछावर किया जिन्होंने अपना जीवन
ताकि हो सके हमारा भविष्य निर्माण।

प्रणाम करो, देशवासियो!
आज कर उनका स्मरण

न था उन्हें लोभ-लालच
न थी हिंसा मिथ्याभिमान
न थी उन्हें सत्ता की भूख
न था परायेपन का भाव

था केवल एक ही स्वप्न
मानव मूल का अन्वेषण।

मानव मूल को खोजते-खोजते
वे खो गये, पता नहीं, किस ठाँव
रक्त से लिखे उनके सपने
तिरंगा फहराने का गौरव।

गौरव के कहाँ उत्तराधिकारी
कहाँ उसके सुरक्षा प्रहरी ?

नहीं चाहते वे महिमा-मण्डन
हम खोजते, कहाँ-कहाँ शिरोमणि

एक-एक कर चले गये सब
रखते पाँव हम गिन-गिनकर।

घर के नीचे अब 'चोराबालू'
कौन भरेगा अब यह महागर्त ?

कितने-कितने सहे प्रहार
इस जाति ने, काल के पारावार
हार नहीं मानी भारत के
इतिहास ने युग-युगान्तर।

हम स्वप्न-विक्रेता दल
कहाँ गुम हो गये हमारे सपने?

४.

कोटि जीवनों के, कोटि सपनों के
आँसुओं के ज्वार में तैरती नौका
कल की छाती में आज को जलाकर
भविष्य हुआ था पैदा।

तीन रंग--आशाओं के अंकुर ने
आकाश में किया जुहार
हे अनाम !
क्या सावन में भी बीज हो गये खराब?

रिमझिम सावन की दुपहरी बेला में
कौवा करने लगा काँव-काँव
क्या कोई आएगा अनजान बटोही
विकल नदी की नाव ?

नदी में भँवरी, भँवरी में कात
बहाने लगी पवन
हे अनाम !
निश्वास में आशा की राह।

आशा-आशा में बीत गया युग
कौवा का कोयल के लिए बसा
कौन वह किसका अनजान व्यापार
जीवन-कपट-पाशा।

आज जो उज्ज्वल, कल वे मलिन
कपाल में लिखी दशा
हे अनाम !
सभी को गद्दी का नशा।

गद्दी के नशे में लड़खड़ाते क़दम
धन हो गया दण्ड-पलीता
धन के सहारे सत्ता अर्जन
गद्दी से स्वर्ण सीता।

बारबाटी खेत पड़े गोचर
नेत खा गये नेता
हे अनाम !
धन्य हमारी स्वाधीनता।

रात में गरजती साँय-साँय पवन
आ रही है कोई आत्मा ?
बिजली चमकती किसी दिग्विलय
सुनायी पड़ती घोड़ों की टाप

डरावनी आवाज़ें तोड़ती रात की नीरवता
'कल्कि' को क्यों हो रही देर
हे अनाम !
होने वाली है भोर।

५.

प्रथम शब्द, प्रथम अक्षर
प्रतीकरूप ओंकार सुन्दर
ओंकार से परे अनाहत सुर
सुर से परे अनाम सुन्दर

सुन्दर तो है सुन्दर
अब क्यों कर रहे हुँदर ?

क्या चलेगा जाति नन्दीघोष?
क्या दिखता है चलाने वाले रथी?
रथ रोकेगा रास्ता जब
क्या पता है पलायन वाली गली ?

धन के सिवाय कुछ सोचते हैं क्या ?
शमशान की गन्ध सूँघी क्या ?

भाव के बिना सभी अभाव
क्या यश-कीर्ति के लिए सारा संचय ?

बेचारा महाजन बनिया
क्या खरीद पाएगा प्रेम-प्रीति?
निर्माल्य के एक कण से तर जाती आत्मा
फिर छप्पन भोगों की क्या ज़रूरत ?

सुन्दर तो है सुन्दर
क्यों कर रहे हुँदर?
सुन्दर करो संसार
नहीं तो, अपनी गद्दी खाली कर।

६.

क्या नहीं किया बन्धु, क्या नहीं किया
मेरे पैसों से मुझे ही
नीलाम कर दिया।
बन्धुत्व बन्धु का पथ, पथ अन्तहीन
समय के गर्त में कथा अन्तहीन
झूठ को ठगने के लिए
पसारा आँचल
सत्य मानकर मैंने
परोस दिया खाने का थाल।
मुझे भूख के बहाने
मुझे ही लूटा

क्या नहीं किया बन्धु, क्या नहीं किया।

राजा-रजवाड़ों की गाथा केवल इतिहास
प्रजा के भूख नहीं होती हमेशा पौष मास
सात-सात दरवाज़ों के
ताले हुए खण्ड-खण्ड
पाँवों की साँकल
के टुकड़े हुए नवखण्ड।
मुक्ति का कहने पर बेड़ी
और कसकर बाँधी
क्या नहीं किया बन्धु, क्या नहीं किया।

गद्दी के लिए गोलमाल, नीति नहीं कोई
पैसा क्या सब-कुछ, सिद्धान्त-मूल्य नहीं कोई
विश्वास शिमली की रुई
हवा में उड़ी
जीवन नहीं वाणिज्य
मृत्यु अपरिहार्य
मेरे आँसू को बेचकर मेरा
सौदा किया
क्या नहीं किया बन्धु, क्या नहीं किया।

कपट चलता एक दिन, फिर दिन किसके लिए
पलक झपकते जीवन समाप्त, फिर मना किसके लिए
मना को मानती है कभी
गणिका का मन
निरीह चेहरा होता कभी
सती का चिह्न

काँच के घर में रह स्वयं ने
फेंके पत्थर-ईंटा
क्या नहीं किया बन्धु, क्या नहीं किया।

७.

नाम के लिए कोई पागल
कोई बदनाम
नाम जप-जपकर किसी ने
अर्जित किया सुनाम
किसने फिर माथा बेचकर
जीते कितने नाम
नामियों की दुनिया में
हम जो हैं अनाम
हम तो हैं बिलाल सेन
काल के अवतार में
कूर्म श्याम राम ।
बिलाल सेन ने देखा
घूमता सुदर्शन
किसका धनु किसका तीर
नाम मात्र अर्जुन
भाड़ेतिया कीर्तन वाले
करते भजन
एक मुट्ठी भोजन के लिए
ये सारा प्रहसन
काल करता गर्व-भंजन

गद्दी की उम्र तो मात्र दो दिन
आखिर साक्षी है शमशान।

गद्दी का कोकुआ छा जाता
क्या नगर, क्या गाँव
युवकों की मूँछों पर कहाँ ताव
हो गये वे कायर
कायर मरते
शताधिक बार
निडर मरता मीत
केवल एक बार
नहीं तो मुँह पर मधुर
और मन में अंगार
सिपाही ही चोर
चोर चोर चोर चोर
पुकारा चोर
चोर को खोजा
घर के भीतर बाहर
सभा-सम्मेलन में कितने
वाक-चतुर
चोर को देखा कहीं
अन्तर भीतर
बदल गया अन्तर
चोर या क्षुद्र रे
ऋषि रत्नाकर।

रूठे ऋषि पर
अब रूठता है कौन

खतरा देखे बिना ही
रोकने को उद्यत
व्यथा तो तुम्हारे मन की
करती मेरे मन को दहन
बातें हैं अन्तहीन
ढल रहा है समय
भले ही, मर जाए कुमर, कालिया !
तेरा क्या लेना-देना रे
अमिट रह जाती हैं कथाएँ।

८.

गाँव-गाँव घूमकर
कितना खोजता हूँ
बस्ती-बस्ती, घर-घर
आज बिन माँगा
मिला उस समय
जब बीतने लगी उम्र।

हाथ-पापुलियों से पोंछूँगा कितनी बार
मेरे चेहरे का चिन्ता पसीना
अपने लिए तो पूरी दुनिया पागल
कपाल फोड़ेगा तेरा
विश्वास आता
इस रास्ते से तो
भरोसा जाता उस रास्ते।

इस तरफ देखता हूँ पत्थर-प्राचीर
उस तरफ तैयार खड़ा है काल
दोनों तरफ से उठती है तेरे लिए पुकार
कहाँ फैलाओगे थाल ?
कह नहीं सकते
होंठों के फाँक
आँखों से तो माल-माल।
आकर चले गये पलक में रूप
झलसाकर दल-दल
तुम्हारे साथ मेरा कैसा परिचय
आती-जाती लहरों की तरह
रखना है जितना
सम्भाल कर रखा
मैं हूँ समुद्र का बालू तट।

जीवन तो सारा हलाहलमय
जिस कण्ठ में दिये मैंने सुर
उसी ने मेरे गले पर चलायी
छूरी बार-बार।
कुमर गिन रहा है
पाँवों की आहट
वयस और कितनी है दूर।

६.

दुःख के साथी तो तुम
दुखी मेरा जीवन

मनवन में अग्न
जलाता है सावन।
मेरे आँगन में श्रावण है तो
तुम्हारी आँखों में मेघ
मेरे उपवन में सुमन हैं तो
तुम्हारे जूड़े में लोभ

मैं जो था, वही हूँ
यही तो मेरा प्रेम
दुःख बढ़ाकर केवल
खोजते हो क्या प्रमाण ?

कौड़ी गिनते-गिनते सभी ने
बिता दी रात्रि।
चोर लेकर खिसक गया
तुम्हारी कजलपाति।

सम्भालने-सँवारने को कितना बचा जीवन
मनुष्य पागल केवल जीवन-जीवन।
सभी यहाँ पानी के बुलबुले
भोर गगन
सभी उड़ते सफ़ेद मेघ
थमता आँधी-तूफान।
किसी के छप्पर पर आम की डाली किसी के द्वार पर नीम
कहीं विवाह वेदी तो कहीं शमशान का नाम।
शमशान के पश्चात पूछो
कैसा है तुम्हारा रंग
सृजन का कैसा रंग
और कैसा सृष्टा का रंग

कितने रंग करते हो इधर
काला, सफ़ेद, लाल तीनों
डूबते-तैरते कितने काल

रंग कितने भिन्न-भिन्न
समझ नहीं पाया मन।

अरे बालखिल्य
उलटे वृक्ष की टहनी पर
आकाश में चेर
आकाश चीरकर हाथों से करता हूँ अंधेरे भजन
तिल-तिल अंधेरे का किया मैंने अकेले पान।

१०.

तुम्हारे प्रेम में डूबकर खो गया मेरा रंग
तमाल वन में हास
किसी का चौदह वर्ष वनवास तो
मेरा चौदह दिन का रास।

चौदह दिन में चौदह घटाया
फिर शेष रह गये दिन
दिन-रात कुछ समझ नहीं पाया
सुहाग रात का मन
माधवी लता में लपेटे हुए
अनसर मधुमास।

अनसर दाँड़ में छुपा इसलिए
शायद समझ लिया रोगी
स्नान करने के बाद नहीं छूता नीर
क्यों करते खेल

तुम्हारे अधरों का रस मेरे अंगों को भेदकर
करता है राजपथ में सहवास।।

राजपथ में चलता है मेरा रथ
कहने को खींचा जाता है
सारथी पकड़ते हैं घोड़े की लगाम
डाहुक का मति-भ्रम
मेरे-तुम्हारे भीतर सिहरन का नशा
मतवाली होती कण्ठ की क्षुधा।

मैं हूँ मतवाला तेरे प्रेम के खातिर
श्रद्धाबालू का घोल
शासक चूसते हैं तेरे रक्त की बून्दें
किन्तु तुम्हारे लिए नहीं पखाल
बन्धु! विगत वर्ष में जो आशा थी
इस वर्ष हो गयी गरल।

तुम्हारे दुखों से विदीर्ण होता है मेरा हृदय
फट जाए राजदण्ड
टूट जाए राज नन्दीघोष रथ
कहाँ है मेरे धनुष काण्ड
श्वेत अश्व मेरे अभी सजाओ, कुमर
अन्त हो जाए छलना इस बार।

अपने क़दमों के पास

प्रवासिनी महाकुद

ओड़िया से अनुवाद - कुलजीत

अपने क़दमों के पास

किसी के ख़िलाफ़ कोई शिकायत नहीं
न भाग्य के न भविष्य के
न ईश्वर न अपदेवता
न पुरुष के
हाँ, कभी फिसल गयी हो तो अपनी बेवकूफ़ी से

चाँद और तारों के साथ जब
बातें होती हैं आधी रात को
रात के सामने समर्पण में
विलीन हो जाता है
तुम्हारी निष्ठुर अनुभूतियों का जीवन

नारी मुक्ति के मोर्चे पर तुम कभी नहीं गयी
किसी माँग के समर्थन में
साहस की चरम सीमा पर पहुँच
हाथों में तख्तियाँ उठा कर नारे नहीं लगाए
मंगलसूत्र, सिन्दूर, चूड़ी, गहने, साड़ी
पायल, नेलपॉलिश आदि के प्रति आसक्ति
नहीं रही तुम्हारी
वह सब जो स्त्रियों को अति प्रिय है

पर तुम्हारा अन्तरंग
तुम्हारे लहू और आँसुओं की कविता
तुम्हारी अनुभूतियाँ
तुम्हारे तकिये और दो पलकों के आँसूओं के साथ
उतना ही जड़ित है
जितना दुःख तुम्हारे चेहरे पर झलकता है

तुम अपनी कविता में ही साफ़ नज़र आती हो
साफ़ नज़र आती हो अपनी कविता में ही
तुम साफ़ होती हो अपने निर्णयों में
किसी के ख़िलाफ़ तुम्हें कुछ कहना नहीं होता
तुम एक ऐसी सत्ता हो जो
शामिल नहीं होती किसी मोर्चे में
न किसी के वध में
न सुहाग में, न सुहाग रात में
बस शोक भरा जीवन लिए
आश्विन के हरसिंगार की तरह
झरती रहती हो
अपने ही क़दमों के आसपास

कुछ अक्षर

कुछ अक्षर उसे
इतने अन्तरंग, इतने निजी
और इतने निकट क्यों महसूस होते हैं ?

कुछ अक्षर उसे
आँसुओं में क्यों डुबो देते हैं

और कुछ दूसरे
उसके आँसू पोंछ लेते हैं
वे आँसू कहाँ चले जाते हैं
उसे पता ही नहीं चलता

हो सकता है वे आँसू उस जैसी
और अनगिनत औरतों की आँखों के हों
जिनके आगे कोई राह नहीं होती
जो उसी की तरह आवेग प्रवण
स्वप्न प्रवण, जीवन प्रवण
और होती हैं भग्न प्रवण भी
जिन्हें अपनी भूलों के लिए
उसी की तरह
बार-बार पछताना पड़ता है

आज तक वह, शायद
उन्हीं की बात करती आयी है
क्योंकि उसकी अपनी अनुभूति भी
उनसे कुछ कम नहीं

न जाने कैसे

न जाने कैसे
उसके पास बचा था
कुछ साहस
किसी दुस्साहसिक यात्रा के लिए

थोड़ा विश्वास भी था
अविश्वसनीय प्रेम के लिए
कुछ कविताएँ थीं
अपने में, क़िताबों की अलमारी में
पुस्तकों की दुकान में, पुस्तकालय में
कैन्टीन में, प्रेमी की नज़र में
माँ की रंगोली में, चिता में
बगीचे, फूल और बारिश में
कोहरे से घिरे
छिपते दिपते रास्ते पर
मन्दिर के प्रांगण में
देवता की मोहन मूर्ति में

नहीं जानती कैसे
बेहिसाब भीड़ के बावजूद
कुछ अकेलापन
बचा रह गया था उसके पास
उदासीनता भी थी कुछ
और चहुँ ओर के कोहराम में
जीवित थी थोड़ी नीरवता

यह सब था, इसीलिए
इतनी निस्संगता के बीच भी
वह जी पा रही है
सफलता और विफलता का
एक जीवन
बेमिसाल !

शीर्ष पर

वे सब पुरुष है
उनमें से एक मेरा पिता
एक भाई एक पति कोई प्रेमी
दूसरों से खून के रिश्ते
और कुछ विश्वस्त स्नेहिल मित्र

सच है कि पिता भी पुरुष ही होते हैं
पर वे ईश्वर की तरह होते हैं
पुरुष भाई होते हैं तो
सुरक्षा कवच बन जाते हैं
किन्तु मुझसे पति के बारे में
न पूछें तो बेहतर
पति जब अपदेवता हो जाता है
उसका छुपा पुरुषत्व कई कई रूपों में
सामने आने लगता है
तब तुम उसके लिए
बस एक खिलौना रह जाती हो
जिसे खेलने, बजाने से ऊब कर
अन्ततः तोड़ दिया जाता है
मुरझाए फूल की सूखी पंखुड़ियों-सा
झरता है प्रेम
तुम्हारे जीवन के सबसे असहाय
हाहाकार भरे जर्जर पलों में

नहीं, पुरुष के खिलाफ मुझे कुछ नहीं कहना
न हाथों में तख़्तियाँ लिए उसके विरोध में
किसी जुलूस में शामिल होना है

पर उसकी अमानवीयता से दूर रहना चाहती हूँ
उसकी ज़िद के सामने झुकने से इंकार करती हूँ

जिस दिन उस अन्तरंग
चेहरे को पहचान नहीं पायी
जो जीवन के 'डार्क रूम' से निकल गया था बाहर
उस दिन खुशी के पलों के सारे निगेटिव
जल कर राख हो गये

जिसके प्रेम में मैं हर युग में
रही मुग्ध विमुग्ध मन्त्रमुग्ध
वह परम पुरुष
जिसे समर्पित मेरी शेष आयु
जिसे मैं अपनी आत्मा से चाहती हूँ
पर सोचती हूँ
यह आत्मा स्त्री है या पुरुष ?

आत्मा स्त्री या पुरुष नहीं होती
पर यह कैसा विरोधाभास
मैं पुरुष आत्मा से प्रेम करती हूँ

अपनी कविता में महाकाव्य में
बार-बार जी उठना चाहती हूँ
काव्य के ऐश्वर्य, सौन्दर्य के शिखर पर
आवेग के अक्षरों में
जीना चाहती हूँ अपना मनचाहा जीवन

चेतना विवेक के शीर्ष पर
मैं चाहती हूँ
अर्धनारीश्वर का रमणीय जीवन

पुरुष के अहंकार से दूर
एक सार्थक काव्यात्मक जीवन
अस्वस्थ समय में एक स्वस्थ जीवन

फिर एक बार दोहराती हूँ
पुरुष के विरुद्ध मुझे कुछ नहीं कहना
पर हाँ, उसकी निष्ठुरता का प्रतिवाद
करना होगा हर तरह से
मेरी कविता के छलछलाते जीवन के बाहर

शेष हो रही कविता

क़लम से सूखती जा रही कविता
आत्मा में सूख रही कविता
उँगली की नोंक में यन्त्रणा
नीरवता में, धीरे-धीरे सूख रही कविता

जबकि एक समय
कोई न था पास
पर कविता सदैव रहती थी, छिपी हुई
आँखों के सामने खड़ी होती, न दिखती हुई
जब नींद न होती आँखों में
कविता उतर आती पलकों से

रक्त-सी लाल-भी कविता
नीरव विद्रोह-सी लाल-भी कविता
रति-सी रक्तिम-भी कविता

पेड़ की चोटी पर सूर्योदय-सी लाल-भी कविता
मासिक ऋतु जैसी लाल भी कविता

इतना लाल था यह सब
कि एक सिन्दूरी रक्त-राग लिए
सारी धरती पर फूट रही थी कविता
उसके जीवन के एक मौसम में
इतने इतने गुलमोहर के फूल खिल गये थे
कि दूसरा कोई रंग नहीं रहा उसकी यादों में

अब तक याद रही कविता ही
अब तक साथ रही कविता
प्रथम पाप की पवित्रता की तरह
गुलमोहर के लाल फूल खिल गये थे
कविता की देह पर

आज कविता की हर क़िताब से निचुड़ गयी हैं कविताएँ
ये अक्षर विहीन क़िताबें किसकी हैं?

नीरवता में कविता

पेड़ की फुनगी पर पड़ती
सूरज की किरणों में
कविता जा रही थी अपनी राह
एक स्त्री की नीरव दृष्टि
अचानक पड़ गयी निरायास
कुछ कविताएँ उतर आयीं चुपचाप

कविता अपने रास्ते जा रही थी
कोहरे और ठण्डी हवाओं की परवाह किये बिना
खिड़की खोलते समय
कुछ कविताएँ आ गयी अन्दर
पूछे बिना

अपनी राह जा रही थी कविता
स्कूल जाते बच्चों के कोलाहल में
देखते वक़्त छत से झुक कर
कुछ कविताएँ चली आयी नीरवता का रूप धर कर

कविता चली जा रही थी अपने रास्ते
फूलों की सुगन्ध से निकल
कुछ कविताएँ
आ गयी स्त्री के पास
उसकी खुशी के वास्ते

कविता उड़ रही थी
मेघों में घुमड़ती, आकाश की ओर
स्त्री ने ऊपर को देखा तो
नीरवता में कुछ और कविताएँ
बरसती हुई आयीं
उसके लहराते आँचल की ओर

अपने रास्ते कविता जा रही थी
स्त्री के अकेलेपन को और अकेला करती

पीड़ा के किसी नये उद्‌गम की नीरवता में
पीड़ा के साथ

बहती आ गयी कविता

कविता अपनी राह चली जा रही थी
अपनी सूक्ष्म संवेदना से पहचान
स्त्री ने इस बार
फैला दीं दोनों बाँहें
उन बाँहों के नीरव विस्तार में
निःशब्द समा गयी बाकी कविता।

डरी हुई हमारी ज़िन्दगी

ल्योनीद गुबानोव

रूसी से अनुवाद : वरयाम सिंह

१९४६ में मास्को में रह रहे साहित्यिक परिवार में जन्म। बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध के प्रतिभाशाली कवि के रूप में चर्चित। काव्यान्दोलन 'स्मोग' से सम्बद्ध। भूमिगत रचनाकारों में से एक। जीते जी बहुत ही कम रचनाएँ प्रकाशित। १९८३ में मृत्यु के बाद देश और विदेश के प्रतिष्ठित प्रकाशन संस्थानों से कविता संकलन प्रकाशित। कृतित्व पर अनेक शोध प्रबन्ध और आलोचनात्मक पुस्तकें।

डरी हुई हमारी ज़िन्दगी

हमारी ज़िन्दगी डरी हुई है इस आसमान से
और हमारी ज़िन्दगी से डरा हुआ है यह आसमान,
अच्छा है होना लोहे की नसों वाला स्मारक
मुलायम धमनियाँ मनुष्य के लिए ठीक नहीं।
गिर रहे हैं, गिर रहे हैं मृत पत्ते
मातम के वक़्त ऐसी चापलूसी से ज़्यादा मीठा कुछ भी नहीं।
काश, विदाई के वक़्त तुम्हारे लिए अगाथा क्रिस्टी हाज़िर होती !
काश, मेरे लिए उपलब्ध रहता एक काला चमकदार सलीब !
अधिक कुछ नहीं ... इस सैन्याधिकारी पर कुछ रहम करो
रहम करो कामेच्छाओं के सात सप्ताहों पर,
चर्च के पास से गुज़रती अनुभूतियों की फौज पर,
खरोचों की बटालियन पर सोये रहो !
मैं न तुम्हारा नाम बूझ पाया हूँ
और न ही खूनी खौफ़ के तुम्हारे रिश्तेदार पत्थर को,
तुम फिर से मेरे पास आये हो लालची हाथ फैलाते हुए

ठीक जैसे ऑर्गनवादक बाख़ की प्रार्थनाओं के पास।
मैंने नाटक किया ... मैं मर गया हूँ ... तुम दुःसाहस न करो,
वो देखो-एड़ियों के बल पहले ही खड़ी हो गयी है नफ़रत
ताकि देख सके-कितने डिग्री सेन्टिग्रेड की है यह उदासी,
मुझ जैसों के लिए केवल एक यही आकाश है,
घाटियों में कड़ी मेहनत कर रही हैं जिप्सी औरतें,
चीड़ का काला जंगल खर्राटे भर रहा है,
काँय काँय कर रही हैं उम्मीदें,
झील पर बेंत के कितने ही झाड़ क्यों न रोते रहें
सब कुछ ढक जाता है लहरों से, झूठे नक़्शों से,
पूरी आत्मा चरमरा रही थी, निराशाओं ने सुखा डाला उसे
लेकिन पूरी लादोगा को याद है मेरी हथेली।
मोटे चोग़े की बिजली ने उकेरे हैं कुछ शब्द
'याद है' और 'मुझ पर खुश है'।
इतनी सहजता से लिस्ट की भूमिका निभाते
लेकिन मेरी भूमिका प्राप्त हुई एक दूसरे अभिनेता को,
अनुमति मिली थी उसे फिर से यह भूमिका न करने की।
कितना अच्छा है होना जो हैं हम स्वयं,
और ज़्यादा चालबाज़ी न करना न भले के लिए न बुरे के लिए
आखिर चर्च के पीछे कहीं हम दफ़ना डालेंगे प्राम्पटर को
और पीयेंगे प्रसन्नता में डूबे !

मैं पी रहा हूँ ...

मैं पी रहा हूँ चाँदी की भाषा,
मैं सुन रहा हूँ प्राचीन लिखावट,
मुलाक़ातों के फड़फड़ाते पन्ने
शीघ्र विवाह की कर रहे हैं भविष्यवाणियाँ।

ज़री का काम अभी भरा नहीं है नफ़रत से,
पतले कन्धों पर बैठने की नफ़रत से !
अभी तक किसी डॉक्टर की ज़रूरत नहीं पड़ी
मेरे सफ़ेद सिर वाले अर्धविरामों को।
अभी तक वयस्क नहीं हुआ वो कवि
जो बजाता बांसुरी पर
मेरी विजयों की धुनें
सफ़ेद चुड़ैल के कमरे में।
बुला रही है क़ब्र की शिला ...
बात नहीं बन रही प्रेमिका के साथ
व्हेल मछली के जैसा एक बड़ा गिलास
भर डालो ऐशबेरी और शराब से।
गहरी नींद सो रहे तुम्हारे बंगले
हृदय के चौबारे पर बहस कर रहे हैं
कौन हैं वे जिनकी मृत्यु बेचैन कर रही है मुझे
क्या कह रहे हैं फूलों के ये हार
अपनी आत्मा के क़ब्रिस्तान में
मैं ढूँढ रहा हूँ अनाम स्त्री की क़ब्र ...
जिसे यूँ ही नहीं दफ़नाया गया यहाँ
इन शब्दों के साथ -
'मैं बदला लेकर रहूँगी'

मैं, मैं ही रहूँगा

मैं, मैं ही रहूँगा
कुछ भी हो, मैं, मैं ही रहूँगा
भले ही तुम्हारा दर्द
खोल डाले मेरे लिए नील लोहित द्वार।

मैं स्वयं अपने आपके लिए रहूँगा
बकाईन का अकेला झाड़,
मुझे डर नहीं किसी के भी काँटों का
हँसी नहीं आती किसी के भी पंखों पर।
मेरी रक्षा करेंगी भौहें
झिमड़ियों के बल यायावरी करूँगा।
तफ़रीह चाह रहा है हृदय,
नीले भ्रमों का अहसास हो गया है उसे।
घबराओ नहीं, मेरे होंठो,
परेशान न होओ, ओ मेरी बाँसुरियो।
आखिर हर तरह का गढ़ा एक नुक्सान है
और रही पहाड़ की बात
उससे तो मौत की गन्ध आ रही है।

प्रार्थना

पिघलो नहीं, पिघलो नहीं, ओ मेरे तारे
हम भी करेंगे मौज-मस्ती, ओ मेरे तारे !
इतनी पीने न दो
गोली का निशाना बनने न दो अपने ही हाथों !

कितना अच्छा है कि हम दोनों एक साथ हैं,
कितना अच्छा है कि हम कुबड़ा जाते हैं ईश्वर के सामने,
कितना अच्छा है कि ज़ार के सामने
पंख लग जाते हैं हमें !
हमारा गला काट दिया जाता है
ज़ार की ख़ातिर नहीं

बल्कि किसी पुराने अनुष्ठान की ख़ातिर।

जब बगल से उड़ रहा हो पुच्छलतारा,
तुम पिघलना नहीं, ओ मेरे तारे।
दुखी न होना पुच्छलतारे के लिए महज़ इसलिए
कि उसने छिपा रखे हैं सैंकड़ों रहस्य
हमारी सुबहों और शामों ने।
हम एक ही जैकेट के नीचे
इन्तज़ार कर रहे हैं उस अलौकिक हस्तक्षेप का।
दम घुटने लगता है
बारिश का होना जब हो जाता है इतना विरल।
मेरा तारा-मेरा सिर है,
प्रिये, फाँसी के तख़्त पर
मैं पहचान जाता हूँ जल्लाद की कमीज़,
पहचान जाता हूँ माया लगा आस्तीन।
कसी नसों के साथ नरक झेलने के बाद
अमर रहे तुम्हारी सुरा
बहती है जो साढ़े बारह बजे !
अमर रहे तुम्हारी आँखें,
अमर रहें आधे दुखी ये तुम्हारे फूल,
अमर रहे यह अन्धा उल्लास,
पीठ पीछे खुशी के ठहाके !

पिघलो नहीं, पिघलो नहीं, ओ मेरे तारे
होटल की तरह हमारे भीतर भी भर गया है शोर।
और यदि लिखा है हमने शब्द 'स्वर्ग',
ईश्वर से तो हमें करनी नहीं है कोई प्रार्थना।

आँखें साथ छोड़ देंगी

जब आँखें साथ छोड़ देंगी मेरा
बरदाश्त नहीं होगा जब एक भी आँसू
चला जाऊँगा मैं किसी दूसरी के पास
जैसे हिरण के पास जाता है चाकू
जैसे कोपिर्निकस के पास जाती है ईंधन की लकड़ी
पूरा हो रहा होता है जब ईश्वर का फ़ैसला।

खुदाई करने वालो, इतनी देर क्यों कर रहे हो,
डरो नहीं, तुम नीचे नहीं गिरोगे।
मैंने अपनी आत्मा को बदल दिया है एक खुरली में
इन नितान्त अकेले पक्षियों के लिए।
मेरे भीतर रहो ओ मेरी ज्ञान-दृष्टि
दर्द की इस रोटी के टुकड़े-टुकड़े कर दे
और अधिक उदारता के साथ
कि वह याद दिलाती रहे हमें इस मिट्टी की
याद दिलाती रहे सफ़ेद पक्षियों और दूसरों को भी।

सचमुच में यह बर्फ़ हो रही है,
हवा और बपतिस्मा की गन्ध आ रही है इससे,
तुम्हारी छाती के भीतर पूरी तरह अन्धा हो गया है
क्षमा का वो पिल्ला रो रोकर अन्धा हो गया था जो !
ओ अबोध शिशु, तू जो पड़ा हुआ मिला था कहीं,
कब छोड़ देगा अपनी माँ को ?
आओ, हम दोनों चल देते हैं किसी दूसरी के पास,
तुम ऐसे ही और मैं पथप्रदर्शक के रूप में ...
आओ, लाइलैक के जैसे इन होंठों में,
कुछ न देख पाती इन आँखों में,

सफ़ेद पत्थरों से बने इन गुम्बदों में,
आओ, चलें शरण ढूँढते हैं कहीं !

हँसते हो तुम- 'अपनी चाची के यहाँ नहीं,
कहाँ जाओगे मुझसे दूर भागकर ?'
क्षमा करना, हकलाते हुए क्षमा करना मुझे
कि मैं खेलने लगा हूँ तुम्हारी वेणी से।
सुनाने लगा हूँ हास्यजनक क़िस्से।
तुम्हारे सहमे-सहमे-से हृदय की क़सम
खा रहे हैं हंस झोपड़ी के पीछे।
मैं सुपात्र नहीं तुम्हारी शुचिता का
मुझे चूमा गया है, खंगाला गया है मुझे।

मैं चला जाऊँगा अब दूसरे होंठों के पास,
बर्फ़ के बीच बने किन्हीं दूसरे छिद्रों के पास,
मैं चला जाऊँगा दुखों और आश्चर्यों से घिरा।
किसी के लिए मैं प्रिय हूँगा,
अभिशप्त हूँगा किसी दूसरे के लिए,
किसी के लिए इतना रुलाया हुआ
और किसी के लिए इतना खुश।
नींद में तुम भेंट करती हो मुझे चुम्बन
इसी क्षण मैं पोंछता हूँ आँसू-
मैं प्रेम के भी योग्य हूँ
और पर्याप्त शत्रुता शेष है अभी कविता के प्रति।

शीत एवं अन्य कविताएँ

कमलेश राहा राय

बांग्ला से अनुवाद : उत्पल बैनर्जी

शीत

जलरंग की छतरी हिलाती
मेमसाहब-सी समुद्रसैकत पर निकल आयी है शीत
अज्ञातवास के बाद क्यों कैसी हो पूछते-पूछते ही --
गुफा से निकल आयी स्मृतिविजड़ित शीत
सारी-जारी-बोलान[१] गाती-गाती
शान्तिनिकेतन के पौष मेले में उतर आयी है शीत
गरम स्वेटर पहने श्रोताओं की भीड़ में बैठी हुई है शीत --

जाड़े में आँखों को शीतल करते रंगारंग जुलूस में है आपामर शीत
पुलिस थाने के सामने गुस्से से भरी खड़ी है प्रतिकारविहीन शीत
जाली मार्कशीट की तरह कुछ चतुराई करने को स्वेच्छाचारी शीत
यहाँ-वहाँ प्रशिक्षण ले रही है दुःसाहसी शीत
अहा! प्राइवेट ट्यूशन से ख़ाली पैर लौट रही है शीत
मेसबाड़ी[२] की कवि-संध्या में रवीन्द्र संगीत सुन रही है शीत।

---

१. सारी-जारी-बोलान : यह तीनों बँगला लोकगीतों के प्रकार हैं।

२. मेसबाड़ी : पुराने कोलकाता में मुख्य रूप से अविवाहित, बाहर से काम करने आए पुरुषों के लिए किराये पर मिलने वाले छोटे कमरे।

छिन्न-भिन्न मधुमास

कोई उस ओर मत जाना --
असहाय पिशाच-हवा है वहाँ
अनाथ आश्रम को घेरती आनन्द भैरवी

वहाँ हमेशा से है साँपिन बिजली
छिन्नभिन्न मधुमास, आधी नींद
आधे जागरण में है घर
फिर भी हौले-हौले उतरती है साँझ,
हर दिन दिगन्त तक ग़ोते लगाती है, क़दमों की आहट

गली-कूचों में फैल जाता है आतंक
पार्थिव हिंसा से शुरू करके
प्राणी और वनस्पति इस महाशून्य में
क्या सभी ठीक-ठाक हैं?

खेल-खेल में क्या कोई उस ओर गये है
उस ओर हैं अरण्य की शब्दावली और नदी
दक्ष राजमिस्त्री हर रात मारे जाते हैं,

कोई उस ओर मत जाना --
असहाय पिशाच-हवा है वहाँ
छिन्नभिन्न मधुमास, उस ओर मत जाना।

टूरिस्ट भवन में आकर

अपनी भूल की वजह से अन्त में
कहाँ रख दी है नदी मुझे याद नहीं

नदी की छोड़िए लेकिन मेरी तस्वीर में आँखें क्यों नहीं हैं
मज़बूत हाथों, और सीने के पंजर में
फिर-फिर खौल उठती है उबलती आग
तुम मेरी ओर जतन से
कभी नहीं देख सकीं
सिर्फ़ दूसरी ओर चेहरा रख कर
काँपती छाया की तरह छुए बिना काम नहीं चल सकेगा
इस तरह आवेश से भर दिया था एक दिन
उस दिन से महसूस होता है
अपरिचित हवा आकर लपक लेती है
इसलिए कि शायद खड्डों में तोप की आवाज़ है
फिर भी जाने कहीं झुलस रहा है मानपत्र
टूरिस्ट भवन में आकर मुझे झुलसने की गन्ध महसूस होती है।

जुगलबन्दी

भीतर अलिन्द में यह कैसा जुगलबन्दी का खेल है
एक चन्दन-चर्चित चाँद, सम्भवतः अँधेरे में
रक्त की बूँद की तरह झर जाता है

बीच-बीच में बहुत पास तक उठ आता है यमुना का नीला जल
और भी पास अन्तराल में मोहन बाँसुरी
कौन बजाता है नृत्य करते --
यहाँ क्या विमल कुंज है
गोधूलि साँझ को खिलती है रुनझुन रक्तकरवी

भीतर अलिन्द में फफक उठा है दुःख का निर्यास
आवेग के सेतु पर ईंट और पत्थरों की छाया

क्रमशः पैदल चले जाते हैं, कोई झुका हुआ
कोई मामूली जीत का गौरव संग लिये दिगन्त तक चला जाता है
कोई थम जाता है, पीछे मुड़कर देखता है अतीत संसार।

रास्ता

सहसा हृदय को चीरकर एक रास्ता
आग की तरह जलते-जलते बहुत दूर चला गया है
बीच में जंगल था, पत्थर, जल भरी भूमि और मेरी माँ की तरह
पूरे वक़्त खड़ा था रास्ते पर

मेरी दीठ में थी एक चोरनी सियार
और एक लड़की जिसने मल रखा था इन्द्रधनुषी रक्त

रास्ते ने उसकी कैसे उपेक्षा की
इतनी देर में हृदय को चीरकर रास्ता गाँव गया है शेफाली बीनने
यह बात पृथ्वी की गुल्मलता के साथ-साथ सभी जानते हैं
सभी ने स्वीकार किया कि उसे कोई रोग नहीं
वह पराजय और दहन-जैसा कुछ नहीं जानता
असल में निर्मोही है रास्ता
वह केवल हृदय को चीरकर चला जाना चाहता है

उत्तराधिकार

मैं गहन रात में समझ जाता हूँ शब्दों की एलिजी
जब आकर सीधे-सीधे मेरे सीने में बिन्ध जाती हैं
मैं उनके समर्थन में क्यों जागा रहता हूँ

मैं जितना बिंधता हूँ
उतना ही स्नायुकोष खोलकर देखता हूँ अनबुझा विष
मेरी देह से खींच लाती है पैदल छाया
मैं बड़ा होता हूँ --
मेरी तरल छाया पृथ्वी पर चारों ओर टलमल करती है
मैं तुच्छता से क्रमशः मुक्त होता जाता हूँ

कितना अजीब लगता है प्रकल्पविहीन यह टालमटोल
मैं विष के पत्थर पर बैठा चाँद का तर्जुमा देखता हूँ
किस तरह वह बाजूबन्ध खोलकर नाच उठता है रूपंग वैली में

इस तरह एक निर्माण से दूसरे निर्माण में
जेटी से किसी उत्स की ओर --
पैदल चले जाते हैं हमारे उत्तराधिकार।

सम्बन्धहीन नहीं यह वृत्त

सम्बन्धहीन नहीं यह वृत्त
कितने ही शब्द सरहद पार आकर कहते हैं
आओ, हम फिर से वज्र-विद्युत बनते हैं
अब मैं दे रहा हूँ बारिश, तुम अस्त्र धो लो

पिछले दिन तुम्हें सोचते-सोचते
बर्फ़ के घर में एक फाँक करुण रंगीन चाँद
और फटे-फटे-से तुच्छ बादल
मेरे मैं को कहाँ ले गये
तुम्हें पता है? जरुल[३] बकुल किसी को पता है?

३. जरुल : भारत एवं दक्षिण एशिया में पाया जाने वाला एक प्रकार का फूल। Lagerstroemia speciosa.

सभी हैं भीषण उन्मुख और पत्थर-पतंग-से
जिन्होंने अभिन्न हृदय से विजय का परचम उठाया था

अपने वृत्त में देखता हूँ कोई भी सम्बन्धहीन नहीं है
टहनियों पर पत्तों के गुच्छे जिस तरह कानाफूसी करते हैं
दरारों में तृष्णा का जल जिस तरह आत्मसुख देता है
और आज जीवन समीक्षा के जिस पथ पर उतरा हूँ
देखता हूँ ठीक ही हूँ।

स्निग्धगन्ध का मोह : मेरे इक्कीस

एक साल बाद मेरे सम्मुख तुम्हारे आकर खड़े होते ही
मन कैसा दर्द से भर उठा?
आँगन में फिर से बारिश में भीगे फूल कितने सुन्दर झूम रहे हैं
मेरे छूते ही तुमने बिखरा दिया
स्निग्धगन्ध का मोह समूची देह पर

इस बंगाल की माटी पर तुम्हारी उपलब्धि ने बहुत रक्त दिया है
इस माटी में झूम रहे हैं रक्तरंजित धान
और कल गुस्से में मैंने जो पत्ते तोड़ लिये थे
उनके ऊपर आज निश्चिन्त होकर जाग उठा है आसमान

आज मन-प्राण ढालकर लोगों का प्रवाह रास्तों पर उतर रहा है
कोई वर्ण नहीं, गोत्र नहीं, अतिरंजित अहंकार नहीं
जो जिस तरह कर सकता है बहुत स्वभाविक होते-होते
अपनी भाषा के प्रति रख रहा है हृदय

पृथ्वी के सभी लोग देख रहे हैं गर्म इस्पात
अपनी भाषा पा जाए तो किस तरह नक्षत्रमाला की तरह जल उठता है
जो भिखारी हर दिन फुटपाथ पर सहाय-सम्बलहीन पड़ा रहता है
उसकी इन्द्रियाँ चरम विश्वास में किस तरह झनझना रही हैं
जो पक्षी दुःसमय में ऊँघता रहता है नितान्त निःसंग
उस पक्षी के मधुर स्वर संहति की देह में किस तरह बिठा रहे हैं सुर

अपने बिम्ब साथ लिये तुम फिर से लौट आए हो मेरे इक्कीस
हमारी अनुभूतियाँ फिर से तुममें दोबारा जन्म ले रही हैं
तुम्हें लम्बी उमर मिले ...

पहली मुलाक़ात

अब मैं देख रहा हूँ बादलों का वैभव
मेह बरस रहा है
इसी बीच एक लड़की
गुम होकर जाने कहाँ
दोस्त समझकर जाने किस के साथ तोड़ रही है फूल --
पहली मुलाक़ात है
पहली बार किसी के अदेखे वह पक्षी बनी
उड़ती फिरी इस वन से उस वन
और वह लड़का?
ईसापूर्व अतीत से अकेले आकर
यह मन अब हट नहीं रहा है
चित्र के भीतर हो रही है बारिश
आवरण पर झमाझम

जयन्ती की एलिजी

उत्तर के इस पहाड़ के समतल पर आओ तो समझ पाते हैं
जयन्ती अब पहले-जैसी नहीं है
एक दिन बस से उतरने पर
वह हवा मुझे जकड़ लेती थी
वह हवा अब मुझे लाँघकर पछाड़ खाकर गिरती है पत्थर पर

बहुत मोहमय थी यह जयन्ती
मानो एक मानस-कन्या पल रही थी अरण्य कुटीर में
इसलिए स्तब्धता को तोड़ कर भागती
लुप्त रेलवे-कैंटीन के पास एक दिन
चूल्हे में आग देखकर लगा था
अहा, शायद जयन्ती के भात हाण्डी में खदक रहे हैं
इच्छा हो तो अब हम पत्तल रखकर बैठ सकते हैं
कौड़ी खेलने आकर जो पहाड़ी नदी
हमें पुकार-पुकार कर व्याकुल हो रही है
वह नदी झुक-झुक कर वृद्धाश्रम में लिख रही है दरख़्वास्त
उसकी आँखों में है काली छाया, खारा पानी

जयन्ती अब पहले-जैसी नहीं रही
पैरों की रुपहली पायल कब टूट गयी उसे नहीं पता
पत्तों-जैसे बादल उसे छूने आते हैं या नहीं यह भी नहीं मालूम
सिर्फ़ अपनी सोच में वह कैसी सिमट-सी गयी है
फिर भी मैंने पूछ ही लिया, कैसी हो जयन्ती --

आसमाँ की आस में कुछ पैबन्द नक्षत्र

वंशी महेश्वरी

आसमाँ की आस में कुछ पैबन्द नक्षत्र

वर्षों से
आज भी वर्षों की तरह
बीत रहे वर्ष,
वही चेहरा वही छवि वही दशा
घर कुछ और बूढ़े हो गये
कुछ और झुक गये हैं
पहले की तरह पहले भी नहीं रहा।

आसमाँ की आस में कुछ पैबन्द नक्षत्र
हरियाली की काया में छिपी
सूखती कुम्हलाती झुलसती पत्तियाँ
आत्मा के सन्नाटे में
गिरती हैं ख़ामोश।

धरती के आर-पार प्रतीक्षा की तलाश
सुबह-शाम धुँधली निगाहों में
बस्तियों के उजाड़ लिये
तिनके भरे धुँधलाते दृश्य तैरते हैं
काल्पनिक उम्मीद की मौसमी हवाएँ
बिना खुशियों की खुशियाँ लिये
अख़बार और क़िताब की तरह

फड़फड़ाती रहती है
हर समय।

आकाश में आकाश का टूटा अनन्त

उम्मीद की आँखों में
सम्भावना किरकिराती हुई
अवसाद का रास्ता बनाती है
मुश्किलें ठिकाने बदलती रहती हैं
चेहरों की सीढ़ियों से उतरकर
ठिठककर खड़ी रहती है उदासी
चुपचाप स्थगित होते जीवन में
खण्डित होती शुरुआत
कविता की बनती दीवार की तरह गिर जाती है।

शब्दों की भीतरी बुनावट में
मकड़ी जाले बुनती है
तार-तार होते रेशों में
बिखरी हवाओं के घर हिचकोले खाते हैं
कहीं नहीं दिखायी देता वैसा कहीं
जैसा कभी होता था कहीं
बची रह गयी हैं बस सूखी छवि
धरती का निर्जन स्वप्न
जल में घुलता जल
अग्नि में अग्नि का ठण्डापन
आकाश में आकाश का टूटा अनन्त
हवा में हवा का बिछोह।

धूप अँधेरे की दस्तक है

सुदूर पहाड़ों से उतरती धूप
धूप में अदृश्य छाँव मुस्कुराती
बन्द आँगन की सीलन में तमतमाती
घनी झाड़ियों में उलझती-सुलझती
जब अपने घर लौटने लगती है
धीरे-धीरे उसमें बसी छाँव
अँधेरा बन जाती है
डूब जाते हैं मनुष्यों के घर
डूबने लगती है धरती का पोर-पोर
धूप अँधेरे की दस्तक है।

इन्हीं अँधेरों में असंख्य अँधेरों की जीवन कथाएँ
पढ़ने के पहले ही विसर्जित हो जाती हैं
अँधेरा इतिहास रचता है
इतिहास अँधेरा घुप्प हो जाता है।

सुदूर
पहाड़ों से उतरती धूप
पहाड़ों के होने में बसी रहती है
जैसे अँधेरा बसा रहता है अँधेरे में
जैसे अँधेरे में हाथ नहीं उसका होना दिखायी देता है
जैसे अँधेरे में अँधेरी आँखों से इतिहास पढ़ना
वैसे ही जैसे होने में सम्भव है होना।

भूलना याद की प्रतिच्छाया है

भूलना
याद की प्रतिच्छाया है
अपने में सहेजी चीज़ें भी
भूल जाती हैं अपने में
याद दिलाती है याद
भूल को बचाने।

कमी नहीं है किसी चीज़ की
रखकर भूलकर खोकर
खोजती हैं चीज़ें
वे नहीं जानती
धड़कते समय की धड़कनों में
कितने लोगों की साँसों में अतिरिक्त रिक्त नहीं है
आ जाता है लौट-लौटकर बार-बार
वही झलक पलक झपकती छोटी-छोटी चीज़ें

भूल की याद में
चीज़ों के नक्षत्रों से भरा
चीज़ों का आकाश।

जो बचा वह कहाँ बचा

जो बचा वह कहाँ बचा
बचाने की पराजित कोशिश में
टूटकर बिखरते तारों की
धुँधली-सी चमक

पसरे अँधेरे में खो जाती है।

निश्चित से निश्चिंत होकर कहाँ होगा वह सब
कहाँ होगी वह जगह
जहाँ छिपकर बैठा एकान्त-अँधेरा
दोपहर की धूप के स्पर्श लिये
बार-बार
तरह-तरह की होती विदा में शामिल होता है
वैसे ही जैसे
लिखते समय
तेज़ी से आते विचार में फँस जाते हैं शब्द
फँसे शब्द फँसे रहते हैं
पंक्तियों की आँखों में
जीर्ण-शीर्ण अर्थ जगमगाता रहता है
अँधेरे के घर।

दुनिया नहीं दुनिया का आभास

कभी-कभी जाना चाहता हूँ
घर से दूर इतनी दूर कि पास की तरह लगे
भटकाव बदलाव की मीमांसा में
आवाजाही करता उड़ना चाहता हूँ
गुस्सैल हवाओं के साथ
हो जाना चाहता हूँ बवण्डर
नदी पहाड़ वनस्पति के पार
एक अलग दुनिया में
जहाँ दुनिया नहीं दुनिया का आभास हो।

कभी-कभी जाना चाहता हूँ
विकट के साथ
विकट धरती की सैर के लिए
विकट में चकित होकर
सम्भावना के विनाश में
मरी आवाज़ों के मरे उत्सवों में
रहते सहते सह में लोगों के बीच
बिखरते कँपकँपाते सकपकाते कराहते
स्वरों की दहशती प्रतिध्वनियों में
मनुष्यों की उखड़ी साँसों में
आँखों में
जल की बंजर लकीरों में
फीके पड़ते स्वप्नों के हिमपात में।

कभी-कभी जाना चाहता हूँ
हँसी के उजले मैदानों में
हँसते खेलते दौड़ते गाते बच्चों के आर-पार ठहर कर देखना चाहता हूँ
पीपल के गिरते कोमल पत्तों में छिपे रहस्यों में
हाथों की धार लिये
आख़िर वह कौन है शायद वही
शायद क्लान्त साँसों का दिवंगत।

कभी-कभी जाना चाहता हूँ
जय-घोष में
सीखना चाहता हूँ जय के तिलस्म
कैसे बाँझ हो जाती है
जय में लिथड़ी आवाज़ें
कैसे पराजित हो जाता है जयकार जुलूस
जाना चाहता हूँ

सूखी मिट्टी की सतह के ऊपर बिछी
सूखी परतों के भीतर मुरझाई नमी का सूखापन
पानी में रहकर मिट्टी
पानी में सूख रही है।

छूट चुकी चीज़ों के स्पर्श में

छूट चुकी चीज़ों के
स्पर्श में
फूलों की पंखुड़ियाँ होती है
छूट चुकी आवाज़ों में
प्रतिध्वनि गूँजती है
छूट चुके शब्दों में शब्दार्थ
शब्दावली की जिल्द में खो जाते हैं
छूट चुके समय में
शून्य की वर्णमाला गाढ़ी हो जाती है
छूट चुकी स्मृति में
बची रहती है वसुन्धरा।

बची रहती है जैसे
बीज से भरी धरती
अंकुरित होती है
गेहूँ की बाली
दूव की शिराओं में बहता है हरापन
घर की धमनियों में बहती है छाया
दीवारों के अन्तःकरण में बस जाती है
हथेलियों की छाप।

छूट चुके समय में
स्मृतियों का आकाश
तारों की आतिश में
जगमग होता
क्षितिज के अन्तस में जगमगाता है
धरती का घुप्प अँधेरा।

अन्तिम अन्तिम नहीं है

अन्तिम इच्छा
अन्तिम नहीं है
ख़ाली होती जगह में
ख़ालीपन भर जाता है
अन्तिम कुछ नहीं होता
प्रतीक्षा के घाव नहीं भर पाते
बार-बार आते हैं
आ जाते हैं सहसा प्रत्याशित में अप्रत्याशित।

कुछ नहीं बदलने से बेहतर है कुछ बदले
लिखने की कोशिश
अन्ततः लिखना ही होती है
कोशिश और लिखना दोनों अन्तिम नहीं होते
आते विचारों से पृथक हो जाते हैं लिखित विचार
धूल खाती क़िताबों को झटकारता समय
धूल-धूसरित हो जाता है।

चारों ओर होती हैं चारों ओर से घिरी परछाईं
जल में डूबी होती है जल की छपछप

जल के विलीन स्वर
अन्तस में भर जाते हैं चुपचाप।

अदृश्य अद्‌भुत होता
अँधेरे के ओझल मार्ग में
सरसराती हवा की साँय-साँय में
झिलमिलाती प्रभा बिछुड़ जाती है
बचा रहता है
अपने में अपना अन्तिम
अन्तिम नहीं है।

उनींदी आँख खोलते बीज

वसु गन्धर्व

वर्षा

वर्षा तुम्हारी सरसराहट की आवाज़ में
फिर लौटती शाम या भोर की पदचाप
कितनी दृढ़ होती है
ऐसे कि तुममें
वह अपने पुरातन घर लौट रही हो

आश्वस्त होते हैं
अभी-अभी उनींदी आँख खोलते बीज
जब तुम्हारा सौम्य स्पर्श उन्हें पृथ्वी में टटोलता है

हर बार तुम्हें ऐसे पुकारता हूँ
जैसे घर को पुकार रहा होऊँ
हर बार तुम्हें थमते देखता हूँ
जैसे थम जाता है घर का होना।

तरु को

सर्द धुंधलके के दृश्य भरते खालीपन
फेंफड़ों में भरता कोहरे में सिमटा आकाश

दूर अपनी छत से
मुझे दिखता है तुम्हारा वह वृक्ष

पृथ्वी बस एक स्पर्श से
भसभसा कर एक फूल की सूखती पंखुड़ी में सिमट सकती है
विस्मृति के बराबर एक समकालीन हिचकिचाहट भर निःशब्दता के मौन में
कैसे उतरता है पास साँस लेता पहाड़
चुम्बनों में भरी हैं विषाक्त हवा की सिहरनें
अपनी आत्मा की झंखाड़ हुई आकृति
किसी अन्य की पीठ लादते
यह किस राग से झुकता, लिपटता, सिमटता है सबकुछ

जल नहीं, अतीत सींचता है सबसे पुष्ट वृक्षों को

कि अनन्त कटते हुए वृक्षों की कथाओं से भरी इस वसुन्धरा में
कौन कुल्हाड़ी काट सकती है इसे

घूम कर यहीं अन्धकार में
लौटती हैं खोई वस्तुएँ अब तक
न जाने कितने समुद्रों के पार से
जैसे लौटती है तुम्हारी दृष्टि यहाँ

तुम्हारी बहन है वह जो आ रही है
कपड़ों की धूल झाड़ते
हँसते
तुम्हारा भाई
जाग गया है अपनी क़ब्र से

तुम्हारा वृक्ष सिसक रहा है अंधेरे में।

(सन्दर्भ में तोरू दत्त की कविता 'Our Casuarina Tree)

बीज

बीज के हृदय में
पहले पृथ्वी की सबसे आन्तरिक इच्छाएँ खिलती हैं
पहले आकाश अपने स्वप्न भरता है
पहले इन्द्रधनुष अपने रंग पिरोते हैं
नदियाँ भरती हैं गीत
मिट्टी भरती है अपनी सदियों की सजोई स्मृतियाँ

फिर वह होता है हरा

भूखे और दुखी
हम लौटते हैं बीज के पास
कि वह यह सब रहस्य बुदबुदा दे हमारे कान में धीमे से

कि वह हमें लौटाए
पृथ्वी की इच्छाएँ
आकाश के स्वप्न
इन्द्रधनुष के रंग
नदियों के गीत
मिट्टी की स्मृतियाँ

और हमारा नैसर्गिक हरा।

उपन्याय-अंश

नेमतख़ाना

ख़ालिद जावेद

उर्दू से अनुवाद - ज़मान तारिक़

मेरी याददाश्त एक चमत्कार है। मुझे सब याद है बस शर्त यह है कि उसे मैंने देखा हो, शायद आँखों-देखी याददाश्त इसी को कहते हैं। हालाँकि कुछ ऐसा भी है, जो मुझे याद नहीं आता या उसे मैं शब्दों में नहीं ढाल सकता, जैसे मुझे एक अँधेरी दुनिया का भी एहसास है, जिसे आप यमलोक कह सकते हैं, हालाँकि मेरा ख़याल है कि यमलोक केवल एक भ्रम और कल्पना है।

तो मुझे इस भ्रम का भी एहसास है, अँधेरी दुनिया की परछाईयाँ, वहाँ की वस्तुएँ, जो चाकू की नोक पर कँपकँपाती हुई उन आकृतियों की तरह हैं, जो कभी नज़र नहीं आतीं। शायद इसलिए कि चाकू से केवल सफ़ेद काग़ज़ पर लकीरें डाली गयी हों?

और वहाँ के खाने, उनका खट्टा-मीठा और तीखा स्वाद। और उन खानों की सुगन्ध, मेरे पेट की आँतों को उलझन में डालती हैं, जिसके कारण मेरे दिमाग़ के बायें भाग में कुछ असमंजस जैसी स्थिति पैदा हो जाती है।

मैं कभी-कभी तंग आकर इस संकट से छुटकारा पाने की कोशिश करता हूँ मगर मेरी याददाश्त, वह मेरा वफ़ादार कुत्ता दबे-पाँव मेरे पीछे-पीछे चला आता है।

बचपन में अक्सर सड़कों पर चलते समय मुझे लगता था जैसे कोई कुत्ता मेरा पीछा कर रहा है, अब जाकर मेरी समझ में आया कि वह मेरी याददाश्त थी।

ख़ैर! अब तो बहुत सी बातें साफ़ हो चुकी हैं जैसे कि ज़िन्दगी में मौत की याद और मौत में ज़िन्दगी की याद इस तरह घुली मिली है जैसे भूने जाते हुए चिकन में मसाला।

वैसे भी ज़िन्दगी और मौत में कोई अन्तर तो होता नहीं। मौत का छीना हुआ ज़िन्दगी में हासिल हो जाता है और मौत के अंधेरे में खोई हुई वस्तुएँ मिल जाती हैं।

इसीलिए इस बात का कोई प्रभाव नहीं पड़ता कि आप ज़िन्दा इंसानों का खून मुर्दों पर छिड़कते हैं या मुर्दों का खून ज़िन्दा इंसानों पर। दोनों हालात में नतीजा एक ही निकलता है, अर्थात कुछ खोकर

पा लेना या कुछ पाकर खो देना।

गणित का एक सामान्य विद्यार्थी भी इससे एक समीकरण बना सकता है। मगर इस समीकरण को हल करना या प्रमाणित करना बड़ा कठिन है। यह एक ऐसी प्रक्रिया है, जिसका मुझे लगातार सामना है और शैतान की आँत की तरह यह समीकरण फैलता और लम्बा होता जा रहा है। इसका कारण जहाँ तक मैं समझता हूँ शायद यह है कि इस यात्रा में इंसान अपनी आत्मा के भूगोल से हाथ धो बैठता है। कम-से-कम मेरे साथ तो यही हुआ। मैंने बचपन की अपनी ख़ाकी पतलून में अपनी आत्मा के भूगोल वाला फटा-पुराना काग़ज़ सँभालकर रख लिया था, मगर उम्र के न जाने किस पड़ाव पर और पता नहीं कौन-सी बारिश में वह गल-सड़ गया। मैंने उसे गँवा दिया।

अपनी इस बेरहम याददाश्त, थका देने की हद तक उस वफ़ादार कुत्ते से पीछा छुड़ाने के लिए यह तरकीब भी सोची कि मैं मुड़कर ज़ल्दी से इस कुत्ते का पट्टा पकड़कर उसे उपन्यास के कुँए में धक्का दे दूँ अर्थात् अपनी याददाश्त को मैं उपन्यास के रूप में ढाल दूँ और अपनी जान छुड़ाऊँ।

मैं और उपन्यास? यह सोचकर मुझे हँसी आती है मगर यह सच है कि कभी-कभी मैं सोचता हूँ कि एक उपन्यास लिखूँ। मगर मैं उपन्यास तो उपन्यास एक छोटी-सी कहानी भी नहीं गढ़ सकता बल्कि में एक पैराग्राफ़ तक नहीं लिख सकता। इसका एक, बिल्कुल सामने का कारण तो यह है कि मेरे अन्दर दयनीय हद तक रचनात्मकता का अभाव है और दूसरा, शायद अधिक महत्वपूर्ण कारण यह है कि बचपन से ही मेरी व्याकरण पूरी तरह ठप है। मैं कालों में अन्तर नहीं कर सकता। हाल ही में गुज़रा भूतकाल और काफ़ी पहले गुज़र चुका भूतकाल मेरे लिए एक ही है बल्कि वर्तमान और अतीत तो मुझे अनुभव और संवेदना के स्तर पर एक-दूसरे के जुड़वाँ नज़र आते हैं। यही हाल भविष्य का है, भविष्य-काल मुझे गुज़रा हुआ ज़माना ही नज़र आता है। बचपन में परीक्षा में व्याकरण के पर्चे में बस रट-रटाकर काम चला लिया करता था। इसलिए अफ़सोस कि मैं केवल मुक़द्दमों की अपीलें और अर्ज़ियाँ आदि ही लिख सकता हूँ, और वहाँ भी अक्सर मुझसे गड़बड़ हो जाती है, जिसे मेरा मुंशी ठीक कर दिया करता है। इस सम्बन्ध में, मैं अगर इतना नाकारा और अयोग्य न होता तो मैं वास्तव में उपन्यास लिखता।

मेरा उपन्यास ही मेरा घर होता।

मेरा घर, मेरा घर।

क्या आपको पता है कि घर का सबसे ख़तरनाक हिस्सा कौन-सा होता है?

मेरी विडम्बना यह है कि मैं अपनी याददाश्त के क़दमों की चाप से भड़क-भड़ककर भाग रहा हूँ और उन शब्दों के साथ जी रहा हूँ जो अभी लिखे नहीं गये। उन शब्दों के शोर में इस तरह लापरवाही से हाथ पैर फेंककर चल रहा हूँ जैसे बहरा हूँ। मैं तो बस अपनी बीती, भूली-बिसरी यादों के अँधेरों में लड़खड़ा रहा हूँ।

जाए सबकुछ जहन्नुम में जाए।

मैं शब्दों की गुलामी तो करने से रहा, जिस दुनिया में हर इंसान एक भयानक रहस्य की तरह दूसरे इंसान के जीवन पर छाया हुआ हो, उस दुनिया के बारे में और इंसानों के बारे में लिखना वैसे भी व्यर्थ ही होता।

हाँ मगर, इंसान की वास्तविकता के बारे में एक बात का मुझे बखूबी इल्म या एहसास है, बल्कि मैं उसे एहसास की सतह पर ही रखना चाहता हूँ क्योंकि एहसास जैसे ही इल्म बनता है, लोग इल्म को अपने दिमाग़ पर इस तरह बांध लेते हैं जैसे सूअर बाड़े में बँधा हो।

और वह एहसास यह है कि इंसान अपनी आँतों के अन्दर रहता है। इंसान के पोशीदा अंग तो केवल इंसानों के होने की सम्भावना, उनकी परछाइयों के ठिकाने हैं।

मानसिक रूप से और अपनी आत्मा के स्तर पर आदमी अपनी आँतों के अन्दर ही छिपा रहता है। अपनी बदनीयती, अपने चटोरेपन और अपनी भूख को, दूसरे के मुँह पर मारता हुआ, एक-दूसरे की भूख के तुच्छ लाल रंग से दूसरे का मुँह सना हुआ, यह खून की होली है।

खून?

खून, जिसकी महक मेरे बचपन की ज्यॉमेट्री की क़िताब में बने एक-एक वृत्त, एक-एक त्रिकोण में और गणित की हर उस समस्या में एक ख़ुफ़िया गुनाह और बड़ी भारी भूल की तरह शामिल है जिसे मैं कभी हल नहीं कर सका।

और यह भी एक ख़ुफ़िया बात है कि इंसान की आँतें ही उसका घर है।

घर??

क्या आप जानते हैं कि घर की सबसे ख़तरनाक जगह कौन-सी है?

याद रखिये, बावर्चीख़ाना एक ख़तरनाक और भयानक जगह का नाम है।

बावर्चीख़ाना एक ख़तरनाक जगह है।

हमारा घर कोठी की तरह था, जिसमें दो दालान थे। एक अन्दरूनी और दूसरा बाहरी। बाहरी दालान से लगा हुआ बरामदा था, जिसमें टीन पड़ा था। उसके सामने एक लम्बा-चौड़ा कच्चा आँगन जिसमें आम का पेड़ लगा था। बाहरी दालान से मिली हुई दोनों दिशाओं में कोठरियाँ थीं, एक कोठरी में बक्स ही बक्स रखे हुए थे। न जाने कौन-कौन से ज़मानों के बक्स और एक कोठरी में क़िताबें, जो अधिकतर पुरानी और ख़स्ता हालत में थीं।

बरामदे के टीन को लकड़ी के थमों और दासे के सहारे रोका गया था, दासे में जगह-जगह लोहे के हुक जड़े थे, जिनमें लालटेन जलती रहती थी। टीन के पूर्वी भाग में मुर्गियों का दड़बा और कबूतरों की काबुक थी। मुर्गियों के दड़बे से मिली हुई सीढ़ी थी। छत पर कोई इमारत नहीं थी। केवल

मुण्डेरें थीं, जिन पर दिन में कौवे, फ़ाख़ताएँ और जंगली कबूतर मटरगश्ती करते रहते थे और रात में आवारा बिल्लियाँ, यह अलग बात है कि हमारे घर में भी कई पालतू बिल्लियाँ थीं।

आँगन में दोनों दिशाओं में छोटे-छोटे पौधे लगे हुए थे और एक नारंगी का पेड़ भी था।

छतें सब लकड़ी की कड़ियों की थीं और ख़स्ता-हाल हो रही थीं, बारिश के दिनों में जगह-जगह से टपकती थीं। कड़ियों में छिपकलियों और चमगादड़ों ने भी अपने ठिकाने बना लिए थे।

आँगन के पूर्वी भाग में हत्थे वाला नल लगा था, जिसके नीचे एक छोटा-सा हौज़ था। यहाँ कपड़े और बर्तन धुलते रहते और गर्मियों के रूखे मौसम में ततैया इकट्ठा रहतीं।

इस नल के सामने बिल्कुल नाक की सीध में वो था।

वो यानी बावर्चीख़ाना।

बावर्चीख़ाने की कड़ियों की छत, कम-से-कम जब से मैंने देखा, धुएँ से काली ही देखी। इन कड़ियों में लटकते हुए मकड़ियों के जाले भी धुएँ से काले हो गए थे और उन पर धूल और मिट्टी की मोटी तह जम गयी थी। जब कभी (ऐसा कभी सालों बाद होता था) उन्हें बाँस के डण्डे से साफ़ किया जाता, वो फ़र्श पर काले कपड़े की पतली और बारीक धज्जियों की तरह नीचे गिरती। बावर्चीख़ाने की मकड़ियाँ और छिपकलियाँ भी, वहाँ अधिकतर समय बितानेवाली औरतों की तरह काली पड़ गयी थीं और शायद इसी कारण से वास्तविकता से कुछ अधिक ज़हरीली नज़र आती थीं।

हर तरफ़ की दीवार काली थी और हर कोना काला था। मगर इस कालेपन से वहाँ एक जाने-पहचाने और अपनेपन का एहसास क़ायम था। कभी-कभार जब बावर्चीख़ाने में चूने से पुताई करवाई जाती तो भी यह कालापन, सफ़ेद चूने के पीछे से झाँकता ही रहता और जल्द ही इस पर्दे से निकलकर बाहर आ जाता।

बावर्चीख़ाने का फ़र्श खड़ंजे का था और जगह-जगह से उधड़ रहा था, उसमें बड़ी-बड़ी दरारें थीं, जिनमें चींटियाँ और कनखजूरे रहते थे और कभी-कभी साँप के छोटे-छोटे बच्चे भी रेंगते हुए उन्हीं दरारों में गुम हो जाते थे।

बावर्चीख़ाने की छत के मध्य में एक कड़ी में चालीस वाट का बल्ब, बिजली के तार की एक डोरी से लटकता रहता था। उस ज़माने में हमारे छोटे से शहर में बिजली आ गई थी। मगर बिजली अधिकतर ग़ायब रहती थी इसलिए बावर्चीख़ाने के दरवाज़े की चौखट के ऊपर भी एक लालटेन हमेशा लटकी रहती थी। मुझे याद है कि यह लालटेन अधिकतर भड़कती रहती थी। इसमें कोई ख़राबी थी। यह मिट्टी के तेल की अधिक मात्रा को सहन नहीं कर पाती थी। अक्सर इसकी चिमनी एक छनाके के साथ फट जाया करती थी मगर पता नहीं क्यों, बार-बार चिमनी को बदलते रहने के बावजूद, कभी भी इस लालटेन को बदला नहीं गया, जिसके पेंदे में ही कोई ख़राबी थी या जिसका अपनी ही बत्ती से कोई झगड़ा था।

बिजली का तार लाल रंग का था, मगर बाद में,वह भी काला पड़ गया था और उसपर न जाने क्यों मक्खियाँ चिपकी रहती थीं। बावर्चीख़ाने की दक्षिणी दीवार पर रौशन-दान था। जो पाम के एक पेड़ की ओर खुलता था, कभी-कभी जब पाम के पत्ते पुराने हो जाते तो रौशन-दान से बावर्चीख़ाने के अन्दर झाँकने लगते बल्कि शायद अन्दर प्रवेश करने का प्रयास करते। पाम के ये पत्ते भी खूब थे, टीन से टपकती हुई बारिश भी पाम के ऊपर से गुज़रती और बूँदें यहाँ अलग अन्दाज़ से गूँजतीं। बे-जान धातुटीन और एक सजीव वस्तु पत्तों में संगीत का एक मुक़ाबला होता, एक उदास जुगलबन्दी। पाम के ये पत्ते जब बहुत बड़े हो जाते तो उन्हें आरी से काट दिया जाता और घर से बाहर फेंक दिया जाता, जहाँ मोहल्ले के बच्चों के एक हाथ रोचक कार्य आ जाता। वे इस मोटे, तर और हरे-भरे क़ालीन जैसे पत्ते पर बैठ जाया करते और दूसरे बच्चे डण्डी से पकड़कर उस लम्बे-चौड़े पत्ते को सड़क पर घसीटते फिरते।

मुझे अफ़सोस है कि मैं कभी पत्ते पर नहीं बैठ सका। दरअसल मेरी याददाश्त में पाम के पेड़ और बावर्चीख़ाने का आपस में इस तरह घालमेल है कि एक के बारे में बात करना दूसरे के बिना अगर असम्भव नहीं तो अधूरा और अतृप्त अवश्य है।

दूसरी ओर की दीवार में ईंटों की एक जाली लगी थी, जो ज़ीने की ओर खुलती थी। ज़ीने की चौथी सीढ़ी पर बैठकर बावर्चीख़ाने का दृश्य एक काली तस्वीर की तरह नज़र आता था, जिसके मध्य में एक लाल दहकता हुआ धब्बा था।

यह चूल्हा था, पिंडोल से पुता हुआ, जिसके पिछले भाग में ओनला था। एक खाना पक जाने के बाद उसकी हाँडी ओनले पर रख दी जाती, ताकि गर्म रहे। लकड़ियाँ अगर सूखी होतीं तो चूल्हे में धड़ा-धड़ जलतीं और अगर गीली होतीं तो सारा बावर्चीख़ाना धुएँ से भर जाता। चूल्हे के सामने बैठीं हुई औरतों की आँखों से लगातार पानी या आँसू बहते रहते। जो बावर्चीख़ाने के कालेपन में गीलापन भी पैदा कर देते थे। खाना पक जाने के बाद चूल्हे में भूभल बची रहती। एक स्लेटी रंग की राख जिसको कुरेदने पर शोले निकलते थे, अक्सर रात को दूध का बर्तन गर्म करने के लिए भूभल पर ही रख दिया जाता था।

हमारे घर में गोबर के उपलों का चलन नहीं था। गोबर के उपलों का अपेक्षाकृत ग़रीब और निचले वर्गों में उपयोग किया जाता था। मगर मुझे जलते और सुलगते हुए उपलों पर बनी चाय बहुत पसन्द थी। इस चाय में दूध की खुश्बू बहुत शुद्ध और ममता से भरी हुई महसूस होती थी।

मैंने ऐसी चाय कई बार पी है।

हाँ मगर हमारे यहाँ बुरादे की अँगीठी अवश्य थी, हर पन्द्रह दिन बाद एक आदमी ठेले पर बुरादे की बोरी रखे हुए प्रकट होता और बोरी को अपनी कमर पर लादकर लगभग दोहरा होते हुए उसे बावर्चीख़ाने की अँधेरी कोठरी में ले जाकर पटक देता।

उस अँगीठी में बुरादे को बहुत ठूँस-ठूँसकर भरना होता जो एक कठिन और तिकड़मी काम था। अन्यथा अँगीठी अच्छी तरह नहीं सुलग पाती थी।

चूल्हे से दो हाथ की दूरी पर दाईं ओर, दीवार पर ईंटों की एक अलमारी थी, जिसमें रोज़मर्रा के बर्तन और मसाले आदि रखे हुए थे। अक्सर यहाँ प्याज़ सड़ती रहती थी, फ़र्श पर एक ओर आटा गूँधने का पीतल का तसला, काले रंग का बड़ा और भारी तवा जो मुझे काले सूरज की तरह दिखायी देता था और जिस पर बड़ी-बड़ी गेहूँ की चपातियाँ पकती थीं। उन दिनों छोटे-छोटे फुल्कों का चलन नहीं था बल्कि उन्हें बहुत गिरी हुई नज़रों से देखा जाता था।

तवे के साथ ही इधर-उधर चिमटा और फुँकनी भी पड़े रहते। दोनों काले रंग के थे और हिंसक मालूम पड़ते थे। फ़र्श पर ढेर सारी, ऊँची-नीची, लकड़ी की पटलियाँ थीं, जिन पर बैठकर महिलाएँ काम करतीं और जाड़े के दिनों में सब लोग उन्हीं पटलियों पर बैठकर चूल्हे के आगे खाना खाते।

शबे-बरात के दूसरे दिन सुबह तो देखने का नज़ारा होता। घर का हर व्यक्ति, नाश्ते के समय, बावर्चीख़ाने में आकर पटलियों पर बैठ जाता और रात के बासी हलवे को चूल्हे पर गर्म करके ताम चीनी की प्लेटों में बासी रोटी के साथ खाता।

मैं यह बताना भूल गया कि बावर्चीख़ाने के अन्दर एक ओर, अँधेरी कोठरी थी, जिसमें अधिकतर अनाज, गल्ला, घी, तेल आदि भरे होते थे। इसमें बिजली का बल्ब नहीं था और दिन में भी यहाँ लालटेन या मिट्टी के तेल की डिबिया लेकर जाना पड़ता था।

बावर्चीख़ाने में हर तरफ़ एक बिखराव था। वह अराजकता का नज़ारा पेश करता था। जबकि देखा जाए तो खाना पकाने में सहायक वस्तुएँ या उपकरण आदि बहुत कम थे। केवल तवा, फुँकनी, चिमटा, पत्थर की सिल, ओखली और कुछ छोटे-बड़े चमचों या करछुल आदि से ही काम चला लिया जाता था। गर्म बर्तन को उठाने के लिए कपड़े का प्रयोग किया जाता था, जिसे साफ़ी कहा जाता। हालाँकि वह चिकनाई और स्याही से इस तरह सना होता कि औरतों की उंगलियाँ उससे चिपक जातीं। वैसे तो अनुभवी या मंझी हुई औरतें बिना साफ़ी के ही गर्म से गर्म बर्तन को चूल्हे से उठा लेतीं, उनके हाथों की खाल सुन्न हो चुकी थी।

बर्तनों में अधिकतर की तो पॉलिश उतर गयी थी। देगचियाँ, हाण्डियाँ, पतीले आदि की पॉलिश मैंने हमेशा उतरी हुई ही देखी। जहाँ तक खाना-खाने के बर्तनों का प्रश्न है, बावर्चीख़ाने में तामचीनी की प्लेटें ही थीं और चाय पीने के मग भी तामचीनी ही के थे। अच्छे और ढँग के बर्तन, दालान में एक अलमारी के अन्दर में रखे थे, जो मेहमानों की दावत आदि में ही बाहर निकाले जाते और धोकर तुरन्त दोबारा अपनी जगह पर रख दिए जाते।

दावतों और त्यौहारों आदि के अवसर पर तो बावर्चीख़ाने का यह कुप्रबन्धन और भी बढ़ जाता।

विशेष रूप से ईद के अवसर पर जब चीनी के प्यालों में सेवइयाँ रखी जातीं और खड़ंजे का फ़र्श इन प्यालों से ढँक जाता, जिसको फलाँग-फलाँगकर और अपने ग़रारों या शलवारों के पायचों को उठा-उठाकर महिलाएँ बदहवास सी, बावर्चीख़ाने में इधर-उधर भागा करतीं और अक्सर एक-दूसरे से टकरा जातीं।

क्या कभी इस बात पर गम्भीरता से विचार किया गया है कि बावर्चीख़ाने के लगभग सभी उपकरणों और वस्तुओं में, कुछ विशेष अवसरों पर एक ख़तरनाक हथियार बन जाने की सम्भावनाएँ छिपी हैं। चाहे वह तरकारी काटने वाली छुरी हो, तवा हो, चिमटा हो, फुँकनी हो, जलती हुई लकड़ी हो, चूल्हे में धड़ाधड़ जलती हुई आग हो, मसाला पीसने वाली सिल हो, पिसी हुई मिर्चें या भभकती हुई भूभल हो या फिर मिट्टी का तेल ही क्यों न हो। घर के किसी और भाग में इतनी अधिक मात्रा में ऐसी वस्तुएँ नहीं थीं। यहाँ तक कि बाहरी दालान की दीवार पर कील में टंगी बन्दूक़ भी इन वस्तुओं के आगे तुच्छ और कमज़ोर नज़र आती थी।

घर के किसी भी हिस्से में इतने ख़तरनाक बहरूपिये नहीं पाये जाते जितने कि रसोई में और घर के किसी भी और स्थान पर महिलाएँ इतनी क्रोधित, उग्र, ईर्ष्या से भरी हुईं, हिंसक और छोटी सोच की नहीं होतीं जितनी कि बावर्चीख़ाने में।

बावर्चीख़ाना चाहे घर के किसी भाग में हो या किसी भी दिशा या दशा पर बना हो, चाहे वास्तु-शास्त्र वालों से कितनी ही सहायता क्यों न ले ली जाए, वहाँ के लड़ाई झगड़े ख़त्म नहीं होते। बावर्चीख़ाना एक युद्ध-स्थल है और पूरे घर, पूरे ख़ानदान बल्कि मानव-जाति के भाग्य का फ़ैसला इसी छोटे से और देखने में साफ़-सुथरे और पवित्र स्थान से ही होता है। अदालत यहीं लगती है, मुक़द्दमा यहीं चलाया जाता है। पूरा घर अपनी मौन आँखों से यह तमाशा देखता है जब तक कि आख़िरकार वह खण्डहर न बन जाए। इंसानी आँतों की भूख और दो जून की रोटी में एक रहस्यमय और भयानक लालसा छिपी रहती है। यह लालसा केवल स्याही और ख़ून की तरफ़ बढ़ती है। आख़िरकार बस एक अश्लील और मुगालते से भरा लालच और लोभ बच जाता है। जिसके नशे में काली-पीली और गोरी महिलाओं को गर्म बर्तनों को अपने सुन्न हाथों से उठाते रहने की लत लग जाती है और बावर्चीख़ाने के बर्तनों से वे वही बर्ताव करने लगती हैं, जो वे अपने मर्दों से करती हैं। उनके मर्द धीरे-धीरे छोटे-बड़े बर्तनों में परिवर्तित होने लगते हैं। बावर्चीख़ाने में वे बेहद प्रबल और स्वार्थी हो जाती हैं। उनके शरीर की खाल सुन्न हो जाती है। महिलाएँ बावर्चीख़ाने के बर्तनों के साथ सम्भोग करती हैं।

उपन्याय-अंश

देखना

आनन्द हर्षुल

जीवन में, मित्रता की अनन्यता के साथ, हमेशा उपस्थित रहे चित्रकार-मित्रों-को...
आसिफ़, आनन्द टहनगुरिया और अजय यादव की स्मृति

वह देख पाता तो देखता कि जेल की दीवार कितनी मजबूत और ऊँची है। ऊँची है इतनी जैसे छू रही हो आसमान। वह देख पाता तो देखता कि जेल की ऊँची दीवारों से देखो तो आसमान, छतरी-सा दिखता है। दिन में नीली और रात में काली छतरी-सा दिखता है आसमान। काली छतरी में, टंके रहते हैं, तारे और चन्द्रमा। नीली छतरी में, सूरज, चन्द्रमा, बादल और मौसम रहते हैं। वह देख पाता तो देखता कि जेल के ऊपर का आसमान हमेशा उदास रहता है। जेल के इस उदास-आसमान की काली छतरी में, तारे और चन्द्रमा दिखते तो हैं, पर उनकी चमक धुँधली होती है। जेल के इस उदास-आसमान की नीली छतरी में सूरज, बादल और मौसम आते तो हैं, पर आते है ऐसे, जैसे यहाँ आने का उनका मन न हो। पर अगर जाते हैं तो जाते हैं खुश होकर। चलो मुक्त हुए, आसमान के इस उदास-टुकड़े से जो जेल के ऊपर छतरी-सा तना है। और यहाँ बने रहने से आसमान की चमक धुँधली हो जा रही है। उदासी-सी धुँधली। धुँधले आसमान में, धुँधला जाते हैं- सूरज, बादल, तारे और चन्द्रमा। मौसम सारे धुँधला जाते हैं। वह देख पाता तो देखता कि मौसम किस तरह धुँधलाते हैं, आसमान के उस टुकड़े में जो जेल के ऊपर छतरी-सा तना है। वह देख पाता तो देखता कि जेल का आसमान धुँधलाते मौसमों का उदास-आसमान है।

वह देख पाता तो देखता कि हवा में कैसे नाचती हैं सूखी पत्तियाँ, जब हवा रचती है, अपनी हँसी का घेरा। रचती है धूल का बवण्डर। बवण्डर गोल-गोल घूमता। हवा के हँसी के घेरे में, धूल के बवण्डर और सूखी पत्तियों के धूसर रंगों का खेल, वह देख पाता तो देखता। वह देख पाता तो देखता, हवा के हँसी के घेरे से बाहर, नाचते-कूदते, भूत-भूत चिल्लाते, दूर भागते बच्चों को। जिन्हें गोल-गोल नाचता हवा की हँसी का घेरा लगता है भूत-सा कि जिसके भीतर हुए तो वह उड़ा कर ले जाएगा अपने साथ, जाने किस दुनिया में और इस दुनिया में वह बच्चा फिर कभी कहीं नहीं दिखेगा। वह

देख पाता तो देखता कि बच्चे डरते तो हैं हवा के हँसी के घेरे से, पर हवा का हँसी का घेरा, बच्चों के लिए एक खिलखिलाता-खेल है।

वह देख पाता तो देखता कि बारिश जब पृथ्वी से टकराती है तो कैसे झमाझम मचलती है अपनी बूँदों में। मचलती बारिश की बूँदों में, भींगती है कैसे पृथ्वी। भीगे हुए फूल, पेड़, पौधे दिखते हैं कैसे, वह देख पाता तो देखता। वह देख पाता तो देखता कि कैसा दिखता है भीगा हुआ मनुष्य, इस पृथ्वी पर हो रही बारिश के बाद कैसा दिखता है आसमान, वह देख पाता तो देखता। वह देख पाता तो देखता कि बारिश बस रचती नहीं है सौन्दर्य। वह दुःख-दर्द भी रचती है। कई बार बहा ले जाती है, जीवन का बड़ा-सा हिस्सा। वह देख पाता तो देखता कि बह गये जीवन के बाद बची उस जगह पर, बचा रह जाता है मटमैला जल और कीचड़। मटमैले जल और कीचड़ में उभरे, मृत्यु के दृश्यों को वह देख पाता तो देखता।

वह देख पाता तो देखता कि कैसे उगते हैं पौधे, कैसे खिलते है फूल, कैसे पकते है फल। वह देख पाता तो देखता कि कैसे पेड़-पौधे, पर्वत, जंगल, मौसम-- रचते हैं रंग पृथ्वी पर। और पृथ्वी उनके रचे रंगों को कैसे सहेजती है। सहेज कर कैसे चमकती है पृथ्वी ब्रह्माण्ड में, वह देख पाता तो देखता। ब्रह्माण्ड का हर ग्रह पृथ्वी से ईर्ष्या करता है कि उसके पास जीवन है। मनुष्य है उसके पास। वह देख पाता तो देखता कि मनुष्य ने पृथ्वी को कितना धनी बना दिया है, अपनी बुद्धि और बल के उपयोग से। वह देख पाता तो देखता यह भी कि मनुष्य ने पृथ्वी को कितना निर्धन कर दिया है अपनी बुद्धि और बल के दुरुपयोग से।

वह देख पाता तो देखता कि मनुष्य की उपस्थिति पृथ्वी पर इस तरह है कि जैसे और किसी जीवित प्राणी की नहीं है। वह देख पाता तो देखता, मनुष्य का चलना, उठना, बैठना, नाचना, हँसना, मुस्कुराना...और यह समझ पाता कि अपने चलने, उठने, बैठने, नाचने, मुस्कुराने, हँसने में, हर मनुष्य कितना अलग है। है कितना मौलिक। वह देख पाता तो देखता खुद अपने चलने, उठने, बैठने, नाचने, मुस्कुराने और हँसने को, चाहे वह यह सब आईने में देखता या देखता कैमरे की नज़र से। वह देख पाता तो देखता आईना। कैमरे का जादू वह देख पाता तो देखता।

वह देख पाता तो देखता कि धूप कैसे उतरती है पृथ्वी पर और पृथ्वी में मौजूद हर वस्तु की छाया रचती है। वह देख पाता तो देखता कि मनुष्य कि छाया मनुष्य-सी रहती है हमेशा उसके साथ-साथ। वह देख पाता तो देखता, अपनी छाया को सुबह अपने सामने चलते हुए और शाम को अपना पीछा करते हुए। वह देख पाता तो देखता कि मनुष्य अपनी छाया में जीवित है कि अन्धकार में भी अदृश्य-सी उपस्थित हैं मनुष्य की छाया मनुष्य के साथ। मनुष्य की छाया ग़ायब तो पृथ्वी से ग़ायब मनुष्य। वह देख पाता तो देखता, मनुष्य के साथ ग़ायब होती मनुष्य की छाया को। वह देख पाता तो रख पाता, ग़ायब हो गये मनुष्य और उसकी छाया को अपनी स्मृति में। अभी वह मनुष्य की आवाज़ को रखता है अपनी स्मृति में, जब ग़ायब हो जाती है किसी मनुष्य की आवाज़ उसके आसपास

से तो ग़ायब हो जाता है वह मनुष्य, उसके लिए पृथ्वी से।

वह देख पाता तो देखता स्त्री का सौन्दर्य। सौन्दर्य के वे खूबसूरत उतार-चढ़ाव जो सिर्फ़ स्त्री के पास ही होते हैं। वह देख पाता तो देखता, स्त्री की हँसी, स्त्री की मुस्कुराहट, स्त्री के दुःख। वह देख पाता तो देखता। वह देख पाता तो देखता स्त्री के आँसू। वह देख पाता तो देखता कि स्त्री की आँखों में होता है, एक ऐसा समुद्र जो अपनी इच्छा पर, कभी आसमान, कभी जंगल, कभी पहाड़, कभी नदी, कभी झरना, कभी मन के सुनसान में बदल सकता है...तो वह देख पाता तो देखता कि स्त्री की देह से ज़्यादा मुखर होती हैं, स्त्री की आँखें। स्त्री की आँखों में, अपनी लहरों से जीवन को थपथपाता समुद्र होता है। इस थपथपाहट के बिना सूना रहता है पुरुष का जीवन। पुरुष का जीवन कई बार इस जीवन को थपथपाते समुद्र की खोज में ही नष्ट हो जाता है।

वह स्त्री को स्पर्श से और आवाज़ से जानता है। स्पर्श और आवाज़ के तिलिस्म में, वह खोजता रहता है अपने लिए जीवन को थपथपाते समुद्र को जो उसके भीतर बसे अँधेरे में आवाज़ और स्पर्श के जुगनुओं-सा चमकता है कभी-कभी।

वह देख पाता तो देखता कि एक नन्हें बच्चे के पास होती है, सबसे पवित्र, सफ़ेद फूल-सी धवल मुस्कान। ऐसी मुस्कान, ईश्वर के पास भी नहीं रहती है। ईश्वर इस बात पर शर्मिन्दा रहता है कि उसके पास नहीं है बच्चे-सी पवित्र मुस्कान। वह देख पाता तो देखता फ़ोटो में किस तरह ठहर सकती थी उसकी बचपन की मुस्कान, पर उसके बचपन की कोई फोटो कभी खींची ही नहीं गयी है। इस तरह उसके बचपन की मुस्कान गुम गयी बचपन में ही। ना गुमी रहती तो भी वह उसे देख नहीं सकता था कि वह बचपन में जब मुस्कुराता था तो कैसा दिखता था। वह अपनी उस फूल-सी मुस्कान को जो उसके बचपन के पास थी, बिना देखे बहुत पहले ही खो चुका है। अब जो मुस्कान उसके पास है, वह कब, कितने पहले उसके चेहरे पर आयी, यह उसे याद करना पड़ेगा। सच यह है कि उसे मुस्कुराए बहुत दिन हो गये। वैसे भी थका और हारा आदमी इस तरह मुस्कुराता है, जैसे बस अब रोने वाला हो।

पर वह देख पाता तो भी यह नहीं देख सकता था कि ईश्वर कैसा दिखता है। सच में ईश्वर, मनुष्य की कल्पना के बाहर क्या है? अगर ईश्वर ने ही उसे रचा है तो आँखें रचना कैसे भूल गया? यह एक बड़ी भूल थी, जिसके लिए ईश्वर को क्षमा नहीं किया जा सकता है।

ईश्वर जो क्षमा योग्य नहीं था, उसकी कल्पना में एक काले डोलते मनुष्य-आकार-सा आता था जो कुछ-कुछ उसकी तरह ही था। थोड़ा अजीब और पूरा अन्धा। जो बिना देखे, स्पर्श से वस्तुओं को रच रहा था और लगातार ग़लतियाँ कर रहा था। ईश्वर अक्षमता के मामलों में, उससे एक कदम आगे ही था कि उसके पास कान नहीं थे और ना ही स्पर्श था उसकी हथेलियों में। तो इस तरह ईश्वर देख तो पाता नहीं था और ना किसी को छू कर महसूस कर पाता था। वह सुन भी नहीं पाता था

कोई आवाज़ या किसी की आवाज़। तो उससे ज़्यादा बुरी स्थिति में ईश्वर था और इसके बावजूद, आँख वालों का उस पर इतना भरोसा था कि ईश्वर खुद अटपटा महसूस करता था।

उसका भरोसा ईश्वर पर बिलकुल नहीं था। उसकी माँ को था और अन्धे बाप को भी था। उसका बाप ढपली बजाते हुए, सूरदास के पद गाता रहा था जीवन भर। यहाँ तक कि जब वह ट्रेन के नीचे आकर मरा तो भी सूरदास का पद गाते हुए, ईश्वर को पुकार रहा था। मनुष्य ईश्वर को दोष नहीं देता था। जीवन में, कुछ अच्छा होता तो वह ईश्वर को उस अच्छे का श्रेय देते हुए, ईश्वर के प्रति कृतज्ञ बना रहता था। बुरा होता तो वह अपने ही भाग्य को कोसता था कि उसका भाग्य ही ख़राब है तो ईश्वर भी क्या करेगा।

अन्धों की दुनिया में भी ईश्वर की उपस्थिति ठीक इसी तरह थी। ईश्वर एक लाठी-सा उपस्थित था वहाँ भी। अन्धे, यह भरोसा करते थे कि अगर ईश्वर चाहे तो आँखें उन्हें वापस मिल सकती हैं। वे मानते थे कि इस जन्म में अन्धा पैदा होना, पूर्व जन्म के किसी पाप की सज़ा है, जिससे सिर्फ़ ईश्वर ही मुक्त कर सकता है...वह देख पाता तो ईश्वर के सामने काँपती-सी उपस्थित, अन्धों की इस दयनीयता को भी देख सकता था। देख सकता था कि अन्धों की रोती-गाती भीड़, जाने कितने युगों से, ईश्वर को पुकार रही है। जाने कितने युगों से माँग रही है ईश्वर से आँखें।

वह जन्म से अन्धा हैं। वह अपने चेहरे को टटोल रहा है जन्म से। टटोल रहा है अपनी समूची देह। वह जानता है कि उसकी देह अद्‌भुत उतार-चढ़ावों से बनी है। ऐसे उतार-चढ़ाव जो जहाँ खत्म होते हैं, वहीं से फिर शुरू हो जाते हैं : देह के अनन्त उतार-चढ़ाव। सिर के बालों से लेकर, पैर के नाखूनों तक फैले उतार-चढ़ाव। देह जैसे हर दिन अपने को बदलती है। देह जैसे भीतर ही भीतर भागती है। एक अन्धा आदमी अपनी भागती हुई देह को कभी नहीं पकड़ सकता। भागती हुई देह को, आँख वाला आदमी भी, कभी नहीं पकड़ सकता है। देह ही उसे पकड़ती है और बताती है कि वह उसके पास से खोती जा रही है। आँख वाला आदमी उसे बचाने की जतन करता है, पर बचा नहीं पाता और आख़िरकार खो देता है। अन्धे आदमी को उसकी देह कुछ नहीं बताती है कि अन्धे की देह, पकड़ ही नहीं पाती अन्धे के दिमाग़ को। अन्धा आदमी ही देह को पकड़ता है, अपने स्पर्शों से। अपने स्पर्शों से देह की आवाज़ सुनता है। सुनता है यह कि वह अपनी देह को धीरे-धीरे खो रहा है। वह स्पर्श से खोने की आवाज़ को सुनता है।

जन्म से वह दूसरों के चेहरों को, उनकी आवाज़ों से टटोल रहा है। वह सिर्फ़ आवाज़ें सुन रहा है जन्म से। कोई भी आवाज़ हो। हो कैसी भी। आवाज़ उसके कानों को छूते ही स्पर्श बन जाती है। वह आवाज़ सुनता है और उसे स्थूल में सोचता है। अगर मनुष्य की आवाज़ है तो वह उस आवाज़ से, उस मनुष्य के चेहरे को रचने की कोशिश करता है और यह रचाव उसके अपने चेहरे के उतार-चढ़ाव के आसपास घटित होता रहता है। अगर पानी के गिरने की आवाज़ है तो वह हथेली

में गिरती बूँदों को सोचता है। सोचता है पानी का गीलापन। वह पानी में भीगने से पहले, पानी की गीली आवाज़ से भीग जाता है। उसने धूप को नहीं देखा है। नहीं देखा है सूरज को। चन्द्रमा को भी नहीं देखा है। उसने सुबह और शाम को नहीं देखा है। उसने मनुष्य को नहीं देखा है। उसने इन्हें सुना है बस। सुना है उनसे जिनके पास आँखें हैं। इस तरह एक सुनी हुई दुनिया में, मनुष्य... धूप... सुबह... शाम... चन्द्रमा...तारे उसके भीतर आते और जाते हैं। सुनी हुई दुनिया में, मनुष्य...धूप... सुबह... शाम... चन्द्रमा...तारों का आभास, उसके भीतर आता और जाता है। सुनी हुई दुनिया से, दूसरों की देखी हुई दुनिया की तलछट उसके पास रहती है।

बहुत-सी चीज़ों को वह अपने स्पर्श से भी जानता है। हैं जो उसके आसपास। हैं जो उसके स्पर्श की हद में। वह अपने रास्ते में आयी वस्तुओं को, अपनी छड़ी से छूता है। छूता है फिर अपनी हथेलियों से। वह अपने दिमाग में उनका आकार रचता है। रचता है वह उनकी जगह वे कहाँ हैं। अगर कोई उस वस्तु को अपनी जगह से हटाए नहीं तो वह हमेशा उसके दिमाग में, उसी आकार की उसी जगह बनी रहेगी।

इसके बिल्कुल अलग, बहुत सी चीज़ें ऐसी भी हैं जो स्वयं छूती हैं उसे। धूप छूती है उसे : वह सूरज को महसूस करता है। छूती है हवा उसे : वह मौसम को महसूस करता है। छूती है गन्ध उसे : वह सुगन्ध-दुर्गन्ध को महसूस करता है। छूती है आवाज़ उसे : वह महसूस करता है मनुष्यों को, पशु-पक्षियों को और उन वस्तुओं को जिनके भीतर है आवाज़। रोशनी भी छूती है उसे, पर वह रोशनी को महसूस नहीं कर पाता है।

अगर हमारे पास पूरा शरीर है, पर आँखें नहीं हैं तो हमारे पास बहुत-कुछ नहीं रहता है। दुनिया में कितने-सारे रंग है। रंग आपस में मिलकर नया रंग रच लेते हैं। रंगों की असंख्य छवियाँ हैं। पर अन्धे के पास रहता है, बस एक ही रंग। एक ही रंग रहता है : गहरा काला रंग। कोलतार की तरह काला और चिपचिपा। चिपचिपा इतना कि हम कभी उसे अपने मन से छुड़ा नहीं सकते। कितना भी उसे खींच लो वह मन से जुड़ा ही रहता है--रबड़-सा। खीचो-तानो और फिर छोड़ो, तो वापस वहीं। कितनी भी कोशिश कर लो, उसे मन से बाहर खींच पाना मुश्किल ही है। और हम कभी यह नहीं समझ पाते हैं कि यह जो काला है, बहुत से रंगों की तरह, पृथ्वी पर एक रंग ही है। तो आवाज़ें जो बन जाती हैं एक अन्धे की देह का स्पर्श, काले रंग की विविधता को रचती हुई ही बनती हैं स्पर्श। बिना आँख के आदमी के लिए, स्पर्श और आवाज़, काले रंग की विविध छवियाँ हैं। इन छवियों में ही, पृथ्वी को महसूस करता है एक अन्धा आदमी। एक अन्धे आदमी के पास, मनुष्य, पशु-पक्षी और वस्तुओं की आवाज़ ही उनकी पहचान है। अगर वह उन्हें स्पर्श कर पाया तो स्पर्श ही आकृति की पहचान है। आवाज़ और स्पर्श, यह दो छोरों पर, वे चीज़ें है, जिनके बीच हवा में, तनी हुई रस्सी पर, एक अन्धा आदमी जीवन भर चलता है। गिरता है औंधे मुँह और गिरकर फिर उसी रस्सी पर चढ़ता है। यह जो स्पर्श और आवाज़ की रस्सी है, उसके जन्म से मृत्यु तक तनी हुई रस्सी है। यही

तनी हुई रस्सी उसका जीवन है।

वह अन्धा है। उसका बाप भी अन्धा था। माँ के पास आँखें थीं। पर कई बार वह अपनी आँखों को खोने की सोचती थी कि वह उन जैसी हो सके। आँखें थीं, फिर भी माँ के हाथों में एक डण्डा रहता था। जिसका एक छोर माँ के हाथ में था और दूसरा बापू के हाथ में। माँ अपने आँखों के साथ, एक छोर को पकड़े आगे चलती थी। बापू दूसरे छोर को पकड़ा, माँ के पीछे चलता था--बिना आँखों के। दो लोगों के बीच, एक के पास ही आँख थी। दो लोग, एक जोड़ी आँख के साथ, ट्रेन के आने पर, प्लेटफार्म पर, इस छोर उस छोर होते रहते थे। उसका अन्धा पिता, अपने दाहिने हाथ में पकड़े, जर्मन के कटोरे को हिलाता रहता, जिससे सिक्कों की खनक की आवाज़ बिखरती रहती। सिक्कों की खनक से जर्मन का वह कटोरा बदरंग हो चुका था-- जगह-जगह से। पर यह सिक्कों की बिखरती आवाज़, लोगों की भावना को दिशा देती थी। दया की दिशा। और अन्धे पिता के हाथ के कटोरे में सिक्के बढ़ते जाते थे। माँ के चेहरे से कातरता टपकती थी लगातार। वह भी अपने दाहिने हाथ के कटोरे को, अपने माथे की ओर ले जाते हुए, सिक्कों की आवाज़ बिखेरती रहती थी। प्लेटफ़ार्म में, जितनी ट्रेन आतीं-सुबह से लेकर शाम तक, वे दोनों इस प्लेटफ़ार्म से उस प्लेटफ़ार्म तक दौड़ते रहते। बाकी समय प्लेटफ़ार्म के बाहर बैठे रहते एक जगह पर जो दो नम्बर प्लेटफ़ार्म जाने वाली सीढ़ी के नीचे थी और एक नम्बर प्लेटफ़ार्म में नहीं जाने वाले सभी यात्री, इसी सीढ़ी से दो से पाँच तक के प्लेटफ़ार्म के लिए जाते थे। कटोरे में अक्सर खाने का सामान भी गिरता था, यह बचा-खुचा रहता, पर अगर ताज़ा रहता तो उस बचे-खुचे के पास उन्हें पूरा स्वाद मिलता था। अगर खाना उतरा होता तो उसे वे फेंक देते और मन ही मन, देने वाले को गालियाँ बकते और कोसते थे। पता नहीं उनकी गालियों और कोसने का असर, उतरा खाना देने वाले पर क्या होता था...वह चलते-चलते गिर पड़ता था या नहीं...उसके मुँह में कीड़े पड़ते थे या नहीं...पर अन्धे और उसकी पत्नी के भीतर गाली देने के बाद, एक गहरा सन्तोष आता था...यह लगभग कुछ इस तरह का सन्तोष था जो भर पेट खाने के बाद आता है...

इन दोनों ने ही उसे पैदा किया था। पाँच नम्बर प्लेटफ़ार्म के एक छोर पर, मालगाड़ी के एक छूटे हुए पुराने डिब्बे में उसका जन्म हुआ था, जिसमें उस शाम भी बाहर से इतना ज़्यादा गहरा अंधेरा था कि मालगाड़ी के उस डिब्बे के टूटे दरवाज़े से आती शाम की नीली रोशनी, उस अन्धेरे को दूर नहीं कर पा रही थी। माँ के ऊपर, माँ की साथिन भिखारी-औरतें झुकीं हुई थीं... माँ की प्रसव-पीड़ा उनके बीच से फूट रही थी, जैसे दर्द की चिंगारियाँ फूट रही हों... और इन दर्द की चीखती चिंगारियों के बीच वह पैदा हो गया था...माँ और भिखारिन औरतें पसीने से लथपथ थी, पर खुश थी... वे नवजात के रोने की आवाज़ को सुन रही थीं...गनीमत है कि वह मरा नहीं था और ज़िन्दा पैदा हुआ था...आमतौर पर भिखारियों के तीन में से दो बच्चे मरे हुए पैदा होते थे और उन्हें इसकी आदत हो गयी थी...वे मरे बच्चे पर नहीं चौंकते थे... पर जीवित बच्चा उन्हें चौंकाता था और खुश कर जाता था...

उसके पैदा होते ही किसी को यह पता नहीं चला कि वह अन्धा पैदा हुआ है। उसकी माँ को पता चला, पर उसमें समय लगा। सबसे पहले तो उस नन्हें-नवजात को ही पता चला कि वह अन्धेरे में उगती आवाज़ों के बीच है कि उसके लगातार हिलते हाथों और पैरों की लय और उसके रोने की आवाज़, दोनों ही--नहीं दिख रही आवाज़ों में, कहीं गुम हो रहे हैं। बच्चा पैदा होते ही अपने हाथों और पैरों से उन आवाज़ों को सुनने की कोशिश कर रहा था, जिन्हें वह देख नहीं पा रहा था और जो गहरे काले रंग में डूबी हुई थीं। यह जो गहरा काला रंग था, यह उस बच्चे के साथ ही पैदा हुआ था। एक बिना आँखों का बच्चा जब जन्मता है तो उसके साथ ही जन्मता है उसके हिस्से का काला गहरा रंग और उसकी मृत्यु तक उसके साथ बना रहता है।

माँ को जल्द ही पता चल गया कि जिस बच्चे को उसने पैदा किया है, वह चीज़ों को देख नहीं रहा है, बस सुन रहा है। एक अन्धे आदमी के साथ, वह दो बरसों से जीवन चला रही थी और अब अन्धों को इतना तो समझ ही गयी थी कि अपने बेटे के अन्धेपन को पहचान ले। माँ को, पहले से ही इस बात की आशंका थी कि भीख की सहुलियत में, जिस अन्धे आदमी को उसने अपने जीवन में अटका लिया है, उसके साथ सोने का यह परिणाम हो सकता है। जबकि वह यह चाहती नहीं थी कि उसका बेटा अन्धा पैदा हो। वह यह भी नहीं चाहती थी कि उसका बेटा भीख माँगे, जैसे वह और उसका अन्धा पति माँगते हैं। कोख के भीतर जब वह आ गया था, तब से वह स्टेशन पर जितने लोगों को रोज़ देखती, उनमें से कुछ को चुनती और जो आम तौर पर 'एसी' में यात्रा कर रहे लोग होते और कल्पना करती कि बेटा हुआ तो मैं उसे ऐसा बनाऊँगी और बेटी हुई तो ऐसी। एक भीख माँगती स्त्री का, इस तरह सोचना किसी को भी हास्यास्पद लग सकता था, पर सोचने में किसका बस है। सोचने से वह अपने को रोक नहीं पाती थी। यह अलग बात है कि माँ ने अपने अन्धे बच्चे के लिए जो सोचा वह कभी पूरा नहीं हुआ। बच्चा जैसे-जैसे बड़ा होता गया, अपने आँखों वाली माँ और बिना आँखों वाले बाप से, भीख माँगने के गुर सीखता गया। यह सीखने का एक सहज तरीक़ा था। बच्चा अपने आसपास से ही सीखता है, फिर बच्चा चाहे आँखों वाला हो या हो फिर अन्धा।

अध्याय- दो

ना देखने का बचपन

भीख माँगते पकड़ लिये जाने पर, माँ के हाथों उसकी पिटाई होती थी। तब वह जहाँ पर माँ की मार पड़ती, स्टेशन की ठीक उसी जगह उकड़ू बैठ देर तक रोता रहता था। यात्रियों की आवाजाही के बीच बैठा, इतना ज़्यादा रोता कि माँ को उसे उठाने वापस आना पड़ता। जब तक वह नहीं आती, वह रोता रहता। रोता अन्धा बच्चा, ज़्यादा दया पैदा करता था यात्रियों के भीतर। बिन माँगे भीख मिलने

लगती। सिक्के गिरने लगते, रोते अन्धे बच्चे के आसपास। रोता अन्धा बच्चा, रोते-रोते सिक्के उठाता जाता। इस तरह माँ धीरे-धीरे हारती गयी और भूलती गयी अपने अन्धे बच्चे का भीख माँगना। अब वह रो-रो कर भीख माँगने लगा था। रोता-रोता अब वह प्लेटफ़ार्म की फर्श पर लोटने भी लगता था। लोट-लोट कर रोता अन्धा बच्चा और अधिक दया पैदा करता था। सिक्के उसकी देह पर गिरते थे, बरसते तो ख़ैर अब भी नहीं थे। हुआ यह कि अब वह ऐसा अन्धा बच्चा था जो जब चाहे तब, रो सकता था। अब उसे रोने के लिए माँ की पीटाई कि ज़रूरत नहीं थी। प्लेटफ़ार्म पर घुसती ट्रेन की सीटी की आवाज़ पर वह रो पड़ता था और तब तक रोता रहता, जब तक वह ट्रेन सीटी बजाती फिर प्लेटफ़ार्म से गुज़र ना जाती।

सच यह भी था कि उसकी माँ को यह ठीक-ठीक पता नहीं था कि वह अगर भीख ना माँगे तो उसकी जगह क्या करे? माँ ठीक-ठीक यह जानती नहीं थी कि रेलगाड़ी के 'एसी' डिब्बों से, जिन्हें उतरते या चढ़ते वह देखती थी, वैसा बना कैसे जाता है...उसकी माँ भी इसी स्टेशन पर ही पैदा हुई थी। इसी स्टेशन के प्लेटफार्मों पर ही भीख माँगते बड़ी हुई थी। माँ के पास भी, इस स्टेशन से बाहर की दुनिया ज़्यादा नहीं थी। दुनिया जितनी थी उसके पास, उसमें यह जानकारी नहीं थी कि चमकता हुआ आदमी कैसे बना जाता है...यह भी जानकारी नहीं थी कि चमकता हुआ आदमी क्या काम करता है...कि चमकता हुआ आदमी कहाँ और कैसे रहता है...

इस स्टेशन में उस जैसे ढेरों बच्चे थे जो भीख ही माँगते थे और कभी-कभी छोटी-मोटी चोरियाँ भी कर लेते थे। उन बच्चों को यह स्वीकार करने में कभी संकोच नहीं हुआ कि चोरी में ज़्यादा मज़ा है। भीख माँगने के लिए चेहरे को दयनीय बनाना पड़ता है, जबकि चोरी इस दयनीयता से बाहर घटित होती है और भीतर एक अदृश्य ताकत का एहसास होता है। यह अलग बात है चोरी करते पकड़े जाने पर, भीख माँगने से कई गुना ज़्यादा दयनीयता का सामना करना पड़ता है और पिटाई का कष्ट भी झेलना पड़ता है। पर वह अन्धा था और चोरी नहीं कर पाता था। चोरी के लिए आँखें ज़रूरी थीं। वह अपने साथी बच्चों से चोरी को सुनता था और उसका मज़ा लेता था। वे बहुत छोटी-छोटी चोरियाँ थीं। जैसे प्लेटफ़ार्म के दूकानदारों की आँख से बचा कर खाने का कोई सामान, बिस्किट का पैकेट, आलूगुण्डा, मुट्ठी भर भजिया आदि उठा लेना था। प्लेटफ़ार्म के बच्चे हमेशा भूखे रहते थे और खाने कि चीज़ों की ही चोरी करते थे। कभी-कभी कोई बच्चा, उसे भी चोरी की चीज़ खिलाता और पूछता कैसा है? अच्छा, वह कहता। वह बच्चा इसलिए पूछता कि वह चोरी के बाद की उत्तेजना से लबालब भरा रहता था। पर वह अन्धा था और वह चोरी नहीं कर सकता था तो चोरी की गयी खाने की चीज़ और भीख माँग कर मिली खाने की चीज़ में, वह कोई अन्तर महसूस नहीं कर पाता था। दोनों उसे एक जैसी ही लगती थीं। जबकि जो बच्चे चोरी करते थे, उनके लिए, खाने की उस चीज़ में चोरी का अलग-सा स्वाद रहता था। वह भीख माँगने पर मिली चीज़ से, हमेशा उनके लिए ज़्यादा स्वादिष्ट बने रहती थी।

किसी चीज़ का कहीं पड़ा मिल जाना तो चोरी नहीं थी। चीज़ें आँखें ना होने के बावजूद, उसे मिलती रहती थीं। इसमें वह अपने साथी बच्चों से ज़्यादा भाग्यवान था। प्लेटफ़ार्म में यात्रियों से छूट गयी चीज़ें, उसे ढूँढ लेती थीं। वह प्लेटफ़ार्म टटोलता तो वे मिल जाती थीं। ऐसा रोज़ नहीं होता था, पर होता रहता था। यह कभी-कभार से थोड़ा ज़्यादा ही होता था। उसे लगता था चीज़ें उसके लिए पड़ी रहती हैं, जब तक उन्हें वह टटोलकर पा ना ले। चीज़ें एक अन्धे बच्चे का इन्तज़ार करती रहती हैं कि अन्धा बच्चा पाएगा उन्हें और टटोलेगा कौतुक से, जैसा कोई आँख वाला कभी नहीं टटोल सकता है। चीज़ें एक अन्धे बच्चे के स्पर्श का इन्तज़ार करती हैं और सिर्फ़ इसलिए वे अपने असली मालिक के हाथों से छूट जाती हैं। असली मालिक उन्हें ढूँढता रहता है और वे एक अन्धे बच्चे के स्पर्श के नीचे दुबकी पड़ी रहती हैं।

जब एक बार उसे एक घड़ी मिली थी, एक बेंच में पड़ी टिक-टिक बजती रू अकेली तो उसने उसे बहुत डर कर छुआ। उसके छुअन के नीचे वह गोल थी और गोल को बाँधने के लिए चमड़े का पट्टा था। उसकी छुअन के नीचे वह चीज़ उसके लिए नयी थी। अब तक मिली सारी चीज़ों से वह अलग थी। तुरन्त उसे उसने अपनी हाफ़ पेंट की जेब में डाल लिया था। यह ज़रूरी था, नहीं तो आँखों वाले भिखारी बच्चे, उसे मिली चीज़ को छीन कर भाग जाते थे बेआवाज़ और वह कभी पता नहीं लगा सकता था कि किस बच्चे ने उसकी चीज़ छीन ली है। प्लेटफ़ार्म में आमतौर पर इतना शोर बना रहता था कि उनके पदचाप से भी उन्हें पहचानना मुश्किल था, जिसमें इधर वह माहिर होता गया था। सबसे पहले उसकी माँ और पिता के पदचाप की पहचान उसके भीतर जागी थी, फिर वह इस गुण को साधने लगा और अब इस प्लेटफ़ार्म के बहुत से लोगों को उनके पदचाप से पहचान लेता है। भिखारी बच्चे भी इस बात को अच्छी तरह जानते थे कि यह अन्धा तब तक पहचान नहीं सकता, जब तक आवाज़ न हो। वह प्लेटफ़ार्म के अपनी साथी बच्चों को, उनकी आवाज़ से ही, उनके नाम को जोड़ते हुए पहचानता था। बहुतों को उनकी आवाज़ से और कुछ को उनके पदचाप से भी। पर जब घड़ी मिली तो वह खुद आवाज़ कर रही थी। उसके जेब से बाहर भी घड़ी की टिक-टिक की आवाज़ गिर रही थी। गनीमत है कि किसी बच्चे का ध्यान, घड़ी की इस गिरती आवाज़ की ओर नहीं गया। हो सकता है, कोई बच्चा आसपास रहा ही ना हो तो घड़ी बच गयी और वह उसे अपनी माँ के पास ले जा पाया, यह पूछने कि यह क्या है?

माँ के मुँह से घड़ी देख जो पहला शब्द निकला, वह था, 'वाह, वाह'

वह एक सुनहरी घड़ी थी, सुनहरे पट्टे वाली। माँ की 'वाह' इसलिए थी कि घड़ी देखते ही उसे लगा था कि वह ठीक ठाक पैसा देकर जाएगी। वह जानती थी कि इस घड़ी को कोई नहीं पहन सकता था। पहने और फँसे। कोई भी पुलिस वाला कलाई में घड़ी देखते ही पकड़ लेगा। चोरी का इल्ज़ाम लगाते हुए, हाथ उठाएगा और घड़ी छीन लेगा। फिर पुलिस वाला उसे बेधड़क पहन कर घूमेगा, जैसे उसने उसे खरीदा हो। छीनने का अधिकार, छीनी हुई वस्तु को, अपनी समझ लेने का, अनैतिक-अधिकार

पैदा करता है। यह अनैतिकता, नीचे से ऊपर तक फैली हुई है। अगर पुलिस का सिपाही एक भिखारी से घड़ी छीन सकता है तो सिपाही से हेड कान्स्टेबल घड़ी छीन सकता है और हैड कान्सटेबल से, सब इंस्पेक्टर घड़ी छीन सकता। इसी तरह सब इंस्पेक्टर से इंस्पेक्टर...अपने से कमज़ोर से छीन लो कि तुम जहाँ कमज़ोर हो, तुमसे कोई दूसरा छीन रहा है जो तुमसे ज़्यादा ताक़तवर है। यह एक अनन्त सिलसिला है, जिसका ओर-छोर पता नहीं चलता है। यह सिलसिला पूरी दुनिया में कायम है। यह सिलसिला इस स्टेशन पर भी कायम है।

'वाह' के बाद माँ बहुत देर ठिठकी रही। वह खा रही थी कुछ - तीन नम्बर के सूने प्लेटफ़ार्म पर बैठी। अकेली। 'वाह' शब्द उसके कौर से भरे मुँह को पार कर बाहर आया था। अब वह सोच भी रही थी। अपने बेटे से घड़ी, वह अपने हाथ में ले चुकी थी और उसे ग़ौर से देख रही थी। घड़ी महँगी लग रही थी। उसके अन्धे बेटे को, यह अब तक पता नहीं था कि घड़ी को कलाई में पहनते हैं और ना उसे यह बताना है। नहीं तो वह घड़ी पहनने कि ज़िद कर सकता है। बच्चे की ज़िद पूरा करने गयी तो मुसीबत ही आएगी। सुनहरी घड़ी पूरे प्लेटफ़ार्म पर फैल जाएगी। प्लेटफ़ार्म पर तब सिर्फ़, सुनहरी घड़ी कि टिक-टिक ही सुनायी देगी और बाकी सब आवाज़ें ग़ायब हो जाएँगी। यहाँ तक कि रेलगाड़ी के जाने और आने की आवाज़ भी नहीं बचेगी। वह भी घड़ी की टिक-टिक के नीचे दब जाएगी। ऐसा ही होता है और ऐसा ही होगा।

'क्या है...', माँ की लम्बी चुप्पी को पार कर उसने फिर पूछा। उसका सिर लगातार ऊपर-नीचे हिल रहा था एक लय में, अपने अन्धेपन को, अपनी जिज्ञासा से टटोलता।

'यह घड़ी है...कहाँ मिली?,' माँ ने पूछा।

'घड़ी क्या होती है?' उसने पूछा। 'कहाँ मिली' का उसने कोई जवाब नहीं दिया। वह जानता था कि 'कहाँ मिली' में माँ की कोई दिलचस्पी नहीं रहती है।

'घड़ी समय बताती है...' माँ ने कहा।

'समय...समय क्या होता है?

'समय जो बीतता है सूरज के साथ...सूरज उगता है तो सुबह होती है...सूरज डूबता है तो रात होती है...समय की घड़ी सूरज से जुड़ी है...' माँ को समझ नहीं आ रहा था कि एक अन्धे बच्चे को यह कैसे समझाए?

इससे पहले बच्चे ने यह पूछा नहीं था। इससे पहले माँ ने कभी किसी को समझाया भी नहीं था। माँ को उसकी माँ ने भी कभी नहीं समझाया था। माँ की माँ, समझा भी नहीं सकती थी। माँ की माँ पागल थी। माँ की माँ को यह तक पता नहीं था कि माँ किसकी बेटी है। पगली की बेटी जो अब उसकी माँ थी को भिखारियों ने मिल-जुल कर पाला था और जैसे ही वह भीख मांगने लायक हुई,

वैसे ही उसे स्टेशन पर भीख मांगने के लिए छोड़ दिया था। तो उसकी माँ के पास जो स्कूल था, वह यही स्टेशन था। स्टेशन ही हमेशा उसका स्कूल बना रहा। बना रहा स्टेशन ही हमेशा उसका घर। माँ की माँ, कब कहाँ ग़ायब हुई किसी को पता नहीं चला। झोंक-झोंक में किसी ट्रेन में बैठ, कहीं निकल गयी होगी और इस स्टेशन को भूल गयी होगी। इसलिए उसकी माँ के पास, अपनी पगली माँ की यादें बहुत ही धुँधली-सी हैं। इतनी धुँधली कि अब माँ का चेहरा उसके जेहन में बनता नहीं है। इसलिए जीवन भर, उसकी माँ को यह लगता रहा है कि वह आसमान से टपकी है, इस स्टेशन पर इसलिए कि एक अन्धे से शादी कर सके और एक अन्धे बच्चे को पैदा कर सके।

'इसे कहाँ पहनते है ... घड़ी को...' अन्धे बच्चे ने पूछा।

'भग... भिखारी इसे नहीं पहनते ...पर इससे जो पैसा मिलेगा ...मैं तेरे लिए कुछ अच्छा खरीद दूँगी...चल एक नयी कमीज़ खरीद दूँगी... नयी कमीज़ पहन कर फिर तू मटकना...' माँ ने मुस्कुराते हुए कहा जबकि वह जानती थी कि बेटे की मुस्कुराहट तो दिखने से रही। बेटा भी मटकने से रहा। मटकने के लिए, मटकते हुए किसी को देखना ज़रूरी था। ठुमकने के लिए, किसी को ठुमकता देखना ज़रूरी था। कुछ बातें, शरीर की भंगिमाएँ देख कर ही सीखी जा सकती थी। माँ ने सोचा कि अगर वह नयी कमीज़ अपने अन्धे बच्चे के लिए ले पायी तो उसे वह मटकना सिखाएगी। उसकी कमर को पकड़ मटकाएगी उसे। तब पूरा स्टेशन एक अन्धे बच्चे को नयी कमीज़ पहनकर, मटकता और इतराता देखेगा।

'तूने कभी बताया नहीं कि सूरज भी होता है...होता है तो कहाँ रहता है...अन्धे बच्चे ने कुछ सोचने के बाद, नाराजगी से कहा, 'कैसे डूबता है...कैसे रहता है सूरज ?'

'आसमान सूरज का घर है...वह सुबह पूरब से उठता है और उठता जाता है आसमान की ओर और पश्चिम में जाकर धरती में डूब जाता है... जैसे ही सूरज पूरब से उठता है, सुबह होती है और जैसे ही पश्चिम में डूबता है रात हो जाती है...'

माँ की बात बच्चे को समझ में नहीं आयी। बेटे ने तो आसमान भी नहीं देखा था। माँ की बात में अब पूरब और पश्चिम दिशा भी जुड़ आए थे। अन्धे बच्चे के लिए दिशा को समझना अभी तो मुश्किल ही था। वह समझ जाता अगर माँ उसे उगते सूरज के सामने खड़ा कर कहती कि जिधर तू देख रहे हो वह पूरब है...तेरी पीठ की ओर पश्चिम है...दक्षिण तेरे दायें हाथ की ओर है...और उत्तर है तेरी बायीं ओर...

माँ को, अपने अन्धे बच्चे को देख कर दुःख हुआ। बेटे के भीतर, दिन और रात का समय, एक काली अँधेरी सुरंग के भीतर घट रहे थे। वहाँ दिन भी रात थी और रात तो रात थी ही। बेटे का चेहरा प्लेटफ़ार्म की छत की ओर था और ज़ोर-ज़ोर से हिल रहा था, जैसे सूरज को खोज रहा हो आसमान में। वह उसे सूरज दिखा तो नहीं सकती थी, पर महसूस करा सकती थी, उसने सोचा।

'छुटकू, कल मैं तुझे सुबह 'एक्सप्रेस' के गुज़रते ही उठा दूँगी। हम यहाँ से बाहर चलेंगे सूरज देखने...मैं तुझे बताऊँगी की सूरज कैसे उगता है... फिर हम शाम को उसका डूबना और चाँद का आना देखेंगे। कल तैयार रहना...अब चल...बापू को ले आते हैं, मेल आने वाली है...'

मेल एक नम्बर प्लेटफ़ार्म पर आएगी। उन्हें तीन से एक तक पहुँचना है। मेल के प्लेटफ़ार्म में घुसने के बाद, उसके ठहरने तक का समय, उनके पास है। यह बहुत समय है। तीन नम्बर से एक नम्बर पहुँचने तक, उनके पास इतना समय है कि वे इस दूरी के बीच, गाड़ियों का इन्तज़ार करते लोगों से जाते-जाते भी भीख माँग सकते थे।

माँ-बेटे, जब तीन नम्बर प्लेटफ़ार्म के आखिरी छोर पर बापू के पास पहुँचे तो वह गांजे के धुएँ मे डूबा हुआ था। उसके चारों ओर गांजे की खुशबू का घेरा था। उस घेरे के भीतर बापू अकेला नहीं था। साथ उसका दोस्त गोविन्द भी था, जिस माँ और पूरा स्टेशन गंजेड़ी-गोविन्द कहता था जो एक कुली था और जितना कमाता, गांजे में उड़ा देता था।

माँ की गालियों से बचने के लिए, उकड़ू बैठा गंजेड़ी-गोविन्द तुरन्त उठ खड़ा हुआ और सफ़ाई देने लगा, 'देख मुझे कुछ मत कह, मैं इसे नहीं पिला रहा था। मैं चुपचाप जा रहा था, इसने ही मुझे आवाज़ देकर बुलाया है। तू तो जानती है ना...यह मुझे, मेरे पैरों की आवाज़ से पहचान लेता है...'

यह सच था। वह जानती थी कि उसका अन्धा पति पदचाप से भी अपने क़रीब के लोगों को पहचान लेता है, जैसे वह उसे पहचानता है, सिर्फ़ उसके पदचापों से। कभी यह बात उसे बहुत, अच्छी लगती थी, जब शादी से पहले अन्धा, उसे उसके पदचापों से पहचान लेता था, तब उसे यह प्रेम लगता था। पर अब इधर आकर अन्धे पति का यह गुण उसे भारी लगने लगा है। वह कई बार बिना पैरों की आवाज़ के होना चाहती है। अन्धे अपने क़रीब के लोगों को उनके पदचाप से पहचान लेते हैं, पर साथ ही वे इतनी जिज्ञासा से भरे रहते हैं कि उनके सवालों का जवाब देते-देते आँख वाली पत्नी थक जाती है, क्योंकि पति के लिए देखने का भार भी उसे ढोना पड़ता है। यह एक ऐसा भार है जिसका वजन लगातार बढ़ता जाता है। इसलिए इन पाँच सालों के भीतर, अन्धे की पत्नी को कई बार यह लगा है कि वह इस भार को पटक कर कहीं भाग जाए।

सही है कि गंजेड़ी-गोविन्द तो गांजे की खुशबू से भी महमहा रहा होगा तो उसे पहचानना अन्धे के लिए क्या मुश्किल है। गंजेड़ी-गोविन्द की ओर वह घूरती देखती रही और कहा कुछ नहीं। गंजेड़ी-गोविन्द, उसकी घूरती नज़र को वहीं छोड़ ग़ायब हो गया।

गंजेड़ी-गोविन्द को उसके अन्धे पति से दोस्ती इतनी पसन्द है कि वह फिर आएगा, वह उसे घूरेगी या गाली बकेगी तो वह सुनेगा और फिर आने के लिए ग़ायब हो जाएगा। उसका अन्धा पति और गंजेड़ी-गोविन्द, प्लेटफ़ार्म नम्बर तीन के उस कोने में जो एक तरह से, जो उस अन्धे का ही कोना बन गया था बरसों से, वे आजू-बाजू बैठ, एक ही चिलम से गाँजा पी रहे थे और यह करते

हुए भी उन्हें बरसों हो गया था। चाहे आँखें हों या ना हों, मनुष्य अपने जीवन में ऐसे कोने चुनता ही रहता है जो माँ के गर्भ-सी उसे सुरक्षित और आत्मीयता से भरी लगती हैं और वह बार-बार उन्हीं जगहों की ओर जाता है। वे तर्कविहीन जगहें होती हैं, जिनका अर्थ किसी के पूछने पर बता पाना हमेशा मुश्किल रहता है। गंजेड़ी-गोविन्द का साथ, उसके अन्धे पति के लिए, एक ऐसी ही जगह थी। वह कितनी भी गाली बके इस साथ के लिए अन्धे को, अन्धा उसका साथ नहीं छोड़ सकता था। वह जानती थी यह।

'चल, हो गयी तेरी मस्ती बहुत...अब काम पर लग...' गांजे में टुन्न अपने अन्धे पति को डण्डे से कोचकते हुए, उसकी माँ कह रही थी। अन्धा उकड़ू बैठा था तो डण्डे के कोचकने से लुढ़कते-लुढ़कते बचा। इस लुढ़कने की खीज, उसके चेहरे पर दिखी। उसकी निर्जीव आँखों की पलकें, खीज से मिचमिचा गयी थी। अगर उसके पास जीवित आँखें होतीं तो वह अपनी पत्नी को ज़रूर घूरता, उसकी इस हरकत पर। पर कुछ क्षणों बाद ही वह डण्डे के उस छोर को पकड़ कर खड़ा हो गया, जिस छोर ने अभी-अभी उसकी दाहिनी कमर को कोचका था।

गाँजे में टुन्न-पति, कोशिश कर बेमन से उठा था। उसके पास अपनी पत्नी का विरोध करने की ताकत नहीं थी। वह उसके सहारे ही था। वह नहीं रहती तो वे भूखे मरते। वह और उसका अन्धा बेटा। आँखें सिर्फ़ उसके पास थी। चीज़ें उसकी नज़रों से गुज़रती थीं तो चीज़ों को लेकर दिमाग़ भी उसके पास ज़्यादा था। अन्धा-पति यह सोच नहीं पाता था कि बगैर उसके जीवन आसानी से कैसे काटा जा सकता है। और यही वह जगह थी कि वह अपनी पत्नी की किसी भी बात का न चाहते हुए भी विरोध नहीं करता था। बहुत कम, कभी कभार ही वह कँझाता था और तब वह ज़ोर से चीखता और उसके चीखने की आवाज़ पूरे प्लेटफ़ार्म पर गूँजती थी। सब अन्धे की इस चीख को पहचानते थे जो महीने दो महीने में एकाध बार गूँजती ही थी। उसकी चीख पूरे प्लेटफ़ार्म पर गूँजती थी। प्लेटफ़ार्म के पुराने लोग, चीख सुन मुस्कुराते और नये लोग चौंक जाते कि किसकी चीख है यह दर्दनाक। उस चीख में अन्धे-पन की लाचारी का दर्द था।

छुटकू-अन्धा जो अपनी माँ से लगा खड़ा था, बस बाप के उठने और माँ के डण्डे के सिरे को पकड़ने का इन्तज़ार कर रहा था। वह इन आहटों की आवाज़ों को अच्छी तरह पहचानता था। बाप उठा तो माँ ने छुटकू का कंधा पकड़ उसे बाप के पीछे खड़ा कर दिया। बाप की कमर में एक रस्सी बंधी थी जो बाप के पतलून की बेल्ट-सी थी। छुटकू-अन्धे की दाहिनी हथेली ने, बाप के कमर में बँधी रस्सी को कसकर पकड़ लिया। अब वे तीनों एक नम्बर प्लेटफ़ार्म पर जाने को तैयार थे। माँ सबसे आगे। माँ के डण्डे का एक सिरा पकड़ा हुआ उसका अन्धा पिता। पिता के कमर की रस्सी पकड़ा हुआ छुटकू-अन्धा।

भीख में छुटकू-अन्धे को शामिल कर लेने का विचार उसकी माँ को बहुत बाद में और अचानक ही आया था। छुटकू जब बस पाँच साल का था तो रोज़ की तरह भीख के लिए निकलने से पहले,

छुटकू को खिला-पिला कर, उसकी माँ ने रोज़ की तरह कहा कि यहीं रहना, इधर-उधर ज़्यादा होना नहीं, सहारे के साथ ही रहना। छुटकू का सहारा, प्लेटफ़ार्म में बसती दीवारें, ओवरब्रीज की रेलिंग, साथी आँख वाले बच्चों के हाथ और कन्धे आदि थे। सहारा नहीं थे--हवा, धूप, शाम, रात...सहारा नहीं थे अपरिचित लोग, अपरिचित आवाज़ें... अपरिचित कन्धे सहारा नहीं थे... सबसे विश्वस्त सहारा माँ का हाथ और उसका आसपास था। यह ऐसा सहारा था, जिसकी बराबरी और कोई नहीं कर सकता था। पर छुटकू ने उस दिन अपनी माँ की बात को उस तरह नहीं सुना, जिस तरह वह रोज़ सुन लेता था। सुना नहीं तो किया नहीं। जैसे ही माँ चलने के लिए पलटी तो वह उठ खड़ा हुआ। उठने के लिए बाप की कमर की रस्सी उसका सहारा बनी और वह उसे पकड़े-पकड़े बाप के पीछे-पीछे वैसे ही चलता गया, जैसा उसका बाप, उसकी माँ के पीछे-पीछे जा रहा था। माँ को पता ही नहीं चला बहुत देर। पिता को पता था, पर पिता ने कहा नहीं माँ से। पिता ने उसे एक खेल में बदल दिया था। वह अपने बाएँ खाली हाथ को पीछे ले जाकर, बीच-बीच में उसकी उपस्थिति टटोल रहा था। यह कि वह पीछे है या नहीं...छूट तो नहीं गया। ज़ाहिर है जैसे ही वह छूटता, वह माँ को सावधान कर देता। पर छुटकू खुद बहुत सावधान था। वह कस कर पिता के कमर की रस्सी को पकड़े हुआ था। माँ को बहुत देर बाद अपने इस अचम्भे से पता चला कि आज उसे भीख देने से कोई मना क्यों नहीं कर रहा है। पूरी ट्रेन और प्लेटफ़ार्म के शोर को पार कर लेने के बाद, जब वह थककर पलटी तो उसे अपने बाप के कमर की रस्सी पकड़े, इधर-उधर एक लय में सिर हिलाता छुटकू दिखा।

'कुत्ता, तू कैसे आ गया?' माँ ने उससे कहा। उसने कोई जवाब नहीं दिया। एक लय में सिर को हिलाता रहा।

और उस दिन के बाद, वह अपने माँ-बाप के भीख माँगने की यात्रा का, अभिन्न हिस्सा बन गया। वह एक लाभप्रद हिस्सा था और उसकी माँ अब चाहकर भी उसे हटा नहीं पा रही थी।

माँ धीरे-धीरे 'एसी' के अभिजात्य लोगों में उसे देखना भूल गयी। वह समझ गयी कि मालगाड़ी के टूटे डिब्बे में, पैदा किये बच्चे के लिए ऐसा स्वप्न देखना व्यर्थ है।

इस तरह वह अपने बाप की, कमर में बँधी रस्सी पकड़, बड़ा होता गया और उसे पता भी नहीं चला कि बाप की कमर की रस्सी, कब उसके हाथ से छूट गयी। बड़ा होना ऐसा ही होता है। आँख वालों की दुनिया में, रोशनी के फैलने-सा होता है वह। पर उसकी दुनिया में वह आवाज़ों के फैलने-सा था। उसके लिए एक धीमी साँस की लय भी अब एक स्पष्ट आवाज़ थी। आवाज़ों को सुनने और पहचानने में, उम्र के साथ वह माहिर होता गया। जैसे-जैसे वह बड़ा होता गया--उसके दिमाग में, ज़्यादा से ज़्यादा आवाज़ें इकट्ठी होती गयीं। प्लेटफ़ार्म की सारी आवाज़ें उसके पास थीं। उम्र जैसे-जैसे बढ़ती गई, आवाज़ें भी बढ़ती गयीं। जिन चीज़ों के पास आवाज़ नहीं थी, जैसे सूरज की धूप, चन्द्रमा की रोशनी, बारिश, जैसे पानी का चहबच्चा, पत्थर के टुकड़े, जैसे प्लेटफ़ार्म की बेंच, खड़ी हुई रेलगाड़ी... जैसे चुपचाप बहता हवा का कोई झोंका... यह ऐसी चीज़ें थीं कि जिनके स्पर्श में ही, उनकी

आवाज़ छिपी हुई थी। इनमें से कुछ उसे छूती निकल जाती थीं, जैसे हवा, धूप, रोशनी, बारिश ... ये सब उस पर बरसती थीं उसे छूने के लिए। और कुछ को उसकी देह छूती थी, जैसे पानी का चहबच्चा जो पैर पड़ते ही छप से बजता था। पत्थर का टुकड़ा, जिसकी ठोकर से पैर की अंगुलियाँ, लहूलहान हो जाती थीं। चीज़ों कि सूची अनन्त थी जिससे उसकी देह टकराती या टकरा सकती थी। पर वह अब उन्हें सुन लेता था। स्पर्श की आवाज़ें, किसी भी सामान्य आवाज़ से कठिन रहती थीं और उन्हें सुनने के लिए बहुत एकाग्रता लगती थी। पर एक अन्धा आदमी जिसे आवाज़ों की दुनिया में ही जीना है, वह इस एकाग्रता को साध ही लेता है। एक अन्धा आदमी एक बार जिस वस्तु से टकराता है, वह फिर बार-बार बिना उससे टकराए उस वस्तु के स्पर्श को सुन लेता है।

छुटकू-अन्धा अब गाने लगा था। वह गाता और अपने आसपास लोगों कि आहट से यह जान लेता कि वह कितने लोगों के लिए गा रहा है। एक के लिए या एक से अधिक के लिए। फिर जाने कब उसकी माँ ने उसे ढपली पकड़ा दी। समय लगा पर गाने की लय पर ढपली से ध्वनि निकलने लगी। छुटकू-अन्धे की आवाज़ थोड़ी भारी और खरखरी-सी थी जो किसी फ़िल्मी या लोक-गीत को, नया रंग दे देती थी। कुछ इस तरह कि लगता था, ऐसा सिर्फ़ छुटकू-अन्धा ही गा सकता है। दूसरा कोई नहीं गा सकता है। उसे मालूम नहीं था कि उसके बाप के सूरदास के भजन सुनने वाले जाने कब से कम हो गये थे। उसका बाप गाता तो उसे सुनने उतने लोग नहीं ठिठकते, जीतने छुटकू-अन्धे के लिए ठिठक कर रुक जाते थे। अब वह ट्रेन में गाता हुआ, एक-दो स्टेशन तक आगे जाता और ट्रेन में गाता हुआ, एक-दो स्टेशन से लौट आता था। लौटने की ट्रेन के इन्तजार में जितनी देर वह खड़ा रहता, प्लेटफ़ार्म के यात्री उसका गाना सुनते रहते। वह अब अपने स्टेशन से गुजरने वाली एक-एक ट्रेन की आवाज़ाही से वैसा ही परिचित था, जैसे चिड़िया अपने उड़ान से परिचित रहती। उड़े कहीं के लिए भी क्यों ना, लौटती अपने घोंसले में है।

उपन्याय-अंश

कास्ट आयरन की इमारत

अम्बर पाण्डेय

नर्मदादत्त जी के लिए बम्बई प्रवास दुर्भाग्यपूर्ण सिद्ध हुआ; कुमुद के और उनके कुछ ही दिन बम्बई में सुख से बीते थे कि उनपर विपदा टूट पड़ी और रोग और यहाँ तक कि मरण भी उतना दुःख नहीं देते जितना कोतवाली और कचहरी के मसले। मैं धोवन का सोडा ख़रीदने दुकान पर खड़ा था कि नर्मदादत्त जी आते दिखायी दिये, यदि पहले बताया होता तो गोबरगौरी पकवान बनाकर रखती और मैं बाज़ार से मिठाई लाकर रखता। वे पैदल ही चले आ रहे थे। मैंने चरण स्पर्श किया तब भी उत्तर नहीं दिया, कुर्ता पसीने-पसीने हो रहा था और चलते हुये वे ऐसे लँगड़ा रहे थे जैसे जूता काट रहा हो। चुप्पी ठानकर वे सीढ़ियाँ चढ़ते गये। पहले की भाँति ठठोल-ठट्ठा नहीं न संसार भर की राजनीति और साहित्य की कोई बात उन्होंने की; अवश्य ही कुमुद से कोई दोष हुआ है अन्यथा नर्मदादत्त जी इतनी देर तक मौन रहने वालों में से नहीं।

आते ही कुर्सी पर बैठ गये और कुछ देर हाँफते रहे। मैं जाकर जल ले आया; 'ठहर, गुड़ की डली संग तो ले जा' माँ पीछे टोकती रही। नर्मदादत्त जी गिलास गटागट पी गये और ठण्डी आह भरी। इतने में शिवालय से ख़ाली लोटा हिलाती बुआ आ गयी तब तक नर्मदादत्त जी के अचानक आने का उद्देश्य किसी यत्न से उजागर न हुआ था। 'दामाद जी मेरी शवयात्रा में आये उपकार किया मगर मैं तो पराये घर में पड़ी हूँ बस जल ही पिला सकूँगी' बुआ ने कहा। बड़ी अटपटी बात थी। माँ तुरन्त समझ गयी, हाथ में गुड़ की डली दिखाते हुये बोली, 'दीदी यह रही, मैं देने ही आई थी कि गोबरधन पानी लिये दौड़ा आया'।

पिताजी प्रत्येक मास बुआ को प्रसाद और मन्दिर में दान देने के लिए कुछ रोकड़ देते थे, साड़ी की किनोर से रुपया खोलकर वे मेरी ओर बढ़ाती बोली, 'घर भर के लिए मिठाई लाना, थोड़े गाँठिए भी बँधवा लाना'। मैंने धोवन के सोडे का थैला गोबरगौरी को पकड़ाया और रुपया लेकर मिठाई लेने निकल पड़ा; दौड़ा-दौड़ा गया, फटा-फट आया तब भी बुआ ने घुड़की दी, 'ठण्डी गार जलेबी लाने में इतनी देर!' नमर्दादत्त जी को उस दिन खाने पीने में किंचित रुचि न थी, उन्मन जलेबी उठाकर खाते रहे, चाशनी कुर्ते पर टपकती रही। बुआ चुहिया की भाँति गाँठिए कुतर रही थी और साथ में बोलती भी जा रही थी, 'गंगाशंकर से मिलने आये आप पर उसकी छुट्टी तो बृहस्पतिवार को होती है।

इतवार को तो नाटक देखने ग्राहक टूट पड़ते है। सब भले घर के आदिमयों को विलासी बनाने के नुस्खे है। पोलका-पेटिकोट पहनकर जनाने गले से आदमीजात नाच गा रही है।' मैंने नमर्दादत्त जी को देखा, हम दोनों कई बार संग नाटक देखने जाते थे। उनका चित्त कहीं ओर था, वे आँखें झुकाये कुछ विचारते रहे।

अन्धकार होने आया था, नमर्दादत्त जी उठ खड़े हुये और जाने को ऐसे उद्यत हुये जैसे याद आया हो घर का किवाड़ लगाये बिना चले आये थे। अवश्य ही कोई विकट प्रसंग है ऐसा सोचकर उनके पीछे जाने के निश्चय से मैं भी उठ खड़ा हुआ। 'कुमुद अकेली होगी अँधेरा होने से पहले ही पहुँच जाओगे' बुआ ने कहा या पूछा किसी को समझ नहीं आया। 'मैं चिमनी लेकर आती हूँ। सीढ़ियों का हाल यह है कि हाथ को हाथ न सूझे' गोबरगौरी ने किवाड़ की ओट से कहा और जाकर चिमनी बनाने लगी किन्तु उसके लिए रुकने जितना भी धैर्य उस दिन नमर्दादत्त जी में न था। वे खटाखट सीढ़ियाँ उतरते गये और मैं उनके पीछे दौड़ता गया। पीछे गोबरगौरी हाथ में चिमनी लिये, बुआ और माँ दरवाज़े पर खड़े हमें नीचे उतरते देख रहे थे; गोबरगौरी की दृष्टि में उलाहना थी कि मैं उसके चिमनी लाने तक नहीं ठहरा। बाहर गली भी अँधेरी पड़ी थी किन्तु नमर्दादत्त जी तेज़-तेज़ पाँव बढ़ाते जाते थे जैसे बैरिस्टर गाँधी चलते थे। 'बनेवी जी सुनिये, मैं भी पीछे आ रहा हूँ' मैंने उन्हें पीठ पर पुकारा तब उन्होंने पीछे देखा, 'क्या हुआ?' मैं दौड़कर उनके संग हो लिया।

'तुम कहाँ चल रहे हो?' नमर्दादत्त जी ने पूछा। सब्ज़ी मण्डी से निकलकर मुख्य मार्ग पर हम लोग पहुँच चुके थे। अधिकतर जन सब्ज़ी मण्डी की तरफ दौड़े जा रहे थे क्योंकि अँधेरा होते ही शाक-भाजी का मूल्य आधा हो जाता था। एक स्त्री न्यू बॉम्बे हॉटेल के बाहर किसी पुरुष से बात कर रही थी, मेरा ध्यान वहीं जाकर अटक गया। नमर्दादत्त जी कुछ कहते रहे सुन नहीं सका। वह स्त्री कु लीन और धनाढ्य दिखती थी; पुरुष चपटी नाकवाला था और काया से दुकान पर बैठनेवाला दिखायी देता था। मुझे उत्सुकता थी कि जानूँ वे क्या बात कर रहे है। ऐसा कौन सा भावावेग है जिसके कारण स्त्री भरे बाज़ार में पुरुष के सम्मुख खड़ी है। उसके हाथों की अंगुलियाँ किसी बात को लेकर आकु ल होने से अधिक हताश थी। हमें प्रत्येक क्षण अपने शरीर के सभी अंगों का ध्यान नहीं रहता किन्तु उस स्त्री की अंगुलियों को देखकर ऐसा लगता था जैसे वे अंगुलियाँ उसकी चेतना से बहुत दूर, किसी खाई में खो चुकी थी।

'गोवर्द्धन, तुम कहाँ जाओगे? मैं यहाँ से ताँगा लूँगा' नमर्दादत्त जी ने मेरी वह चलायमान मूर्च्छा सी अवस्था तोड़ी, 'मैं, मैं तो घर ही लौटूँगा' मैंने कहा और पलटकर अन्तिम बार उस स्त्री को देखा। 'तब आये क्यों थे पीछे? क्या प्रतिदिन उसे देखने आते हो?' नमर्दादत्त जी ने कहा और लज्जा से मेरा मस्तिष्क जड़ हो गया, कुछ क्षणों तक कुछ कहते नहीं बना। सायंकाल से ही नमर्दादत्त जी चिन्तित दिखायी दे रहे थे, प्रथम बार आज उनके ललाट पर दीप्ति दिखायी दी थी। 'मैं तो बैंक से आकर घर

पर ही टिका रहता हूँ; आज आपके पीछे इसलिये आयाकि जान सकूँ आपको कौन सा रंज खा रहा है' मैंने कहा और जैसे झटका देकर हृदय और ग्रीवा का सम्बन्ध काटने की कल्पना की, निश्चय किया अब पलटकर न देखूँगा।

चिन्ता का कारण पूछने पर नमर्दादत्त जी के ललाट पर पुनः अँधेरा छा गया, उन्होंने कुछ कहा नहीं बस आँख चुराते रहे, ताँगा ढूँढने का ढोंग करने लगे। 'कल पिताजी को देर से नाटक कम्पनी जाने का कहकर रखूँगा यदि आप आ रहे है उनसे मिलने तो 'मैंने पूछा, वे देर तक मुझे देखते रहे और उत्तर दिया, 'कल दफ़्तर नहीं जाऊँगा। कुमुद और बच्चों को लेकर आता हूँ' कहकर वे ताँगे पर चढ़ गये और मैं पलटा किन्तु यह देखकर हताश हुआ कि जहाँ वह स्त्री-पुरुष खड़े थे उस स्थान पर एक घोड़ा अब लीद कर रहा था और उसका मालिक कुछ दूर पर पेशाब करने बैठा हुआ था।

लौटते समय सीढ़ियों पर अन्धकार होने के कारण जब मैं अन्तिम सीढ़ी पर पहुँचा तब यह नहीं समझ सका कि यह अन्तिम सीढ़ी है और मैंने उस अनुपस्थित सीढ़ी को लांघने के लिए पग उठाकर उसपर ज़ोर दिया। मैं लड़खड़ाया और पीछे से मेरी ग्रीवा को गुरुत्वाकषर्ण ने खींचा, मेरी रीढ़ टेढ़ी हुई और मेरा पिछला पग अपने स्थान से हट गया; मैं फिसलता हुआ चार पाँच सीढ़ी नीचे आ गिरा। मेरे दाएँ पग में पिछले भाग में तीव्र पीड़ा हुई जहाँ पग टांग से एक पतली और कोमल माँसपेशी द्वारा जुड़ता है, 'आह्ह आयँ' मैं कराहते हुये देर तक वहीं पग को हथेली से दबाकर बैठा रहा।

इमारत की सीढ़ियाँ दूसरी इमारतों की सीढ़ियों की अपेक्षा छोटी छोटी थी और इमारत का नक़्शा बनानेवाले ने रेलिंग की सज्जा पर अधिक ध्यान दिया था, रेलिंग और सीढ़ियाँ कास्ट आयरन की थी, सीढ़ियों के ऊपर शीशम के पिटए लगाये गये थे और रेलिंग के ऊपर शीशम के मोटे-मोटे लट्ठों को उरेब में काटकर चिपकाया गया था जिससे ज़ीना अदालतों और वाचनालयों या जहाज़ी कारोबारी दफ़्तरों की तरह ठाठ-बाटवाला लगता था और इससे हमारे घर में आनेवाले अतिथि हमें घर के भीतर घुसने तक बड़ा धनी-मानी समझते, कई जलकुकड़े हो जाते तो कई सीढ़ियाँ चढ़ते-चढ़ते उधार माँगने की योजना बना लेते। रात बहुत हो चुकी थी और इमारत के सभी जन अब तक अपने-अपने घरों में सोने की तैयारी कर रहे थे। पिताजी हमारी इमारत में सबसे देर से घर लौटते थे।

मैं जैसे-तैसे उठा और अपना जूता ढूँढने लगा जो गिर पड़ने की अफ़रा-तफ़री में निचले माले की सीढ़ियों पर जाकर अटक गया था। निचले माले पर एक ही घर था जहाँ कोई मराठी बन्धु भावविनायक कमलाकर अपनी वृद्ध पत्नी और अभी पिछले वर्ष ही रंडुआ हुये पुत्र गणपति भा. कमलाकर के साथ रहते थे। दोनों पुरुष मास्टरी करते थे और पूरे दिन स्वादिष्ट महाराष्ट्रियन व्यंजनों का सुवास उनके पाकगृह से उठा करता था। गणपति भा कमलाकर मुझसे वय में सात-आठ वर्ष अधिक था और उसकी एक पुत्री थी। आत्माराम पाण्डुरंग के अनुयायी होकर इन्होंने सनातन धर्म का परित्याग कर दिया था और पुत्री जो नौ-दस वर्ष की होने आई थी अभी तक उसका लग्न न हुआ

था, मास्टरी और पण्डित कुल होने पर भी इन्होंने ऐसा मार्ग चुना था यदि धनवान कुल होता तो पुत्री के लग्न की कोई आशा भी थी किन्तु अब प्रतीत होता था यह विधर्मीजन इसी प्रकार अपनी मृत्यु तक हमारी इमारत को दूषित करनेवाले थे। पुत्री का नाम लीलावती था। वह दीर्घकेशी और रूपसी थी, विधाता की रचना का ऐसा अपव्यय देखकर इमारत के सभी जन दुःख पाते थे।

इससे पूर्व मैं उठता एक आकृति ऊपर यों चढ़ती आती थी जैसे अन्धकार में भी उलूक की भाँति सब सहज ही देख रही हो। मेरे दाएँ पग पर अचानक उस आकृति ने अपना पाँव रखा। चमरौंधे के नीचे मेरे पग का अँगूठा कुचल दिया, 'हरामी कौन है?' मैं पीड़ा और क्रोध से चिल्लाया, 'गोवर्द्धन, तू यहाँ क्या कर रहा है?' पिताजी ने पूछा किन्तु मेरे गाली देने पर कोई प्रतिक्रिया नहीं दी। 'माफ़ करना पिताजी। मैं यहाँ गिर गया था। पग घायल हो गया' मैंने कहा तब तक पिताजी ने हाथ पकड़कर मुझे उठाया। 'आप चलिये मैं अपना जूता नीचे से ले आऊँ' मैंने कहा किन्तु पिताजी ने हाथ नहीं छोड़ा, 'अँधेरे में कहाँ ढूँढेगा! सुबह ढूँढना' और मैं एक टांग पर उछलता सीढ़ियाँ चढ़ने लगा, 'इतनी रात गये कहाँ गया था?' पिताजी ने पूछा। 'बनेवी जी पधारे थे उनपर कोई विपद पड़ी है' मैंने कहा, 'देर तक आपकी बाट जोहते रहे कह गये है कल फिर आवेंगे' मैंने उत्तर दिया। 'नमर्दादत्त जी मुझसे नाटक कम्पनी के दफ़्तर में आकर मिल गये आज' पिताजी ने केवल इतना कहा। मैं जानने को कितना उत्सुक था कि नमर्दादत्त जी का कौन-सा विकट प्रसंग था कि वे घर जाने की कहकर सीधे पिताजी के दफ़्तर पहुँच गये किन्तु पिताजी से पूछने का साहस न हुआ।

नमक डालकर गरम पानी लाना तो छोड़ गोबरगौरी उल्टे रुष्ट होकर बैठ गयी, 'मैंने तो कहा था चिमनी ले जाओ मगर दोनों को जाने की हाय ऐसे पड़ी थी मेरी बात क्यों मानते' कहकर पाँव पटकती हमारे कमरे में भाग गयी। घर में भगदड़ मच गयी। माँ ने पानी गरम किया और बुआ ने फ़ौरन हल्दी की चाय तैयार की। रुष्टा होकर पलंग पर पड़ी गोबरगौरी भी चाय की गन्ध पाकर बिलारी की तरह रसोई में मंडराने लगी। पिताजी बैठक में भोजन कर रहे थे चाय की गन्ध पाकर वे चिल्लाये, 'जब देखो तब यह विदेशी काढ़ा पीते रहेंगे। गिर गये चाय जुकाम हो गया चाय दस्त लग गये चाय माथा दुखा चाय।'

अन्दर मुँह पर हाथ रखकर गोबरगौरी खीखीखी करने लगी, बुआ ने फटकार लगायी, 'गोबरगौरी, सुसरा हैकि खेल हो गया। बत्तीसी फाड़-फाड़कर खी-खी। चाय पलट रही हूँ तब तक बशियाँ धोकर ला।' ऐसे काम से जी चुरानेवाली गोबरगौरी तुरत मोरी में बशियाँ धोने लगी चाय की कितनी शौक़ीन थी। अँधेरे में टटोल-टटोलकर बशियाँ धोना कठिन काम था, कभी भी चीनी की बशी मोरी की दीवार या बाल्टी या देहरी से टकराकर चटक सकती थी मगर चाय की चटोरी गोबरगौरी बड़े ध्यान से काम को बैठक से आती क्षीण ज्योति में अंजाम दे रही थी। गरम पानी की बाल्टी में पानी रखे मैं चाय की प्रतीक्षा कर रहा था कि मोरी से धुली बशियाँ लिये गोबरगौरी निकली, 'बहुत

दरद है न और न ले जाओ चिमनी। अच्छी भली बनायी थी मगर राजा साहेब के दो अँधेरे में निहारनेवाले उल्लू नयन है।' पिताजी ने आँख उठाकर गोबरगौरी को देखा। माँ ने टोका, 'पति परमेश्वर से ऐसी गोष्ठी कौन करता है गोबरगौरी?' बुआ अवसर कैसे चूकती। सड़सी से चाय का पतीला और कन्धे पर चाय छानने का कपड़ा और हाथ में कप लेकर वहीं आ गयी, 'ऐसे जिह्वादराज को दे दिया अपना मद्रासी हीरे जैसा पूत। बरोबरी से बालम से बात करना कौन-सी बम्मन बहू की रीत है बताओ। लँगड़े आदमी पर भी पद्मिनियाँ प्राण देती है दूसरी लाकर बैठा दी न छाती पर मूँग दलने को तो बड़े बनाकर खाना'। 'लँगड़ा! इतनी सी चोट से कौन लँगड़ा होता है' कहकर मैंने बुआ को अपनी चाल बतायी हालाँकि एड़ी के ऊपर प्राण निकालनेवाली रड़क उठ रही थी।

सब सड़प-सड़प अपनी-अपनी चाय पीने लगे तब मुझे नमर्दादत्त जी की याद आई, 'बुआ पिताजी से मिलने बनेवी जी नाटक कम्पनी चले गये आज की आज' पहले बशी से बुआ ने चाय का अन्तिम घूँट भरा फिर बोली, 'क्यों रे गंगाशंकर, नमर्दादत्त जी को क्या मुश्किल है? नौकरी में कोई अड़चन है क्या?' पिताजी ने कोई उत्तर न दिया। बुआ ने भी आगे पूछताछ नहीं की। इतनी रात गये चाय पीने के पश्चात् किसको नींद आती। अवश्य ही कुमुद का कोई दोष है या धनाभाव के कारण नमर्दादत्त जी का कोई काम अटका पड़ा होगा अन्यथा वे इतना विकल न होते कि कल की प्रतीक्षा भी न करते। पग की चोट तो उतनी नहीं टीस रही थी जितना मुझे उस रात अनिद्रा दुःख देने लगी थी और बाएँ कन्धे में भी कष्ट हो रहा था। मैंने चिमनी जलाई, बिस्तर के नीचे रखी और फ़र्श पर ही टॉमस हार्डी का उपन्यास 'जूड द अब्स्क्यर' रखकर बिस्तर से लटके-लटके पढ़ने लगा।

टॉमस हार्डी का यह उपन्यास अभी कुछ ही महीनों पूर्व प्रकाशित हुआ था और लगता था जैसे प्रकाशन गृह से सीधे जहाज़ में इसे लादकर बॉम्बे भेज दिया गया था। इसकी स्याही सुगन्धित और उष्ण अनुभव होती थी, कागज इतनी लम्बी समुद्री यात्रा करने पर भी आर्द्र नहीं हुये थे। बैलॉर्ड इस्टेट में नवीन पुस्तकों के विक्रेता गोल्डबर्ग एण्ड सन्स से यह पुस्तक मैंने बड़ा भारी मूल्य चुकाकर पायी थी और यदि घर में किसी को यह पता लगता कि यह पुस्तक कितनी महँगी है तब तो कलह मचते देर न लगती, यह उपन्यास दिन-प्रतिदिन मेरे लिये महत्त्वपूर्ण होता जा रहा था क्योंकि इसका नायक भी मेरी ही भाँति ब्रितानिया में उच्च शिक्षा प्राप्त करने से वंचित रह जाता है जबकि वह ब्रितानिया का ही नागरिक रहता है। ब्रितानिया का नागरिक जब धनाभाव के कारण जिस नगर में वह रहता है उसी नगर के विश्वविद्यालय में प्रवेश न पा सके तो समुद्र पार रहनेवाले बम्बई निवासी के लिए यह कैसे सहज हो सकता है यह बात मुझे किंचित शान्ति देती थी और यह बात भी कि कम-से-कम मैंने एलफ़िस्टन कॉलेज से तो शिक्षा ग्रहण की थी भले कृष्ण धूम्र और मछलियों की दुर्गन्ध से भरे विश्व में मेरा जन्म हुआ हो जबकि मर्कंटाइल बैंक ऑफ़ इण्डिया लिमिटेड के हमारे दफ़्तर में लगे जॉन कॉन्स्टेबल के चित्र जैसे सुन्दर स्थान पर जूड फ़ॉली संसार की भीषणतम यातनाएँ झेलता हो।

लैटिन सीखकर बैरिस्टर गाँधी की भाँति अपने पत्रों में यदा-कदा लैटिन कहावतों का उपयोग की करने की मेरी कामना अपूर्ण ही रह गयी न ग्रीक त्रासदियों का बिना अनुवाद के मूलरूप में अध्ययन करने की इच्छा पूर्ण हुई। अध्ययन की इच्छा समझनेवाला मेरे कुल में था भी कौन! जन्म लेना, खा-खाकर युवा होना, विवाह फिर सन्तति जीवन की केवल इतनी परिभाषा मेरे समाज में थी। पंचतत्त्वों से बने इस संसार से कहीं अधिक सुन्दर कहीं अधिक करुण एक और संसार साहित्य में मनुष्य पा सकता है यह जाननेवाले कितने व्यक्ति इस असंख्य जनों से भरे महानगर में थे! बैरिस्टर गाँधी से विद्या और दर्शन पर जो दो-तीन बार मेरी बात हुई थी वही मेरे जीवन की दुलर्भ सम्पदा थी उसके लिए मैं ब्रह्मचारी बनकर जीवनभर एकाकी भी रह सकता था। पुस्तक पढ़ने पर उसके विषय में बात करने को जो वासना उठती है वह कितनी उत्कट और कितनी निर्मल होती है और कितनी कोमल; क्या इसे गोबरगौरी समझ सकती थी?

एक आँसू मेरी दायीं आँख के कोने पर अत्यन्त धीमे-धीमे प्रकट हुआ, भावावेश के कारण मैंने आँखें मींच ली तब वह आँसू नीचे गिर पड़ा। बैरिस्टर गाँधी के मित्र कवि रायचन्द के बताये बसरा के सौ टके सच्चे मोती की तरह वह गिरता हुआ आँसू चिमनी के गोलाकार आलोक में चमक रहा था और कितने धीमे-धीमे नीचे गिर रहा था। जहाँ से उसकी गोलाई बायीं ओर मुड़ती थी वहाँ इन्द्रधनुष जैसा प्रकट हो रहा था। आँसू और साबुन के झाग में अधिक अन्तर नहीं और इसलिये नहीं कि दोनों ही स्वच्छ करते है बल्कि उनकी रूपगत समानताओं के कारण हालाँकि गुण दोनों के बहुत भिन्न है आँसू गिरता है, साबुन का झाग उड़ता है। आँसू के कारण मेरी नई पुस्तक के पृष्ठ पर एक तरल गोलाकार बन गया। मैंने ज़ल्दी से पुस्तक उठाकर दोहर से वह स्थान पोंछने का प्रयास किया किन्तु उससे वह तरल गोलाकार आड़ा-टेढ़ा होकर फैल गया और पृष्ठ उस स्थान पर पारदर्शी, लगभग फटने-फटने को हो गया।

'सोये नहीं अभी तक' गोबरगौरी जाग गयी, 'चिमनी जलाकर क्या कर रहे हो आधी रात बीत चली' जम्हाई लेते हुये वह बोली, 'चिमनी बुझा दो। उजाले में नींद नहीं आती'। 'जूड फ़ॉली देर रात जब सू से मिलकर क्रिस्टमिन्स्टर लौटता है तब उसे अतीत के महान विद्वान हँसते हुये दिखते है वह दृश्य पढ़कर सोऊँगा' मैंने पृष्ठ पलटा और गोबरगौरी से कहा किन्तु उसमें इतना धीरज कहाँ था, 'अभी बन्द करो चिमनी। आधी रात को कोई पढ़ता है यह सब गप्प गोष्ठियाँ' और मुझे घूरने लगी। मैं पढ़ने का अभिनय करता रहा किन्तु मेरा माथा क्रोध के कारण जलने लगा था, मेरे जीवन की अराबेला यही औरत है- श्रीमति गोबरगौरी दवे जिसे यह सहन नहीं होता कि मैं दो वाक्य भी इसकी आज्ञा के बिना पढ़ लूँ। अराबेला उपन्यास के अभागे नायक जूड फ़ॉली से कपट करके विवाह कर लेती है और उसे जूड की इच्छाओं की थोड़ी सी भी चिन्ता नहीं होती, वह केवल अपने सुख की दासी होती है। 'बुझा दो न चिमनी, नींद आती है' उसने कहा और मैंने तुरन्त उत्तर दिया, 'बस इतना

पढ़कर', वह बोली, 'मैं बुआ जी को पुकारती हूँ' कहकर वह चिमनी बुझाने को उठी। मैंने एक हाथ से चिमनी उठाई और दूसरे से उसकी कलाई मरोड़ दी। वह पहले चिल्लायी, 'अईं माँ मेरा हाथ' और छटपटाने लगी। उसके चिल्लाने से मैं हड़बड़ा गया और उसे चुप करने के लिए एक चाँटा उसके गाल पर लगाया। वह पलटी तो उसकी पीठ पर भी एक धौल जमा दिया वह भूमि पर गिर पड़ी। यज्ञदत्त जाग गया और रोने लगा तो वह उसे गोद में लेने को दौड़ी। मैंने चिमनी ज़ल्दी से बुझा दी। सम्भवतः किसी को हमारे झगड़े की आवाज़ नहीं आई या उन्होंने इसे हमारा प्रणय कलह समझा क्योंकि कोई नहीं आया। देर तक यज्ञदत्त रोता रहा। गोबरगौरी मार खाकर भी रोई नहीं, सो गयी।

सब कुछ इतनी ज़ल्दी हुआ था कि मुझे अपने किये की गम्भीरता और नीचता बहुत देर से समझ आयी, देर तक मैं जूड फ़ॉली के बारे में सोचता रहा, कैसे उसकी पत्नी अराबेला उसके उपचार के लिए आये डॉक्टर से नैन मटक्का करती है और संकेत से बताती है कि वह जूड की मृत्यु की प्रतीक्षा कर रही है। स्त्रियों को पीटना एक सामान्य बात है और मैंने गोबरगौरी को यदि एक चाँटा मार भी दिया तो इसमें कौन सा असाधारण काम कर दिया मैं बार-बार स्वयं से यही कहता रहा। जो बात मुझे दुःख दे रहे थी वह गोबरगौरी को पीटने की ग्लानि नहीं थी बल्कि इस बात का अन्देशा था कि कल गोबरगौरी नौटंकी करेगी, गुस्सा होकर बैठेगी और मुझे उसे मनाना होगा और साथ ही जब यह बात माँ को पता लगेगी तब वह क्रोध करेंगी। पति और उसकी स्त्री के बीच माँ का हस्तक्षेप मुझे कुण्ठा से भर देता था क्योंकि मैं उन्हें यह नहीं बता पाता था कि गोबरगौरी मेरी स्त्री है और यह मेरे और उसके बीच की बात है इसमें उनका हस्तक्षेप उचित नहीं। माँ को पति और उसकी स्त्री के बीच हस्तक्षेप करने का अधिकार केवल इसलिये नहीं मिल जाता कि पिताजी से उनके सम्बन्ध कटु थे और उन्हें क्या पता था कि गोबरगौरी पर मालिकी दिखाकर, उसे थोड़ा प्रताड़ित करके जिस अधिकार का मुझे अनुभव होता था उसे पुरुष होने के नाते मुझसे कोई छीन नहीं सकता था, यह हम दोनों के मध्य प्रगाढ़ता के लिए आवश्यक था।

किसी भी प्रकार इस बात को मैं साधारण, प्रतिदिन घटित होनेवाला प्रसंग बना देना चाहता था इसलिये मैंने फ़र्श पर जहाँ गोबरगौरी सोई हुई थी वहीं लेटकर गोबरगौरी की चोटी उठायी और उसकी ग्रीवा को दाँतों से धीमे से काटा। उसने कोई शब्द नहीं किया सम्भवतया वह सो गयी थी या निद्रा की नाटिका खेल रही थी किन्तु ऐसी कौन स्त्री हो सकती है जो मार खाकर निद्रा का नाटक करे! एक अंग्रेज़ी उपन्यास के प्रसंग का संस्मरण हो आया जिसमें उपन्यासकार कहता है नायिका नायक से मार खाकर उसे और अधिक प्रेम करने लगी थी। मार खाकर कोई स्वाभिमानी व्यक्ति चाहे स्त्री हो या पुरुष किसी को प्रेम कैसे कर सकता! हो सकता है स्त्री कर सकती हो प्रेम मार खाकर भी आख़िर माँ भी पिताजी से कितना प्रेम करती थी किन्तु क्या कोई मारनेवाला उस व्यक्ति को प्रेम कर सकता है जिसे वह मारता हो? पिताजी माँ से प्रेम नहीं करते थे न मुझसे वे प्रेम करते थे। अब तक के जीवन में

मैंने केवल एक बार ही उनका कोमल पक्ष देखा था जब वे मुझे ज़ीने से सहारा देकर उठाकर लाये थे अन्यथा उन्हें हमने या तो आत्ममग्न देखा था या विषादमय।

मैंने गोबरगौरी के कान की लव और उसका ऊपरी भाग काटते हुये कहा, 'सुनो' मेरा स्वर बहुत कोमल, फुसफुसाता हुआ था किन्तु वह यों सोती रही जैसे जीवित न होकर उसका शव वहाँ पड़ा हो। गोबरगौरी का दायाँ स्तन दूध से भरा हुआ था, उसका पोलका खोलकर मैंने क्रोध और वासना में उसका मदर्न करके सब दूध बहा दिया। उसके पश्चात् उससे मनोनुकूल क्रीड़ा की। निकट सोता यज्ञदत्त रोने लगा था। गोबरगौरी ने नेत्र नहीं खोले। उस दिन मुझे उसपर बहुत क्रोध हुआ और उस रात के लिए मैं उसे कभी क्षमा नहीं कर पाऊँगा उसकी मृत्यु के बाद भी नहीं ऐसा मैंने स्वयं से उस रात बार-बार कहा और उसने तो सम्भवतः अपनी मृत्यु के बाद भी मुझे ऐसे व्यवहार के लिए क्षमा न किया हो। कौन जानता है और कौन जान सकता है। उसे क्षमा न करूँगा यही सोचते-सोचते मेरी नींद लग गयी।

प्रातःकाल चोट लगने के कारण पानी भरने का काम माँ और गोबरगौरी ने किया। तब तक गोबरगौरी गभर्वती है उसे स्वयं भी पता न था। वह मेरा धुला हुआ कौपीन, धोती और बुशर्ट अपने स्थान पर रख गयी, टोपी झाड़कर खूँटी पर टाँगी और जूते और छाता झटकारकर किवाड़ से टिका गयी। स्नान, भगवती के पाठ के पश्चात् भोजन परोसने में भी उसे संकोच न हुआ जबकि मैं रात की घटना के कारण लज्जा से गड़ा जा रहा था। उस समय गोबरगौरी मुझे इतनी निर्लज्ज और निष्ठुर लगी कि खाते-खाते मैंने थाली परे की और बाहर आकर जूते पहनने लगा। वह रसोई में अचार की बरनी से आम की फाँकें निकालने का अभिनय करती रही और उसने यह तक उचित नहीं समझा कि मुझे भोजन पूरा करने को कहती या पूछती कि खाते-खाते उठने का कारण का क्या हुआ। नीचे पहुँचा तो कमलाकर जी के यहाँ से शुद्ध घी में मराठी व्यंजन अनरसे तलने की सुगन्ध आ रही थी, कई बार वे लोग हमें प्रसाद स्वरूप मराठी व्यंजन भेजते थे किन्तु माँ मुझे पूरी थाली चुपचाप कुत्तों को देने का कहती थी, प्राथर्ना समाज के मतावलम्बियों के घर का सब कुछ दूषित वे मानती थी किन्तु बुआ के आने के पश्चात् यह रीति छोड़ दी गयी, 'शुद्ध घी के पक्के चौके में छुआछूत का सवाल नहीं। ला, मुझे दे, खाकर तो देखूँ कैसी बनायी है चकली और भाकरबड़ी'।

लीलावती विद्यालय जाने के लिए बाहर खड़ी थी। उसका पिता गणपति अन्दर अपने बूट पॉलिश कर रहा था, गणपति ने ही उसका नाम ऐलेग्ज़ैंड्रा नेटिव गर्ल्स स्कूल में लिखवाया था और वही उसे विद्यालय छोड़ते हुये अपनी मास्टरी निभाने जाता था। जीवनशैली तो उस परिवार की सनातनियों से अधिक शुद्ध थी तब क्यों ब्राह्मण होने पर भी इन्हें अशुद्ध माना जाता था यह मेरी समझ के परे था, अनरसों की शुद्ध घी मिश्रित चावल के आटे और शक्कर की सुगन्ध को भरपूर साँसों में भरकर मैंने सोचा। इस सुगन्ध के कारण मैं गोबरगौरी के दुर्व्यवहार को भूल चुका था और संसार के प्रति मेरी

आसक्ति पुनर्जीवित हो गयी थी। 'दफ़्तर के लिए आज ज़ल्दी निकल रहे है, दवे जी?' गणपति भा कमलाकर ने अन्दर से ही बूट पॉलिश करते हुये पूछा, घर में ऐसा दूषित कर्म करना निश्चय ही उस युग में पापिष्ठ है किन्तु बैरिस्टर गाँधी भी अपने बूट आप ही पॉलिश करते थे इसलिये मैं उतना अचम्भित नहीं हुआ। वहीं उनके किवाड़ पर रुक गया, लीलावती थोड़ा पीछे हटकर खड़ी हो गयी, वह कढ़ाई से निकल रहे गरम-गरम अनरसा बाहर ही खड़ी-खड़ी कुतर रही थी जो कि एक स्त्री के गरिमा के अनुरूप न था, क्या किसी तरूणि को ऐसे बाहर खड़े होकर किसी भोज्य पदार्थ का चपचप सेवन करना चाहिए।

'आओ, बेटा गोवधर्न, जलपान कर लो' चौके से अनरसों से भरी थाली लिये लीलावती और गणपति भा कमलाकर की माँ जिसे इमारत के सभी लोग वर्षा ताई कहते थे, उन्होंने मुझे पुकारा। मैंने कुर्ते की जेब में हाथ डाला तब पता लगा घड़ी भूल आया हूँ, आधा भोजन छोड़कर उठा था इसलिये भूखा था और मीठे को देख जिह्वा भी ललक रही थी किन्तु मैंने संयम साधा और कहा, 'और कभी आऊँगा। आज दफ़्तर में ज़ल्दी जाना है' कहते हुये मैं थाली देखने से बच रहा था जिसे वर्षा ताई भाँप गयी और उन्होंने उत्तर दिया, 'देखती हूँ मन मीठा खाना चाहता है और माथा दफ़्तर जाने को कहता है। तुम कहो तो पूड़ा बाँध दूँ?' पूड़ा ले लेने का मैं इच्छुक तो था किन्तु यदि माँ को पता लगता कि घर का भोजन अधखाया छोड़कर मैं प्रार्थना समाजवाले कमलाकर जी से मीठे का पूड़ा बँधवाकर अपने कार्यालय ले गया तो उन्हें बहुत संताप होता। मैंने जाने को पाँव बढ़ाया तो वर्षा ताई ने कहा कि सायंकाल तो मुझे अनरसे खाने आना ही पड़ेगा। क्या उन्हें पता लग गया था कि अनरसों की सुगन्ध से ही सीढ़ियाँ उतरते समय मेरी जिह्वा कैसी लपलपा गयी थी सोचते हुये मैं लिज्जत ज़ल्दी-ज़ल्दी चलता बैंक पहुँच गया और उस नीच गोबरगौरी के विषय में मन में कोई विचार नहीं आया।

बैंक के ब्रितानी अफ़सर का कहा कागज़ पर पहले खड़े-खड़े इमला लिखना फिर कच्चा लिखकर उन्हें दिखाना, वे तब त्रुटियाँ गिनाते और मैं सम्पादित करके पत्र पुनः लाता उसमें वे फिर त्रुटि निकालते ऐसे दिनभर में चार पाँच दस्तावेज मैं करता था, इसी की मुझे डाँट और पगार दोनों मिलती थी। वॉलिस ब्रदर के हिन्दुस्तानी आढ़तिए कपास ख़रीदी के लिए सत्तर हज़ार रुपया ले गये थे। वॉलिस बिरादरों की गारण्टी पर रुपया दिया गया था और छह मास बीत चुके थे, नया वर्ष लगनेवाला था मगर ब्याज क्या मूल तलक नदारद था, उगाही वास्ते पहले आढ़तिए को पत्र भेजे गये अब कार्रवायी की अन्तिम चेतावनी के लिए वॉलिस ब्रदर्स को लम्बा पत्र भेजना था। नमर्दादत्त जी भी वॉलिस ब्रदर्स की फ़र्म में काम करते थे मगर वह दूसरी फ़र्म थी- बॉम्बे बर्मा ट्रेडिंग कम्पनी, इस फ़र्म का नाम था वॉलिस ब्रदर्स कॉटन ट्रेडिंग और इसका खाता हमारी बैंक में चलता था।

गोबरगौरी का कहना था रात को चिमनी जलाकर पढ़ने के पाप के कारण मेरा दृष्टिदोष बढ़ रहा था और ऐनक के बिना देखने में मुश्किल होती थी, उस दिन कागद पत्र तैयार करने में अनेक

त्रुटियाँ हो रही थी और विलम्ब भी बहुत हो रहा था। बार-बार विलियम ग्रीन साहेब मुझे त्रुटि गिनवाकर लौटा देते थे। कागद का सही बनना इसलिये अत्यन्त आवश्यक था क्योंकि उधारी न पटाने पर इसी के आधार पर कचहरी में हरकती दाखिल होना थी। अक्षर गोल बनते-बनते कंकड़-भाटे जैसे बन जाते कभी वर्तनी की भूल होती तो कभी वाक्य इतना लम्बा बन जाता है आख़िर तक पहुँचते-पहुँचते मुझे स्वयं बात बिसर जाती। भोजनावकाश के पश्चात् विलियम ग्रीन साहेब ने मुझे अपने कमरे में फिर से बुलाया। मैं घर से भोजन करके आता था इसलिये अपने मटके से जल पीकर रहता था। एक विधवा पण्डिताइन जल भर दिया करती थी और मेरा मटका दूसरी जातिवाले न छुये इसलिये मटका अगोरना भी उसका ही काम था बदले में मैं उसे रुपया देता था।

Which university have you disgraced Dave? विलियम ग्रीन साहेब दवे को डेव पढ़ते और पुकारते थे, मुझे लगा वे वाजिब सवाल कर रहे है इसलिये गर्वान्वित स्वर में मैंने उत्तर दिया, 'एलफ़िस्टन कॉलेज, बॉम्बे, द बेस्ट इन बॉम्बे सो इन इण्डिया'। वे चुरूट फूँकते थे, धुवाँ पीते हुये बोले, 'Are you married?' मुझे उस दिवस तीव्र उल्लास हुआ कि उनकी मेरे जीवन में इतनी रुचि जागरित हुई है, मैंने बिना व्याकरण का विचार किए कहा, 'येस सर, मैरीड टू चिल्ड्रन'। वे हँसने लगे और मुझे कमरे से दफ़ा होने की कहकर ख़ुद कागदपत्र तैयार करने लगे। सही उत्तर होता married with a child, मुझे भय होने लगा कि मुझे नौकरी से बर्ख़ास्त कर दिया जाएगा। दसों अँगुलियों के मैंने नाखून चबा लिए और तम्बाकू पीने की तलब होने लगी। नूतन कारण खोज-खोजकर मैंने बार-बार विलियम साहेब के कमरे में जाने लगा किन्तु उन्होंने अपना माथा टेबुल से न उठाया और ध्यानस्थ लिखते रहे जिसके कारण नौकरी जाने का मेरा सन्देह पक्का हो गया।

एक कारकुन का दायित्व है भी क्या? कागद बनाना और उसमें भी मेरी गति शून्य नहीं तो लँगड़ी तो थी ही तब क्यों ही बॉम्बे की इतनी बड़ी बैंक का अफ़सर मुझे अपने यहाँ टिकाये रखेगा! अकाल के कारण मालमत्ते की संसारभर में कमी थी, मन्दड़ियों की मौज थी और घर-घर लोग फाँके करके सोते थे ऐसे में पिताजी के वेतन में कैसे गृहस्थी चलेगी इस चिन्ता के कारण मैं बार-बार जल पीता और लघु शंका निवारण को जाता। मेरा मटका जहाँ रखा रहता था उससे लगकर ही विलियम साहेब के चाय-जलपान तैयार होने का स्थान था जिसे वे पैंट्री कहते थे। वहाँ उनका नौकर चाय बना रहा था। चौकोर तश्तरी में केतली ऊन के तिकोने लबादे से ढँककर वह जब चला गया तब मैंने विलियम साहेब का तम्बाकू चुराने का निश्चय कर लिया। तम्बाकू में मेरी प्रबल आस्था थी और मुझे लगता था लपेटकर पीने से मेरा नौकरी जाने का दुःख जाता रहेगा।

डबलरोटियाँ, अण्डे, केक जैसे गर्हित पदार्थों से स्थान भरा पड़ा था और एक क्षण को मुझे विचार आया भी कि क्या ऐसे स्थान पर रखी तम्बाकू पीने पर दोष न होगा, अपनी गृहलक्ष्मी गोबरगौरी पर हाथ उठाने का फल तो ईश्वर ने मुझे तुरन्त दे ही दिया था तब क्या यह तम्बाकू पीकर नया पाप करना उचित होगा? फिर यह धारणा बनी कि तम्बाकू कौन-सी मुख में डालना है, केवल उसका

धूम्र ग्रहण करना है और अग्निदेवता तो सबको पुनीत करनेवाले है इसलिये तम्बाकू पीने में हर्जा नहीं। एक काँच के ढक्कनवाली पीतल की डिबिया थी जिसमें तम्बाकू भरा था, कारकुनी कागद का एक पर्चा मैं फाड़कर लाया था उसी में ज़रा सी तम्बाकू उलटी ही थी कि विलियम साहेब का नौकर आ गया, 'साहेब का तम्बाकू क्यों गड़बड़ कर रहे दवे बाबू?' मैं घबराया मगर हाथ से डिबिया छूटने न दी, 'तलब थी थोड़ा-सा ले रहा था', चपरासी होकर भी मुझपर हावी होने का उसका मनसूबा था, 'अपना तम्बाकू आप लेकर आया करो' मगर मैं भी कम न था, 'यह बैंक पेटे की तम्बाकू है' और उसने जवाब न दिया सीधे विलियम साहेब के कमरे में गया। पहले भी तो निकाल ही रहे थे अब तम्बाकू चोरी की धारा और जोड़कर निकाल देंगे ऐसा सोचकर मैंने वहीं तम्बाकू कागज में लपेटना शुरू कर दिया।

ऐसा अनुभव हुआ पौरुष जाग गया हो। माचिस जलाकर चेतन की और धुँवे का प्रथम श्वास भरा तो चेतना हुई कि कारकुनी जाने पर काम क्या करूँगा? रोटी-पानी के लाले न पड़ जाएँगे, बुआ की तरह जैन मन्दिर में चन्दन घिसने का काम कर लूँगा कुछ नहीं तो चावल और शक्कर की व्यवस्था हो हो जाएगी फिर लगा चन्दन ही घिसना था, मन्दिर में झाड़ू पोंछा मारना था तो एलफिस्टन कॉलेज क्यों गया, अंग्रेज़ी क्यों सीखी, नाटककार बनने का स्वप्न क्यों देखा था? क्लर्की आत्मा को खानेवाला रोग है, तम्बाकू पीकर इससे मुक्ति नहीं, न पत्नी को पीटकर ही इससे मुक्त हो सकते है; इससे मुक्त होने के लिए अपने क्षुद्र अन्तःकरण की दीवालें ढहाना पड़ती है, अभय प्राप्त करना पड़ता है। क्लर्की मनुष्यों ने इसलिये ईजाद की कि आत्मा जैसे मनुष्य के वायवीय अंग को तेल-नून-भाजी-चून में बदला जा सके। 'Clerkdom is a process which converts a part of soul into grocery everyday' मैंने अंग्रेज़ी में वाक्य बनाने का प्रयास किया- व्याकरण की दृष्टि से शुद्ध वाक्य जिसमें विलियम साहेब दोष न निकाल सके और मुझे कभी नौकरी से न निकाले क्योंकि ऐसे शुद्ध अंग्रेज़ी वाक्य को बनाने का गुण बम्बई में आख़िर कितने क्लर्कों में था। बुआ को इसी को मन में महाराज होकर बैठना कहती है, तम्बाकू फूँककर मैंने निश्चय कर लिया कि अभी की अभी जाऊँ और विलियम साहेब के चरणों में गिरकर नौकरी बचाने के लिए उनसे प्राथर्ना करूँ।

विलियम साहेब कमरे में नहीं थे उनका चपरासी जूठे कप-बशी अबेर रहा था, मुझे देखते ही बोला, 'आज तुम बच गये मैं जब तक आया साहेब निकल चुके थे'। एक आत्महीन चपरासी के मुँह लगता इतना विवेक मुझमें था मैंने अंग्रेज़ी में उसे बाहर जाने को कहा और वह मूषक की भाँति भागा। विलियम साहेब की मेज़ ख़ाली पड़ी थी शायद श्रीनाथ काबरा जी जो बैंक में बड़े कारकुन थे उन्होंने पत्तर समेट लिये थे। बैंक बन्द होने का घण्टा भी तब तक बज चुका था।

मैं घर की तरफ़ चला मगर मेरी आत्मा इस भय से कि मुझे कारकुनी से कल बर्खास्तपत्र मिलेगा पूर्णरूपेण क्लर्क बन चुकी थी जैसे बच्चा कोई स्थान न छोड़ना चाहे तो उस स्थान के

खम्भों-दीवारों से चिपक जाता था। अंग्रेज़ी भाषा सही-सपाट बोलना और लिखना कितना कठिन था, मैं टॉमस हार्डी के उपन्यास पढ़ता था और भी अंग्रेज़ी की कई क़िताबें मैंने पढ़ी थी कम-से-कम बीस पच्चीस ग्रंथों का तो अध्ययन किया था किन्तु तब भी अंग्रेज़ी व्याकरण और वर्तनी में प्रतिदिन त्रुटि होती थी जैसे मेज़, कुर्सियाँ, पलंग, सिंगार दपर्ण कोई सब ख़रीद ले किन्तु घर में उसे बरोबर जमा न पाये ऐसी मेरे मगज की दशा थी, सब था बापरने का ढँग न था। शाक-भाजी ख़रीदने का दायित्व मेरा था, प्रतिदिन सब्ज़ी मण्डी से ख़रीदारी करके घर लौटता था, उस दिन ढाई सेर बटाटे लेकर ही संतोष किया।

गोबरगौरी के व्यवहार में तृणमात्र भी परिवर्तन न था बल्कि अब मुझे बुआ और माँ भी कोपवती दिखने लगी। उन्होंने कुछ कहा नहीं। समय से चाय तैयार हो गयी, गाँठिए के संग मैं बैठकर खाता रहा और वे दोनों हमारे सम्बन्धियों की निन्दा में व्यस्त रही; मुझसे यह तक नहीं पूछा कि मेरा कपाल ऐसा निष्प्रभ क्यों है या भौंहें ऐसी खिंची-खिंची क्यों है जैसे दर्ज़ी ने वहाँ टाँके लगा दिये हो या हो सकता है अपार क्लेश से भरे हृदय का मेरे मुख से कोई ज्ञान ही होता हो। दूर से गोबरगौरी मुझे देख रही थी, उसकी दृष्टि से लगता था वह मेरा क्लेश जान पा रही है जैसे काँच की बोतल में रखा विष आत्महत्या करनेवाले को स्पष्ट दिखता है किन्तु वह निकट नहीं आयी न एक शब्द ही कहा केवल दूर से ही देखती रही। इतने में नीचे से लीलावती आ गयी, इससे पूर्व वह हमारे घर कभी न आयी थी, 'गनपत दादा ने अनरसे खाने को बुलाया है, कहा है वचन दिया था'। मेरा जाने को बिलकुल भी जी न था। नमर्दादत्त जी पर क्या विपदा पड़ी है यह पता न था, गोबरगौरी गुस्सा थी और नौकरी जाने का अन्देशा अलग था ऐसे काल उनके घर मीठा खाऊँ और गप्प लगाऊँ यह मेरे वश में न था। 'किसे बुलाया है?' बुआ ने पूछा, बुआ को लीलावती की दिनचर्या में बहुत उत्सुकता थी; वह प्रतिदिन कहाँ जाती है? उसका लग्न क्यों नहीं हुआ? या लग्न हो गया है और मालिक ने दूसरी डालकर इसके पीछे लात लगाकर इसे यहाँ भगा दिया है? 'इन्हें' उसने मेरी ओर संकेत करके कहा, कहते बखत उसकी भंगिमा अत्यन्त निस्संकोच थी और वह सभी को खटकी। 'तुम जाओ, विचार बनेगा तो आएगा' बुआ ने निधड़क स्वर में कहा और लीलावती नीचे चली गयी।

गोबरगौरी पीपे से आटा निकालकर बैठक में आ गयी, 'कितनी सुन्दर है, बैठने को कहना चाहती थी संकोच के कारण जिह्वा जड़ रही', बुआ ने तुरन्त उत्तर दिया, 'कैसी बेशरम की नाई पराये आदमी की तरफ उँगली करके बात करती है देखा नहीं'। उठायी तो थी लीलावती ने अँगुलि किन्तु उससे मुझे सुख ही हुआ था और इस बात की कल्पना करके अत्यधिक आनन्द हुआ था कि उसके ऐसा करने से गोबरगौरी को डाह होगी और यहाँ उल्टे गोबरगौरी उसे बैठाकर बात करना चाहती थी। 'होकर आता हूँ, बहुत बार बुलाते है आज भी न जाऊँगा तो अभिमानी न मान ले' मैंने जाने का निश्चय कर लिया था, डाह में जलकर ही हो सकता था गोबरगौरी का मन शुद्ध हो जाये।

गोबरगौरी मुझे थिर तारकों से निहारती रही, मुझे मारो-पीटो और प्रेम करो परायी से किन्तु उसने कहा, 'छोटी बालिका है वह बुआजी, उसे नर नारी का भेद ही कहाँ पता होगा'।

'आयँ बालिका! आज ब्याह कर दे तो कल सौरी में सोये' बुआ बोली पर गोबरगौरी कब अपनी बात गिरने देती, 'मेरा लग्न हुआ तब यह सत्रह के थे मैं तेरह की तब तो वह नौ दस बरस की बालिका ही हुई'। मैंने जूते में पाँव दिये और फटाफट सीढ़ियाँ उतरने लगा, लग्न के समय गोबरगौरी तेरह की थी किन्तु लगती नौ वर्ष की थी जबकि लीलावती नौ की होकर भी तेरह-चौदह वर्ष की हृष्टपुष्ट किशोरी लगती थी और लीलावती को बालिका समझकर गोबरगौरी खुद को भरोसा दिलाना चाहती है कि इस बालिका से उसकी गृहस्थी को कोई जोखम नहीं। पीछे तीनों स्त्री और वय पर बहस करती रही, बुआ का कहना था कि सात वर्ष में ही उन्होंने अपने सबसे बड़े पुत्र को जन्म दे दिया था, उनके कुल चार सन्तान हुई किन्तु जीवित केवल कुमुद ही रही यह बात तो सत्य थी किन्तु सात की वय में स्वयं को गभर्वती होना बताना तो हास्यास्पद असत्य था।

जब मैं पहुँचा तब वर्षा ताई कढ़ाई में घी उड़ेल ही रही थी, पक्की रसोई में धुआँ-गरमी बहुत होने के कारण वर्षा ताई बैठक के पास कोयले रखने की जगह पर ही तलने का काम करती थी, कच्ची रसोई भीतर पाकशाला में बनाती थी। इतना घी क्या बुआ और बा किसी बाहरवाले पर खर्च कर सकती है जितना वर्षा ताई ने कढ़ाई में उड़ेला था; वे तो आत्मीयजनों को भी नाप-तौलकर घी या मिष्ठान देती थी। मुझपर इतना खर्चा करने का उद्देश्य तो कोई सूझता नहीं, ताई सम्भवतया प्रेमवश ही ऐसा कर रही हो; प्रेम इतना दुलर्भ था कि सहसा उसपर विश्वास नहीं होता था और उसके पीछे कोई स्वार्थी उद्देश्य की ही आशंका होती। गणपति दादा अभी-अभी ही लौटे थे, बैठक में कुर्सी पर बैठे जूते के तस्में खोल रहे थे, पुस्तकों का एक मोटा बण्डल उनके सम्मुख मेज पर पड़ा था। इतने घी-गुड़ के तत्त्व नित्य खाने पर भी वे कितने दुबले थे, गाल की हड्डियाँ निकली हुई और हाथों की एक-एक शिरा दिखायी देती थी; पत्नी न हो तब पुरुष की काया इसी गति को प्राप्त होती है। 'आइये आइये, दवे जी' गणपति दादा ने कहा और मेरे बैठने के लिए स्थान बरोबर किया, वहाँ पर विद्यालय की कॉपियाँ-क़िताबें पड़ी हुई थी। 'सात बजे तक बैंक से लौट आते है' गणपति दादा ने कहा और मुझे अचानक बैंक की घटना याद आ गयी, क्या पता कल कारकुनी रहेगी कि जाएगी और यदि गयी तो दूसरी जगह रोज़ी का बन्दोबस्त कैसे होगा; 'श्रीयुत, पानी' लीलावती ऐन मस्तक पर खड़ी होकर चिल्ला रही थी। मैं चौंक गया और पानी लेने की हड़बड़ी में लोटा गिरते-गिरते बचा। काँसे का लोटा था, टूटते-टूटते बचा। बाद में लीलावती मुझे सदैव श्रीयुत कहकर ही पुकारती थी।

लोटा देकर लीलावती ने गणपति दादा की पुस्तकों का बण्डल उठा लिया और सुतली खोलने का यत्न करने लगी, 'नवादी कादम्बरियाँ है या स्कूल में पढ़ने ले गये थे, बाबा? लीलावती ने मराठी में पूछा और गणपति दादा मुझे देखकर गर्व से मुस्कुराए, देखा मेरी पुत्री अंग्रेज़ी के यह मोरे-मोटे ग्रन्थ

पढ़ने में सक्षम है फिर लाड़ जताते हुये लीलावती से कहा, 'अरे पगली, कल ही तो लाया था नयी क़िताबें। पहले वह तो पढ़ ले, यह तो मैं शाला में ख़ाली समय में पढ़ने ले गया था।' शुद्ध घी खर्चने का उद्देश्य दिखावा है अब मुझ पर उजागर हो गया था। लीलावती एक-एक पुस्तक निकालकर उलटने-पलटने लगी और अचम्भे से मेरा मुँह तब खुला रह गया जब उसने टॉमस हार्डी का नवीनतम उपन्यास जूड द अब्स्क्यर खोलकर अपने मुँह के आगे किया।

'गणपति दादा, आपको टॉमस हार्डी का यह नया उपन्यास कहाँ से मिला?' मैंने कपट उल्लास से पूछा, मन मेरा ईर्ष्या से पूरा जल चुका था; 'आप चाहे तो ले जाइये पढ़कर वापस कीजियेगा' गणपति दादा ने कहा और लीलावती ने उपन्यास मेरी और बढ़ाया, 'आप पढ़ते है टॉमस हार्डी?' गणपति दादा ने पूछा। 'मेरे पास भी है इसकी एक प्रति। आपने पढ़ा? कैसा लगा आपको?' मैंने पूछा और पुस्तक लीलावती के हाथ से ले ली, बिलकुल यही पुस्तक मेरे पास भी थी फिर भी उस प्रति को देखने का लोभ संवरण न होता था जैसे वह कोई नूतन, भिन्न पुस्तक हो। लीलावती की आँखें मुझ पर स्थिर हो गयी, उसके पिता की पुस्तक का अन्य के हाथों में देने का उसे दुःख था, मैंने पुस्तक उसे देते हुये कहा, 'क्या तुम अंग्रेज़ी पुस्तकें पढ़ लेती हो?' पुस्तक झपटकर उसने कहा कि न केवल वह अंग्रेज़ी पुस्तकें पढ़ती है बल्कि प्रतिदिन एक पृष्ठ अपनी कॉपी में इन पुस्तकों की नक़ल भी करती है, कागज महँगा पड़ता है तो भी उसके बाबा उसे लाकर देते है कई बार तो उधार करके लाकर देते है और जो बात उसने अन्त में कही उससे मुझे प्रतीत हुआ वह मेरा मन किसी अखबार की तरह पढ़ रही है, 'आप सोचते होंगे मेरा लग्न अब तक क्यों नहीं हुआ? जूड फॉली की तरह मैं शिक्षा पूर्ण होने से पूर्व विवाह नहीं करना चाहती, अराबेला ने कैसे उसकी होनहार का खात्मा किया', सुनकर गोबरगौरी मेरी दृष्टि के सम्मुख आ खड़ी हुई और मेरा मन कटु हो गया था।

'तुम्हें उसकी होनहार की इतनी ख़बर कैसे हुई! गये दिन का अख़बार आता है होनहार का कोई अखबार नहीं निकलता' मैंने कहा, स्वर इतना कर्कश था कि मुझे स्वयं खटका। 'टेलीस्कोप की ईजाद से पहले गगनमण्डल आजोबा के मोटे कम्बल जैसा काला और मोटा था, आर-पार देखना तो दूर हवा तक नहीं जाती थी और फिर देखिये टेलीस्कोप आने पर शुक्र, मंगल, दूर दूरस्थ के तारकगण, शनि, बृहस्पति सब दिखायी देने लगे उसी प्रकार उत्तम शिक्षा होने पर होनहार के भी पहले ही दर्शन हो जाते है'। इसी प्रकार गोबरगौरी के अशिक्षित रहने पर कटूक्ति कसने इन्होंने मुझे बुलाया था, अनरसा तो बहाना भर था। मेरा कण्ठ अवरुद्ध हो गया, कुछ कहते नहीं बना। गणपति दादा भी पाँव धोने और कपड़े बदलने चले गये थे। लीलावती के प्रति सद्यःजात विशुद्ध घृणा के कारण उस दिन अनरसा मुझे कड़वा लगा और लगा जैसे शुद्ध घी में नहीं उसे सरसों के तेल में तला हो, चाय फीकी थी और फरसाण बासा। 'बित्तेभर की बाला बोल बनाये बड़े-बड़े' बुआ लीलावती के लिए सही ही कहती थी।

गणपति दादा से हालाँकि देर रात तक बातें होती रही। उनका विचार था कि हिन्दू होने में और हिन्दूपने में अन्तर है, हिन्दू होना दुस्साध्य है किन्तु हिन्दूपना अपनाना सरल और यह कि पण्डों के बस रहकर मोक्ष नहीं मिलता उसके लिए ब्रह्मचर्य, तप, अध्ययन, मनन, निध्यासन करना पड़ता है, स्वर्ग प्राप्ति के लिए सत्कर्म किन्तु हम लोग पण्डों को दक्षिणा देकर, गंगास्नान और गोदान करके सोचते है कि हमें स्वर्ग मिल गया और शेष जीवन अनुचित कर्म करते चले जाते है। इस प्रकार अंग्रेज़ी पढ़नेवाले किसी भी हिन्दू युवक जैसे उनके विचार थे और उसमें कुछ विशेष मुझे नहीं दीखा। फिर उन्होंने अपनी दस मिनट पूर्व कही बातों के उलट यह भी बताया कि ईश्वर के न मिलने तक वे स्वयं को नास्तिक मानते रहेंगे; जैसे ईश्वर का अस्तित्त्व उनके मानने न मानने पर निर्भर है और इसलिये ईश्वर को गणपति दादा को दर्शन देकर गणपति दादा का ईश्वर में विश्वास उत्पन्न करना ही होगा। ईश्वर को लेकर वे विकल थे किन्तु उनमें ऐसी प्रतिभा नहीं थी कि दार्शनिक स्तर पर वे कोई नवीन उद्‌भावना लेकर आते, पढ़ी-सुनी बातों का साहित्यिक शब्दों में दोहराव मात्र था।

एक ही समय एक पुस्तक दो दूर बैठे मनुष्य एक संग पढ़े यह विचार प्रेम के सबसे अधिक निकट है, उस अनुभूति का सबसे मूर्त रूप है और गणपति दादा और मैंने हमारे मध्य यही साहचर्य पाया था भले वह कुछ ही वर्षों तक ही रहा हो। वे प्रत्येक नयी क़िताब पढ़ने को उत्सुक रहते थे और ढेरों क़िताबें खरीद लाते कई बार उधार खरीदते और कई बार पगार पाते ही क़िताबों की दुकान पर पहुँच जाते या डाक से क़िताबें मँगाते; बाद के वर्षों में वे अनुशीलन भवन के प्रकाशन में वर्तनी दोष निकालने का काम भी करने लगे और देर रात गये घर लौटते। प्रति सन्ध्या हम दोनों एक-दूसरे को वचन देते कि आज अमुक पुस्तक के इस नम्बर पृष्ठ से उस नम्बर के पृष्ठ तक समय विशेष में पढ़ेंगे फिर दूसरे दिन चाय पर हम गयी रात पढ़े गये पर वार्ता करते, कई बार समुद्र तट पर घूमते हुये आधी-आधी रात तक मिल्टन तो कभी सोफ़ोक्लीज़ पर हमारा विवाद होता।

योहान वोल्फ़गैंग गूटे के इस कथन 'चेम्बर पीस संगीत चार बुद्धिमान मित्रों का संवाद है' इस पर हम सप्ताह भर सोचते रहे कि चार बुद्धिमान मित्रों के संवाद की भाँति संगीत कैसा होगा, वह कितना सुन्दर होगा और कैसे गाया बजाया जाता होगा? सुनने का तो हमारे निकट कोई साधन न था किन्तु हम उसकी कल्पना तब तक करते जब तक हमारे केश, कनपटियाँ, भौहें स्वेद से न भर जाते और स्वयं की हृदयगति स्वयं को ही सुनायी न पड़ने लगती; हम दोनों को विश्वास था कि चेम्बर पीस संगीत सुनते ही हम उसे पहचान जाएँगे। हम शिक्षित हिन्दुस्तानी मूढ़ों की तरह मानते कि यूरोप इस भुवन का वैकुण्ठ है और वहाँ का संगीत, वहाँ के उपन्यास और दर्शन सब कुछ श्रेष्ठ है और अंग्रेजों ने भारतवर्ष को अपना कर्म स्थल बनाकर हम पर उपकार ही किया था, यही विचार हमारी प्रगाढ़ मित्रता का कारण था। आगे गणपति दादा का अलग विचार बना और उनका अंग्रेज़ी शासन से उच्चाटन हो गया।

'आप न दारू-तम्बाकू पीते हो न दारियाँ रगड़ते हो न सैर सपाटे की आपको आदत है, ऐसा कैसे?' बहुत दिनों बाद एक दिन मैंने गणपति दादा से पूछा था। 'इतना रुपया मेरे पास नहीं है कि दारू-तम्बाकू पी सकूँ या कुत्री-नखराल का खर्चा उठाऊँ। कल्पना और स्वप्न में ही सब आनन्द पाता हूँ' गणपति दादा ने उत्तर तो दे दिया किन्तु मेरे प्रश्न ने उन्हें घाव दिया था, मैंने उनके पौरुष पर प्रश्न उठाया था। 'घाणरेडी बाइयों के पीछे भटकना मर्दानेपन का सबूत है न' उन्होंने टिप्पणी की।

उस क्षण उन्होंने ललाट ऐसे सिकोड़ा जैसे कुछ देखने में उन्हें मुश्किल हो, उनके केश समुद्री आँधी में उड़ रहे थे और नमक के कारण रूखे-सूखे, कुछ-कुछ भूरे हो गये थे। उनके कन्धे की हड्डियाँ कण्ठ के नीचे इतनी निकट आ चुकी थी जैसे कुछ देर मैं यों ही उन्हें देखते रहा तो वे एक-दूसरे का स्पर्श करने लगेंगी। उनकी झबरी, लम्बी-लम्बी मूँछें जो नीचे की ओर झुकी रहती थी वे एकदम काली थी जैसे लम्पट अधेड़ खिज़ाब लगाकर काली कर लेते है; उनकी मूँछें स्वभाविक रूप से ही काली थी क्योंकि उसमें एक तैलीय कान्ति थी जो खिज़ाब रंगनेवालों में दिखायी नहीं देती। उनकी भौहें मूँछों जितनी तो नहीं किन्तु अन्यों की अपेक्षा बहुत घनी थी और बरौनियाँ तो स्त्रियों जैसी थी। सस्ते लट्ठे का कुर्ता वे वर्षा ताई से सिलवाकर जो हमेशा पहनते थे उस दिवस भी वही पहने थे जो साफ तो था किन्तु धूल-धुलकर जूना पड़ गया था और वर्षों से नील दिये जाने के कारण जगह-जगह उस पर नील के चकत्ते पड़ गये थे। उनकी धोती की दशा तो कुर्ते से भी गयी बीती थी और किनारों से वह धागा-धागा हो चली थी फिर भी वे धोती न खरीदकर उस रुपये से नवीन ग्रन्थ ले आते थे। हड्डियों को कुछ माँसपेशियों से बँधा हुआ वे पुंजमात्र थे और बात करते-करते अति उत्तेजित हो जाते जैसे बहुत दिनों तक ब्रह्मचर्य रखने के कारण स्वस्थ पुरुष हो जाते है। उनके जूते साबुत थे किन्तु वह भी वर्षों पुराने दिखते थे, समुद्री हवा-पानी खा-खाकर वे भी सफ़ेद और काले से मटमैले पड़ गये थे। धोती और जूते के मध्य खुली पिंडलियों पर एक मोटी शिरा हमेशा ज़ोर-ज़ोर से फड़कती रहती थी जो वे जब कहीं जाते तो मुझे दूर तक दिखती रहती थी। जीवन का अर्थ पाने के लिए दर्शन और साहित्य के अरण्य में भटकते-भटकते वे ऐसे हो गये थे। उन्होंने बात आगे नहीं बढ़ायी और वाचनालय जाना है कहकर मेरे उत्तर की प्रतीक्षा किये चले गये, वे बण्डी न पहनते थे और सायंकाल के कुसुम्भी आलोक में दूर तक सफ़ेद कुर्ते में उनका काला, गुस्सैल शरीर दिखता रहा और मुझे आभास हुआ कि अब हमारी मित्रता पूर्ववत न रहेगी। यह उस सन्ध्या के महीनों बाद की घटना है।

उस रात अनरसे और फरसाण खाकर जब लौटा तब खाना टेबुल पर लग ही रहा था, मैं पहले ही बहुत खा चुका था इसलिये गोबरगौरी को त्रास देने के लिए मैंने कहा कि मैं आज खा न सकूँगा। 'बटाटेभाजी और ज्वार की भाकरी है आजा गरम-गरम खा ले' बा ने मुझसे कहा, भाकरी अभी-अभी सिगड़ी से उतरकर आयी थी और उससे कोयले, ज्वार के आटे का सुवास उठ रहा था, बटाटेभाजी कटोरी में धुँधुआ रही थी, बटाटे के छिले हुये, बड़े-बड़े टुकड़े जिन्हें हल्दी और हींग के

पानी में पकाया गया था वे सरसों और धने के मध्य जैसे लोट रहे थे। पास में ठण्डे पानी का गिलास रखा हुआ था और खड़ी लाल मिर्च के अचार का खुला हुआ डिब्बा। बुआ हरी मिर्च चबाती हुई भाकरी का कौर तोड़ रही थी, बाकी गोद में बैठा यज्ञदत्त गुड़ की डली चूस रहा था। गोबरगौरी भाकरी का डिब्बा लिये आयी किन्तु मुझे न खाते देख वह किंचित भी नहीं चौंकी। दो भाकरी उसने अपनी थाली में रखी और उन पर बटाटेभाजी उड़ेलकर खाने बैठ गयी। अनेक वर्षों पश्चात् देखा विंसेंट वान गॉग का चित्र द पटेटो ईटर्स (बटाटें खाते लोग) मेरी स्मृति में अब इसी चित्र ने उस रात्रिकालीन जेवनार के दृश्य के स्थान ले लिया है। शाक-सब्जी उन दिनों दाल से भी अधिक महँगी मिलती थी और बटाटे न केवल सस्ते आते थे बल्कि बहुत स्वादिष्ट भी लगते थे। देखने में भले बटाटें बेडौल और प्रभाहीन लगते हो काटने पर उनका स्वरूप प्रकट होता वह बाहरी रूप से कहीं अधिक सुन्दर होता और खाने पर जो स्वाद मिलता वह तो उनके आन्तरिक, पानीदार स्वरूप से कहीं अधिक अच्छा लगता। कई बार मैं प्रेम से बुआ को मेरा बटाटा भी पुकारता था।

सायंकाल कमलाकर जी के यहाँ बीत गया था और रात भी गहराती जा रही थी, इतनी देर तक मुझे अपनी नौकरी जाने का विचार न आया था और अब अचानक सबको रोटी खाते हुये देखकर दोपहर में दफ़्तर में घटा प्रसंग याद आ गया- क्या पता अब तक मेरे बर्खास्तपत्र का मुद्दा भी विलियम साहेब ने ठहरा लिया हो और कल पहुँचने पर मुझे ही उसका इमला लिखवा दें। कण्ठ भर आया और बैठे-बैठे मैं हाँफने लगा, तुरन्त हाथ पैर धोने का कहकर मोरी में पहुँचा तो गोबरगौरी भांडे मस रही थी, इतनी ज़ल्दी भोजन भी हो गया, इतना कम खाने के कारण ही चार वर्ष में सींक हो गयी है। उसने मुख उठाकर देखा। 'गोबरगौरी, तू यज्ञदत्त को सुला दे, मैं मस दूँगी भाण्डे' पीछे बा ने चिल्लाकर कहा। जरा देर को गोबरगौरी की पुतलियाँ मुझ पर टिकी होंगी उतनी ही देर में अश्रुओं से चमकने लगी और मेरा मन उससे लिपट-लिपटकर रोने का होने लगा। मैं ज़ल्दी से जाकर बिस्तर पर लेट गया ताकि गोबरगौरी के आने तक गहरी नींद में होने का नाटक कर सकूँ। उससे बात करने का साहस मैं अब तक जुटा नहीं पाया था।

थोड़ी देर बाद गोबरगौरी यज्ञदत्त को लेकर सोने आयी तब तक मेरी नींद न लगी थी हालाँकि वह भांडे धोकर, रसोई में जमाकर आयी थी। उसने कम्बल नीचे रखा और अपने आँचल को ही बिछाकर सो गयी, स्तनों पर यज्ञदत्त को सुला लिया। यज्ञदत्त साढ़े तीन वर्ष का हो गया था और उसे सीने पर सुलाकर रात काटना कितना कठिन था इसकी मैं तब तक कल्पना करता रहा जब तक नींद नहीं आयी। दूर-दूर तक कोई ध्वनि नहीं थी, उस रात जितनी नीरव रात बॉम्बे ही नहीं विश्व में, उसके एकदम कोने आन्तर में मनुष्य पहुँच जाये तो दुलर्भ है- सहसा नीरव स्थान और समय में स्वयं को पाकर हम कैसा अनुभव करते है जैसे हम समय और स्थान से परे हो चुके है, मृत्यु के बहुत निकट पहुँच चुके है; कोलाहल जीवन को पकड़े रखने की रस्सी है जिससे हम जीवन भर लटके रहते

है, कोई कर जाता है तो ज़ोर-ज़ोर से रोते है, चीखते है जब तक मनुष्य रहता है तब तक कोलाहल करता रहता है किन्तु गोबरगौरी ने उस रात मार खाने के पश्चात् मरण जैसा मौन धारण कर लिया था। अकारण मुझे भय लगने लगा था कि वह अब और नहीं जिएगी; ऐसा सोचते हुये मैं अपने अवयवों के अन्दर ही रोता रहा बाहर मैं सो रहा था।

दूसरे दिन मैं जब तक उठा, बा, पिताजी और गोबरगौरी पानी भर चुके थे जबकि मैं अपने पग की चोट तब तक भूल चुका था। धूप से घर भरा हुआ था, दाल उबलने की आवाज़ पूरे घर में आ रही थी। जब मैं हजामत बना रहा था मोरी में यज्ञदत्त को नहलाने की तैयारी हो रही थी जिसके कारण वह कोने में खड़ा सुबक रहा था। मैंने ज़ल्दी के कपड़े उतारे और फटाफट नहाने लगा क्योंकि यज्ञदत्त के नहाने की प्रतीक्षा करने पर दफ़्तर में देर हो सकती थी। गोबरगौरी मुझे नहाता देख लज्जा से उल्टे लौट गयी। थोड़ा सा पानी यज्ञदत्त के मुख पर छिड़कने पर वह ज़ोर से रोता हुआ बाहर भागा और मैंने मोरी का किवाड़ लगा लिया। बाहर पिताजी के बकरी के ग्वाले से बहस का शब्द आ रहा था, यज्ञदत्त के निर्बल हाज़मे के लिए पिताजी बकरी का दूध लेते थे और प्रतिदिन ग्वाला उसमें पानी मिला देता था। बीच में साइकिल की घण्टी गली में बजती थी और एकाध टेर ताजा शाक बेचनेवाले का उठती थी। इमारत के संडास में दो औरतों की कचकच की आवाज़ भी आ रही थी, कई दफ़ा गन्देड़े लोग संडास में पानी उड़ेलकर टट्टी खड्डे में न बहाते थे और दूसरे आनेवाले को इस अस्वच्छता से बहुत घिन होती, बैरिस्टर गाँधी के लिए यह बहुत बड़ी मुसीबत थी और रोज संडास जाने से पूर्व उन्हें स्वयं को ऐसे बीभत्स दृश्य के लिए मानसिक रूप से तैयार करना पड़ता था। कई बार वे झाड़ू बाल्टी से संडास धोने का स्वप्न देखते किन्तु धोने का साहस न जुटा पाते थे, बापड़े का जी मचला जाता और पलटी हो जाती थी।

जब तक मैंने भोजन किया गोबरगौरी रसोई में डिब्बे खोलती और बन्द करती रही, चावल एक डिब्बे से दूसरे में डालने, कभी शक्कर का डिब्बा ख़ाली करने तो कभी आटा भरने की आवाज़ आती रही। बोलने पर जो हल्ला होगा, क्षमा याचना करना होगी, पैरों पर नाक रगड़ना होगी इससे उत्तम यह अबोला था; इसमें शान्ति तो थी किन्तु यह अबोला आजीवन तो रहनेवाला न था इसलिये यह ज़ल्दी टूटे यह भी मैं चाहता था और यह यों टूटे जैसे हमारे सामान्य जीवन के अनुक्रम में कोई व्यवधान हुआ ही न था और मैंने कभी गोबरगौरी पर हाथ न उठाया था। कई बार बा ने गोबरगौरी को पुकारा और वह कभी सब्जी तो कभी छाछ की लुटिया पकड़ा जाती थी किन्तु मेज पर रुकती न थी।

दफ़्तर की राह पैदल जाते बीच रास्ते अटक गया, वहाँ बहुत भीड़ लगी हुई थी और लोग बायीं तरफ देख रहे थे जहाँ पहले लोहे की चद्दर का पुल बना हुआ था क्योंकि मजदूरों और यन्त्रियों ने वह चद्दर हटा दी थी और उसके स्थान पर लोहे की विशालकाय भोंगलियाँ बनी हुई थी। यन्त्री लोग

इन भोंगलियों को पाइपलाइन कहते थे और इन पाइपों पर जगह-जगह जोड़ थे और जगह-जगह पहिए लगे हुये थे। यन्त्री मजदूर को आदेश करते तब मजदूर सरपट पाइप पर चढ़ जाता और पाइप के दोनों तरफ पैर फँसाकर पहिया घुमा देता, पहिए के घूमते ही पानी बहने की आवाज़ आती और कभी कभी जोड़ के स्थान से पानी का फव्वारा फूट पड़ता जिसे सुधारने यन्त्री तो कभी मजदूर दौड़ते।

पाइपलाइन जितनी देखने में सुन्दर संरचना मैंने आज तक देखी न थी, वे एक जटिल जाल के द्वारा एक-दूसरे से जुड़ी हुई थी जैसे कविता का छन्द जुड़ा होता है और अर्थ की भाँति उनमें पानी बह रहा था जिसका केवल शब्द हम तक पहुँच पाता था पानी फ़व्वारा छूटने पर ही दिखता था अन्यथा अन्दर ही अन्दर बहता रहता और केवल आवाज़ आती थी जैसे ज़्यादा पेशाब आने पर कई बार गोबरगौरी को मोरी में ही फारिग होना पड़ता और मुझे आवाज़ आती और कई बार जब मजदूर ज़्यादा पहिया घुमा देता तो पानी के अन्दर घुमड़ने की आवाज़ आती जैसे पाइप फूट पड़ेगा और हम सब उसमें बह जाएँगे। लोहे को पहले भट्टी में पिघलाना फिर मोटे-मोटे पाइपों में ढालना और उसके बाद लादकर दूर-दूर तक बिछाना फिर उसमें पानी छोड़ना और पहियों से खोलना बन्द करना यह यन्त्रियों का चमत्कार ही था। एक पाइप तो इतना मोटा था कि मैं उसमें खड़ा होकर चल सकता था और सिर न झुकाना पड़े। कई बहुत पतले पाइप भी थी जिसमें लुढ़कता बटाटा भी फँस जाये और पहिए भी पाइप के आकार के अनुसार छोटे बड़े थे, कइयों ओर तो चढ़कर मजदूर अपने बदन का पूरा ज़ोर लगाते तब वह जरा सा हिलता, ऐसे में जाम पहिए को तेल पिलाना पड़ता था।

एक गँवार मुझे धक्का मारकर आगे हो गया और पाइप देखने लगा। पाइपों का जाल वहाँ बिछा हुआ था उसके नीचे भूमि न होकर समुद्री नहर थी जहाँ से बॉम्बे का गू-मूत समुद्र में छोड़ा जाता था। बास आने पर वह आदमी नाक पर हाथ रखकर दौड़ा और हड़बड़ी में एक मजदूर पहिया घुमाकर उस पर कूदते-कूदते बचा वरना उस गँवार की ग्रीवा टूटती।

मैं देर तलक उस धूल, बास और घाम में खड़ा-खड़ा पाइपलाइन देखता रहा, इतना सुन्दर दृश्य मैंने इससे पूर्व देखा न था। पाइप पर जगह-जगह जंग लग गया था और वे कहीं से लाल, कहीं हरी हो रही थी, एक पाइप का निचला भाग तो फिरोजी हो गया था और दूसरी दूर से ऐसे रंग की लगती जैसे हमारी बैंक के तिज़ोरी मैनेजर हुसेन हैदर अंगुलि में अक़ीक़ पहनते है। बीच-बीच में जोड़ की जगह जमा नमक मजदूर का हाथ या पाँव लगने पर टुकड़े का टुकड़ा गिर जाता और अनपढ़ जनता उसे देखने दौड़ती कि कोई विशेष वस्तु है। थोड़ी देर बाद ऊबकर लोग तितर-बितर हो गये किन्तु मैं वहीं पाइपलाइन देखता रहा।

दूर से देखने पर उसकी संरचना उत्तम प्रकार से प्रकट हुई और उसका सौन्दर्य मुझे यन्त्रणा देने लगा, पाइपलाइन इतने दिव्य रूप से भरी हो सकती है सम्भव है कोई इस पर विश्वास न करे। ऐसा लगता था जैसे हमारी शिराओं के जंजाल को किसी ने उघारकर रख दिया हो, पाइपलाइन पर

पूर्व से धूप आ रही थी तो उत्तर से सड़क पार किसी इमारत की छाया पड़ रही थी और दक्षिण में समुद्र था। पाइपों का जाल किसी अज्ञात अंग्रेज़ी अक्षर जैसा दिखायी देता था और ऐनक उतरकर देखने पर समुद्र के ऊपर काले-सफ़ेद गुटके जैसे जमे दिखायी देते थे।

यह पाइपलाइन हालाँकि मैंने जीवन में प्रथम बार देखी थी तब भी क्यों मुझे इतनी सुन्दर लग रही थी यह मैं आज तक जान नहीं सका। उस पाइपलाइन को देखते हुये मेरे इतने दिनों से दौड़ते विचार सहसा एक स्थान पर एकत्रित हो गये थे और ऐनक उतारकर देखने पर आँसू गिरने लगे। ऐनक उतारकर और ज़ोर लगाकर देखने का नतीजा था या मनोदशा की तीव्रता यह जानने का मैंने जब यत्न किया तो पाया इस पाइपलाइन के मनोदशा के इतने तीव्र और इतने तीक्ष्ण ढँग से मुझ पर आक्रमण करने के कारण ही था। यदि मैं चित्रकार होता तो सम्भवतया आपको इस पाइपलाइन की सुन्दरता का सही साक्षात्कार करा पाता क्योंकि शब्द एक के बाद एक ही लिखे जा सकते थे, वे समय में घटित होते है किन्तु चित्र पूरा का पूरा एक बार में हम देखते है। चित्र समयानुक्रम से परे होता है। पाइपलाइन देखने की यह घटना मेरी आत्मकथा की सबसे महत्त्वपूर्ण घटनाओं में से एक है और मैं नहीं चाहता कि इसका कोई प्रतीकात्मक अर्थ ग्रहण करे। पाइपलाइन पाइपलाइन को छोड़ कुछ भी नहीं है, वह तो उस समय पानी पहुँचाने की कोई नयी मशीन भी नहीं थी। वह केवल एक चाक्षुष संवेदन था जिसके कारण मैं यह अनुभव कर सका था कि उस समय जीवित होने का क्या अर्थ है जब संसार में पाइपलाइन भी हो।

फ़ारसी कहानियाँ

फ़ारसी में विचारों की अभिव्यक्ति और अर्थ को स्पष्ट करने क़िस्सागोई और कहानी का मॉडल अधिकतर भारत से ही लिया गया है। पंचतन्त्र के पहलवी और फ़ारसी अनुवाद ईरान में मशहूर हुए हैं। उपदेशात्मक अथवा शिक्षाप्रद कहानियों का ये सिलसिला समाप्त होने तक लगभग बीसवीं शताब्दी में नये ढँग और यथार्थ पर आधारित कहानियाँ फ़ारसी में लिखी जाने लगी थीं। पीर मुहम्मद हिजाजी इस दौर के सबसे अधिक प्रभावशाली लेखक हैं। ये कहानियाँ सीधे-सीधे ढँग से लिखी जाती थीं और उनमें किसी प्रकार का पेंच, अस्पष्टता या द्वैध नहीं होता था। कभी-कभी हिजाजी की कहानी अपने अन्त तक आते-आते हिकायत में बदल जाती थी। शायद इसलिए कि अभी तक फ़ारसी कहानी पूरी तरह से उपदेशात्मक शैली से आज़ाद नहीं हो सकी थी।

बीसवीं सदी के मध्य तक आते-आते फ़ारसी कहानी के सामने पश्चिम का मॉडल आ गया था जिसे हम फ़ारसी फ़िक्शन के आधुनिक दौर का नाम दे सकते हैं। अब फ़ारसी कहानिकारों के सामने ज्वायस, प्रूस्त और काफ़्का की कहानियाँ थीं मगर इन कहानिकारों से फ़ारसी लेखकों ने शिल्प और शैली के स्तर पर ही ज़्यादा प्रेरणा ली क्योंकि पूर्व के रहस्य का एक सारभूत तत्त्व हमेशा उनके यहाँ मौजूद रहा और ये कहानियाँ अपनी संवेदनशीलता में अपनी या कहना चाहिए कि पूर्व की परम्परा से मज़बूती के साथ जुड़ी रहीं।

सादिक़ हिदायत ईरानी कथा साहित्य का सबसे बड़ा नाम है। उसने पश्चिमी साहित्य का गहन अध्ययन किया था और वह काफ़्का और पो से बेहद प्रभावित था। उसने पश्चिम के कई देशों का दौरा भी किया था। सादिक ने भारत में भी कुछ वर्ष गुज़ारे थे और अपनी बेहतरीन साहित्यिक कृति 'बूफ-ए-कोर' (blindowl) उसने बम्बई में ही पूरी की थी. 'बूफ-ए-कोर' में बनारस के घाटों का बहुत ही अर्थपूर्ण ज़िक्र किया गया है। इस लम्बी कहानी या उपन्यास में रहस्य का जो पहलू है या और जो उसकी शैली अथवा आख्यान है, वो इस कृति को आधुनिक साहित्य में अतुलनीय बना देते हैं। इस कहानी को पढ़कर आन्द्रे ब्रेतों तक अचम्भित रह गया था। 'जिन्दादर गोर' और 'खून की तीन बूँदें' भी उसकी महत्वपूर्ण रचनाएँ हैं। सादिक़ हिदायत ने १९५१ में पेरिस के एक होटल के कमरे में केवल ४७ वर्ष की आयु में स्वयं को बन्द कर गैस ऑन करके आत्महत्या कर ली थी।

आगे चलकर फ़ारसी कहानी की इस आधुनिक परम्परा में बल्कि शायद सादिक़ हिदायत के प्रभाव के कारण ईरान में उम्दा कहानिकारों की एक नयी खेप सामने आ गयी। तकनीक के नये-नये प्रयोग किये गये और अछूते विषयों पर लिखा जाना शुरू हो गया। जमाल मीर सादिक़, अब्बास हकीम, बाबा मुक़द्दम, गुलाम हुसैन 'साअदी', गुलाम हुसैन 'नज़री' ऐसे लेखक हैं जिनकी कहानियों का तर्जुमा अंग्रेज़ी, फ़्रांसीसी, जर्मन और इतालवी में होने के साथ साथ उर्दू सहित कई भारतीय भाषाओं में भी हुआ है।

इनके अतिरिक्त जलाल आल-ए-अहमद, सीमीन दानिश्वर, समद बहरंगी, फ़रीदा राज़ी, नसीम ख़ाकसार, अमीन फ़कीरी, नादिर इब्राहीमी, फ़रीदून 'तिनका' नबी, मोहसिन दामादी, और होशंग गुलशेरी के नाम आधुनिक फ़ारसी साहित्य के सशक्त हस्ताक्षर हैं।

फ़ारसी कहानी को फ़ारसी में दास्तान-ए-कोताह अर्थात छोटी दास्तान कहा जाता है इसीलिए शायद यहाँ अवामी बोलियों और जन उच्चारण का प्रयोग अधिक मात्रा में मिलता है। भाषा के साथ उनका बर्ताव आज़ादाना है। न केवल संवाद की हद तक बल्कि पूरे आख्यान में ही उनका यह ढँग बहुत ही स्पष्ट है। प्रकृति और मनुष्य के अटूट सम्बन्ध को आधुनिक समय में जितनी शक्तिशाली और कलात्मक तरीके से फ़ारसी कहानियों में पेश किया गया है, वह जापानी को छोड़कर किसी अन्य एशियाई भाषा में कम ही देखने को मिलता है। यही कारण हैं कि ईरानी सिनेमा में भी प्रकृति और मनुष्य का अन्तर्सम्बन्ध बहुत सशक्त नज़र आता है। अब्बास किआरुस्तामी और माजिद मजीदी का सिनेमा इसकी बेहतरीन मिसालें हैं।

होशंग गुलशेरी

होशंग गुलशेरी १९३८ में इस्फ़हान में पैदा हुए और इस्फ़हान से फ़ारसी में स्नातक की डिग्री प्राप्त की। गुलशेरी की कहानियों का पहला संकलन 'हमेशा से है' के नाम से १९६८ में प्रकाशित हुआ। 'मेरी इबादत का छोटा कमरा' (१९७५) में प्रकाशित होने वाला उनकी कहानियों का दूसरा संकलन है। गुलशेरी अपने विवादित उपन्यास 'शहज़ादा एहतिजाब' से बहुत प्रसिद्ध हुए जो १९६९ में प्रकाशित हुआ था। इस उपन्यास पर एक फ़िल्म भी बनी जिसके बाद पहलवी सरकार ने गुलशेरी को छह माह के लिए जेल में डाल दिया था।

गुलशेरी को फ़िक्शन में आधुनिक तकनीक और घने आख्यान के साथ कहानी/उपन्यास लिखने वालों में सर्वोत्तम स्थान प्राप्त है। राजशाही और तानाशाही के खिलाफ अपना प्रतिरोध दर्ज कराने में गुलशेरी की कहानियों और उपन्यासों को सदा याद रखा जाएगा।

जून २००० में तेहरान में होशंग गुलशेरी की मृत्यु हो गयी।

गुलाम हुसैन सा'अदी

गुलाम हुसैन सा'अदी १९३६ में तबरेज में पैदा हुए। कहानी, उपन्यास के साथ साथ उन्होंने ड्रामे भी लिखे हैं। सा'अदी तबरेज विश्वविद्यालय से मेडिकल साइन्स में स्नातक की डिग्री प्राप्त की थी। 'आफताब महल' के नाम से १९५५ में उनकी कहानियों का पहला संकलन प्रकाशित हुआ था। उनकी कहानियों की संख्या चालीस से भी अधिक है जो अधिकतर पत्रिकाओं में छपती रहीं। सा'अदी ने सात उपन्यास और चौतीस नाटक लिखे हैं। कई स्क्रीनप्ले भी लिखे हैं जिनमें उनकी अपनी कहानी 'गाय' (cow) का स्क्रीनप्ले भी शामिल है। सा'अदी ईरान में खुमैनी सरकार स्थापित होने के पश्चात फ़्रांस चले गये थे। तीन वर्षों तक जिलावतनी का जीवन गुज़ारने के बाद १९८५ में उनकी मृत्यु हो गयी।

गुलाम हुसैन सा'अदी यद्यपि बहुत अधिक लिखने वाले लेखकों में शुमार किये जाते हैं मगर उनके लिखने की अनूठी शैली और संवेदनशील भाषा उनको फ़ारसी साहित्य के उच्चकोटि के कहानिकारों में शामिल कर देती है। सा'अदी की तमाम लेखनी का केन्द्र मनुष्य और उसकी मानसिक स्वतन्त्रता रही है। धार्मिक कट्टरपन और निरंकुशता को वह अपने साहित्य में हमेशा निशाना बनाते रहे हैं।

दो भाई

गुलाब हुसैन सा'अदी

उर्दू से अनुवाद : ज़मान तारिक़

छोटा भाई दिन रात इसी उधेड़बुन में रहता और योजनाएँ बनाता कि किस तरह बड़े भाई की दुष्टता से छुटकारा मिले। बड़ा भाई, उसकी नज़र में आलसी, काम-काज का दुश्मन, मूर्ख और मन्दबुद्धि, पूरी तरह आवारागर्द और किसी काम का न था। हमेशा धूप में लेटा चाय पीता और क़िताब पढ़ता और बीजों से भरी जेबें खाली किया करता और कमरे में हर तरफ जहाँ चाहता, बीजों के छिलके और सिगरेटों के टुकड़े बिखेरा करता।

छोटा भाई चाहता था कि बड़ा भाई खुद को बदले, आदमी बने, काम तलाश करे, अपने जीवन में कुछ माल-सामग्री पैदा करे। मगर वह जानता था कि बड़ा भाई बदलने वाला नहीं, उसमें वो सूझ-बूझ ही नहीं कि इन समस्याओं को समझ सके, छोटे भाई की नसीहतों से कुढ़ने के बजाए उनसे सही प्रभाव ले। और बड़ा भाई अगर कुछ करता तो बस ये कि हर दिन पहले से अधिक बुरा, आलसी और बेकार होता जाता था।

छोटा भाई, हर सुबह, सूरज निकलने से पहले, उठकर काम पर चला जाता, और बड़ा भाई

देर से उठता और बिना बिस्तर समेटे, चाय का कप धोए, पर्दे बराबर किये और सिगरेट की राख साफ किये, आवारागर्दी के लिए घर से निकल खड़ा होता। दोपहर के समय जब कमरा धूप से गर्म हो चुका होता, वह वापस लौटता, समीवर जलाकर पानी गर्म करता और सिगरेट का डिब्बा और बीजों का लिफ़ाफ़ा अपने सामने रखकर खुद को कम्बल में लपेट लेता और क़िताब हाथ में लेकर अपनी दुनिया में गुम हो जाता। उसे देखकर ऐसा लगता था कि वह हर प्रकार की व्यस्तता और हर एक चीज़ से आज़ाद है। भरे पेट- क्योंकि वह हमेशा गली के नुक्कड़ से मांस सैंडविच खाकर आया होता- वह समावर की गर्म और मधुर आवाज़ पर कान लगाए क़िताब पढ़ता रहता। मगर बहुत देर न होती कि छोटा भाई, साफ-सुथरा, दरवाज़े से भीतर प्रवेश करता, अपना चश्मा ठीक करता और एक बार ज़ोर से पुकारता। बड़ा भाई क़िताब बन्द करके उठ खड़ा होता और हंगामा रोकने के इरादे से बीजों के छिलके एक रूमाल में एकत्र करने लगता। लेकिन छोटा भाई रूमाल उसके हाथ से लेकर एक तरफ डाल देता और चश्मा उतारकर छिलके समेटने लगता। फिर वह समावर बन्द करता और खिड़की खोलता ताकि ताज़ा हवा कमरे में आ सके। उसके बाद वह पिछले चौबीस घण्टों के कूड़े-करकट को झाड़ू से निचली मंजिल की बालकनी में गिरा देता जिसपर गुस्सा होकर मकान की बूढ़ी मालकिन आकर विरोध करती। फिर वह दिया जलाता, अपने लिए अण्डों का ऑमलेट बनाता और खड़े-खड़े, बड़े भाई की ओर पीठ किये, अपना खाना खाता, कपड़े बदलता, बिस्तर बिछाता और लेट जाता। बड़ा भाई बिना किसी डर-भय के उठकर समावर को दोबारा जला देता; वह जानता था कि छोटा भाई इस बार उसे बन्द नहीं करेगा। तले हुए अण्डों के बाद चाय पीना उसे हद से ज़्यादा पसन्द था। किसी-किसी रात जब छोटा भाई अपने मूड में होता तो उसके चेहरे के भाव कोमल पड़ जाते, वह बैठकर बड़े भाई से बातचीत करने लगता और इस तरह कमरे में भरी वैमनस्य और मनमुटाव की बर्फ़ धीरे-धीरे पिघलने लगती। छोटा भाई रेडियो चलाकर समाचार सुनने लगता। दोनों चाय पीते और एक दूसरे को नाम लेकर पुकारने लगते। लेकिन जब सोने का समय आता और बिस्तर बिछाना होता तो दोनों में झगड़ा और गाली-गलौज फिर से शुरू हो जाती। दोनों उठकर एक दूसरे से उलझ जाते और छोटा भाई जब तक बड़े भाई की नाक समतल और खून से लाल नहीं कर देता, आराम न करता और न सोता। छोटा भाई हमेशा बड़े भाई के आलसीपन, एहसान-फ़रामोशी और आवारागर्दी की शिकायत करता और बड़ा भाई छोटे भाई की बदसुलूकी का दुखड़ा गाता। बड़ा भाई हर चीज़ को भुलाने में असमर्थ होकर बड़ी खिड़की का पर्दा खींच देता और उसके चौखटे के बीचों-बीच दिखाई देते चाँद पर नज़र जमाकर बैठ जाता और आराम से बिस्तर में सोये हुए छोटे भाई की साँसों की आवाज़ सुन-सुनकर कुढ़ता और खुद को जलाता रहता। लेकिन उसे यही सन्देह रहता कि छोटा भाई सो नहीं रहा बल्कि सोने का नाटक कर रहा है और वास्तव में उसके विरुद्ध योजनाएँ बनाने में व्यस्त है; और ये योजनाएँ वह इसलिए नहीं बना रहा कि बड़ा भाई खुशामदी की तरह उसकी जान से चिमट गया है और उसका जीवन बर्बाद कर देने की कगार पर है, बल्कि इसलिए क्योंकि वह बड़े भाई से घृणा करता है और उससे तंग आ चुका है।

एक रात छोटे भाई ने सपना देखा कि बड़ा भाई क़िताबों का एक ढेर बगल में दबाये सीढियाँ चढ़कर ऊपर आया है और उसने ये सारी क़िताबें कमरे के बीच में फैला दी हैं और कमरे के फ़र्श पर जगह-जगह सिगरेट के टुकड़े और बीजों के छिलके बिखेर दिये हैं, समावर जलाकर पानी को उबाल रहा रहा है और उसके जीवन में ज़हर घोल दिया है। और जब उसकी नज़र उसकी इस बखेड़े पर पड़ती है तो वह आपे से बाहर होकर चिल्लाने लगता है कि 'उठो और ये सारी गन्दगी साफ़ करो। वरना मैं इस कूड़े-करकट को समेटकर तुम्हारी लाश समेत खिड़की के बाहर फेंक दूँगा।' ये कहकर वह बढ़ता है कि समावर बन्द कर दे, लेकिन बड़ा भाई, पहले से अधिक निडर होकर, उसकी पिंडली को पकड़ लेता है और चीखकर कहता है, 'क्या कर रहा है, क़ातिल! हट यहाँ से!' छोटा भाई नाराज़ होकर बीजों का लिफ़ाफ़ा उठाकर बड़े भाई के कल्ले पर दे मरता है। बड़ा भाई गिरकर बेहोश हो जाता है। बीजों का लिफ़ाफ़ा फट जाता है और बीज चारों ओर बिखर जाते हैं। छोटा भाई झुककर बड़े भाई की आँखों को देखता है जो खुली हैं और शान्त और स्थिर होकर चाँद पर जमी हुई हैं। वह तुरन्त उठ खड़ा होता है और लाश को एक कोने में छिपा देना चाहता है। लेकिन उसे कोई जगह नहीं मिलती और उसे केवल यही चारा सूझता है कि लाश को क़िताबों और बीजों के ढेर में छिपा दे। लेकिन सारी कोशिशों के बावजूद बड़े भाई के पैर खुले रह जाते हैं और अचानक बूढ़ी मकान मालकिन अन्दर आ जाती है और चिल्लाने लगती है- 'क़ातिल! तुम इसे नहीं छिपा सकते!'

छोटा भाई चीख मारकर जाग उठा और बड़ा भाई, जो जाग रहा था और उसकी उखड़ी हुई साँसों की आवाज़ सुन रहा था, उठा और दरवाज़ा खोलकर भागने ही वाला था कि अचानक उसका पैर फिसला और वह सीढ़ियों पर लुढ़कता चला गया। बूढ़ी मालकिन और निचली मंजिल के किरायेदार बदहवास होकर बाहर निकल आए और बुढ़िया क्रोध से काँपती आवाज़ में चीखकर कहने लगी- 'कल. ..कल सुबह अगर तुम लोगों ने यह मकान ख़ाली न किया तो... तो... मैं पुलिस को ख़बर कर दूँगी. .. समझ गये?... कल सुबह...'

(२)

अगले दिन बुढ़िया इस पर तुली बैठी थी कि दोनों भाई जितनी ज़ल्दी हो सके, इस मकान को ख़ाली कर दें। पहले तो उसने निचली मंजिल की किरायेदार के माध्यम से, जो एक काली, जली हुई रंगत वाली महिला थी, अपनी पिछली रात की धमकी को दोहराया। फिर अगले दिन यही बात किसी से लिखवाकर भेजी। मगर जब देखा कि दोनों भाई टस से मस नहीं होते तो खुद सीढियाँ चढ़कर ऊपर आ पहुँची और बोली कि अब वह उन दोनों की उपस्थिति को सहन नहीं कर सकती। उन्होंने मकान के सभी निवासियों का जीना दूभर कर दिया है। हमेशा सीढ़ियों पर पेशाब करते हैं और पूरे घर से सड़ान्ध उठती रहती है। और सबसे बुरा यह कि अपने घर का सारा कूड़ा-करकट झाड़ू से समेटकर निचली मंज़िल की बालकनी में फेंक देते हैं। और कमरे में चारों ओर बीजों के छिलके और

सिगरेट की राख बिखरी हुई है और पूरा घर कूड़े के ढेर में बदलता जा रहा है। उसका पारा चढ़ता गया और अन्ततः वह चिल्लाने लगी- 'और केवल हम लोग नहीं, तुमने पूरे मोहल्ले का जीना हराम कर दिया है। पूरी गली में खरबूजे के बीजों के छिलके फैले हुए हैं। तुम्हारे पेटों में इतने बीजों की जगह कहाँ से निकल आती है? और तुम बीमार भी नहीं पड़ते कि दो-एक दिन के लिए तो शान्ति हो।'

बड़े भाई ने कम्बल हटाया और बोला- 'बकवास बन्द कर बुढ़िया! तू इस खण्डहर को बड़े वरदान की जगह समझती है। दो तीन दिन ठहर जा, हम खुद यहाँ से निकलकर किसी अच्छी जगह चले जाते हैं।'

बुढ़िया आग बगूला होकर बोली- 'चुप रह कमीने! अगर तीन दिन के अन्दर यह मकान ख़ाली नहीं किया तो मैं सारा सामान उठाकर बाहर फेंक दूँगी।'

जब छोटा भाई घर पहुँचा तो बड़े भाई ने उसे आरम्भ से अन्त तक पूरी कहानी सुनाई कि किस तरह बुढ़िया आई और क्या बोली और उसने क्या उत्तर दिया। छोटे भाई ने सबकुछ सुनने के बाद चिल्लाकर कहा-

'तुम्हारा इन बातों से क्या सम्बन्ध है? तुम्हें क्या काम करना है कि मोहलत माँग ली? तुमसे किसने कहा था उससे झगड़ा करने को? अगर हमें बाहर निकाला गया तो यह तुम्हारे ही कारण होगा। मुझे सारे संकट तुम्हारे कारण झेलने पड़ते हैं। तुम्हें क्या अधिकार है इन मामलों में हस्तक्षेप करने का। हज़ार बार तुम्हें समझाया है कि रातों को नशे में धुत होकर घर मत आया करो, सीढ़ियों पर पेशाब न किया करो, बीजों के छिलके मत फैलाया करो।'

उसने क्रोध में तपकर समावर बुझाया, बीजों का लिफ़ाफ़ा उठाया और उसे पीछे की खिड़की से बराबर के उजाड़ में फेंक दिया। फिर अपना चश्मा ठीक करते हुए बोला- 'अब ये हो ही गया है तो उठो, बाहर जाकर मकान ढूँढो। तुम क्या समझते हो, इस जीवन-काल के लिए मुझे क्या कुछ करना पड़ता है, कितना पसीना बहाना पड़ता है, किस-किस का आदर-सत्कार करना पड़ता है ताकि मकान का किराया भर सकूँ। और इधर तुम हो कि बेपरवाह होकर खाते हो, सोते हो और आवारागर्दी करते हो, अब्बा के भेजे हुए रुपये शर्बत और बीजों में उड़ा डालते हो, मैं तुम्हारी हरकतों से तंग आ गया हूँ। मेरा दिमाग़ बिल्कुल ख़राब हो गया है।'

बड़े भाई ने कहा- 'अगर तुम तंग आ गये हो और तुम्हारा दिमाग़ ख़राब हो गया है तो इसमें मेरा क्या दोष?'

छोटा भाई बोला- 'तो फिर किस नाजायज़ का दोष है? तुम्हारा नहीं तो किसका दोष है? सब तुम्हारी हरकतों की वजह से है, तुम्हारी आवारागर्दियों और तुम्हारे विचित्र प्रकार के दोस्तों की वजह से है।'

बड़ा भाई बोला- 'कौन से दोस्त? तुम्हारे डर से मैं सबसे तो कट गया हूँ।'

छोटे भाई ने कहा- 'अच्छा हुआ, सब मेरा ही खर्च बढ़ाते थे। तुम क्या समझते हो वो तुम्हारी अदाओं के आशिक़ थे? शराब और सिगरेट की लालच में तुम्हारे आगे पीछे फिरते थे। और इस सब के लिए पैसे कहाँ से आते थे, तुम्हारी मुबारक जेब से? सब मुझ बेचारे की गर्दन पर पड़ता था...'

बड़ा भाई बोला- 'बहुत खूब! मगर ये नहीं कहते कि उसके बदले में हज़ार बार तुम मुझे अपने कामों से भेजते थे। और अब भी तुम्हारे कपड़े धोने और जूते पॉलिश करने का काम मैं नहीं तो कौन करता है?'

छोटा भाई घूँसा तानकर सामने आया और जवाब देने के बजाय बड़े भाई के चेहरे पर ज़ोर का घूँसा मारा। बड़ा भाई चीख मारकर फर्श पर गिर पड़ा। उसकी नाक से खून बह रहा था।

बूढ़ी मकान मालकिन और निचली मंजिल की किरायेदार औरत ऊपर आयीं और दरवाज़े की ओट से झाँकने लगीं।

बुढ़िया प्रसन्न होकर बोली- 'बहुत अच्छा हुआ। यह मुर्दा कमीना इसी का पात्र था।'

बड़े भाई ने बुढ़िया की बात सुनी तो उठकर दरवाज़ा खोल दिया। मकान मालकिन और किरायेदारनी डरकर पीछे हट गयीं और बड़े भाई ने ज़ोर से ठहाका लगाया।

(३)

अगले दिन छोटे भाई ने बड़े भाई को मकान ढूँढने के काम पर लगाया। बड़ा भाई घर से पाँव बाहर निकालते ही भूल गया कि किस काम से निकला था, और लापरवाही से सड़कों और गलियों में आवारागर्दी करने लगा। कभी अखबार बेचने वाले के स्टाल के पास खड़ा हो जाता, कभी पुरानी चीज़ें बेचने वाले के पास और कभी क़िताबों की दुकान पर। बीजों से भरा लिफ़ाफ़ा उसके हाथ में था और दो सिगरेटों के बीच की अवधि में वह गली में बीजों के छिलके बिखेरता चल रहा था। और उन चिड़ियों का तमाशा देख रहा था जो पतझड़ के मौसम में थकान से चूर होकर वृक्षों की शरण में जाकर स्वयं को गर्म रखने का प्रयास कर रही थीं। जब चलते-चलते थक जाता तो गली के चबूतरे पर बैठ जाता और या तो क़िताब निकालकर कुछ पन्ने पढ़ता या नया सिगरेट जला लेता।

दोपहर को जब उसने घर लौटने का इरादा किया तो उसे याद आया कि किस इरादे से घर से निकला था। वह कुछ देर और बाहर रहा और जब घर पहुँचा तो छोटा भाई वापस आ चुका था और अपने कपड़े इस्त्री कर रहा था। उसने सर उठाये बिना पूछा- 'अच्छा, तो फिर क्या रहा?'

बड़ा भाई फ़र्श पर बैठ गया और छिलकों के ढेर में हाथ से टटोलकर खड़े बीज तलाश करते हुए बोला- 'कोई ख़ाली कमरा तक नहीं मिला। मैं तो थक गया। पूरे शहर में पैदल फिरा हूँ, हर जगह

गया हूँ। एक कमरे का मकान कहीं नहीं मिलता। सारे तीन कमरों के, चार कमरों के, पाँच कमरों के मकान हैं, टेलीफ़ोन और बाथरूम और टीम-टाम वाले।'

छोटे भाई ने पूछा- 'किस-किस ओर गये थे?'

बड़े भाई ने जवाब दिया- 'यहीं आस-पास के इलाक़ों में। केवल एक जगह एक कमरा दिखायी दिया मगर वह हमारे काम का नहीं था।'

छोटा भाई बोला- 'क्यों? हमारे काम का क्यों नहीं था?'

बड़े भाई ने कहा- 'एक तो वह जगह ठीक नहीं थी जहाँ वह स्थित है, दूसरे उसकी मालकिन भी एक चिड़चिड़ी बुढ़िया थी; तीसरे उसमें पानी नहीं था। और सबसे बढ़कर ये कि इतना छोटा था कि दो आदमियों की जगह नहीं थी। अगर एक आदमी भी पैर फैलाकर सोना चाहे तो उसे अपने पैर खिड़की से बाहर बाग में लटकाने पड़ें।'

छोटे भाई ने कहा- 'अच्छा?'

बड़ा भाई बोला- 'अच्छा क्या? इतना छोटा और अन्धकारपूर्ण कि आदमी वहाँ बैठकर एक पन्ना भी नहीं पढ़ सकता।'

छोटे भाई ने कहा- 'अब बैठकर पढ़ने का विचार तो मन से निकाल ही दो। इसी पढ़ने ने तुम्हें इतना आलसी और निकम्मा बना दिया है। अब तुम्हें बाहर निकलकर कोई काम-काज ढूँढना होगा। फालतू बैठकर पढ़ना बहुत हो चुका। पेट ख़ाली हो तो सब बेकार है।'

बड़ा भाई बोला- 'जानता हूँ।'

छोटे भाई ने कहा- 'कल चाहे जो कुछ हो, जाकर वो कोठरी किराये पर ले लो ताकि सामान वहाँ ले जाया जा सके।'

बड़ा भाई बोला- 'मगर मुश्किल यह है कि...'

छोटा भाई चिल्लाकर बोला- 'मैं कोई मुश्किल-वुश्किल नहीं सुनना चाहता, समझे?'

गुस्से में आकर उसने गालियाँ देना और कमरे में एक कोने से दूसरे कोने तक टहलना शुरू कर दिया। फिर उसने खाँसकर चश्मा साफ़ किया, अण्डों का ऑमलेट खाया और पढ़कर सो गया। अगला दिन बीत गया, फिर उससे अगला भी। बड़ा भाई प्रतिदिन घर से निकलता, चिड़ियों का तमाशा देखता, छोटे भाई से चुराये हुए सिगरेट फूँकता, बीज खाता और दोपहर को अपनी गढ़ी हुई विचित्र कहानियों के साथ घर लौट आता। वह बताता कि आज कहाँ-कहाँ की धूल फाँकते हुए बदहाल हुआ, किस तरह पैसे बसों के किराये और दूसरी चीज़ों पर खर्च किए, क्या-क्या कठिनाइयाँ झेलीं और इतना कुछ होने पर भी कोई मकान नहीं मिला। और यह कि कोठरी की मालकिन ने भी दो छुट्टे मर्दों को किरायेदार बनाने से मना कर दिया क्योंकि उसकी दो जवान बेटियाँ हैं और वह कोई सरदर्द मोल

लेने को तैयार नहीं। छोटा भाई सब कुछ सुनता, सर हिलाता, मगर मुँह से कुछ न कहता।

तीन दिन की मोहलत यूँ बीत गयी। छोटे भाई को पहले से हर चीज़ का अनुमान था। वह बेहद गुस्से की हालत में था और प्रतीक्षा कर रहा था कि अन्तिम दिन आये तो बड़े भाई से बदला ले।

तीसरे दिन मग़रिब के समय बुढ़िया खाँसती हुई सीढ़ी से ऊपर आई और मुट्ठियों से दरवाज़ा पीटने लगी। छोटे भाई ने, जो कुर्सी पर बैठा था, बड़े भाई को इशारा किया कि बुढ़िया को जवाब दे। बड़े भाई ने दरवाज़ा खोला। बुढ़िया ने पूछा- 'फिर?'

बड़ा भाई बोला- 'जा रहे हैं।'

बुढ़िया ने कहा- 'कब?'

बड़ा भाई बोला- 'बस, कल।'

बुढ़िया ने कहा- 'तीन दिन की मोहलत समाप्त हो गयी। मैं यहाँ ताला डालने आयी हूँ।'

बड़ा भाई बोला- 'मोहलत समाप्त हो गयी, पता है। कल जा रहे हैं। अभी ताला डाल दोगी तो सामान कैसे निकालेंगे?'

बुढ़िया चुप साधकर सीढ़ी से नीचे उतर गयी।

'अब क्या करेंगे?' बड़े भाई ने पूछा।

छोटा भाई बोला- 'मुझे क्या पता।'

बड़ा भाई ने कहा- 'कोई उपाय सोचो।'

छोटा भाई बोला- 'मैं कोई उपाय सोचूँ? तुम अपने बीमार, टेढ़े दिमाग से कोई उपाय सोचो। और जो कोई पागलपन का उपाय भेजे में आये उसे कर डालो।'

बड़े भाई ने आँखें बन्द कीं और भँवें चढ़ा लीं।

छोटे भाई ने पूछा- 'ये भांड जैसा मुँह क्यों बना रखा है?'

बड़ा भाई बोला- 'सोच रहा हूँ।'

छोटा भाई चिल्लाया- 'निकल जाओ यहाँ से, गधे! गधों जैसी हरकतें कर रहे हो।'

बन्द आँखों और ऊँघते हुए दिमाग के साथ बड़ा भाई सिगरेटों और मांस सैंडविच और खरबूजे के बीजों और खाली बोतलों के बारे में सोच रहा था और उसके कानों में केवल चिड़ियों की आवाज़ें थीं।

छोटे भाई ने चीखकर कहा- 'खुदा के वास्ते, ज़ल्दी करो!'

बड़े भाई ने आँखें खोलीं और कहा- 'उपाय सूझ गया! हम में से एक को बीमार पड़ना होगा।'

छोटे भाई ने पूछा- 'उससे क्या फ़ायदा होगा?'

बड़ा भाई बोला- 'ऐसे में बुढ़िया हमें नहीं निकाल सकेगी।'

छोटा भाई बोला- 'जो कुछ करना चाहते हो करो। बीमार पड़ना है तो बीमार पड़ जाओ। मैं तो खुदा से चाहता हूँ कि तुमसे जान छूटे।'

बड़ा भाई कहने लगा- 'बहुत खूब! तो मैं बीमार बनकर कोने में लेट जाता हूँ। मुझे बस कुछ सिगरेट, थोड़े से बीज और दो एक उपन्यास मिल जाएँ तो मैं वहीं जड़ पकड़ लूँगा।'

छोटे भाई ने कहा- 'अच्छा, ये उपाय है!'

बड़ा भाई बोला- 'कैसा उपाय?'

और बेबसी से छोटे भाई की ओर देखने लगा। छोटा भाई कमरे में टहलने और सहमति में सर हिलाने लगा। यह देखकर बड़े भाई ने कोने में अपना बिस्तर लगाया, कुछ क़िताबें अपने सिरहाने रखीं और बीजों के लिफाफे समेत कम्बल में घुसकर कराहने लगा। बड़ा भाई बीमार पड़ गया।

(४)

अगले दिन दोपहर के समय जब बूढ़ी मकान मालकिन कमरे में ताला डालने के लिए सीढ़ियाँ चढ़कर ऊपर आयी तो उसे पता था कि कमरा खाली नहीं हुआ है। फिर भी वह अनजान बनकर ऊपर पहुँची। सीढ़ियों से ऊपर आते ही उसे बड़े भाई के कराहने की आवाज़ें सुनायी दीं। वह कुछ देर कान लगाये सुनती रही और फिर दरवाज़ा खटखटाकर पूछने लगी- 'तुम अभी गये नहीं?'

छोटे भाई ने कुछ जवाब नहीं दिया। बड़ा भाई कराहते हुए बोला- 'मैं मर रहा हूँ। मुझ पर दया करो। मेरी ऐसी हालत है, हम ऐसे में कहाँ जा सकते हैं? मेरा दिल डूब रहा है, टांगें सूज गयी हैं, मुझसे साँस भी नहीं ली जा रही।'

बुढ़िया ने कहा- 'मेरे सामने ढोंग करने की आवश्यकता नहीं। मैं कुछ नहीं सुनना चाहती।'

बड़ा भाई बोला- 'खुदा की क़सम, पीर-पैग़म्बर की क़सम, मैं मर रहा हूँ।'

बुढ़िया ने कहा- 'तो मुझसे क्या मतलब? तुम तो सदा के मरीज हो।'

बड़े भाई ने ज़ोर से आह भरी और छोटा भाई गुस्से में आकर टहलने लगा। वह कभी दरवाज़े की ओर देखता था कभी बड़े भाई की ओर। उसकी आँखें जल रही थीं और वह चाहता था कि बड़े भाई को उठाकर बुढ़िया के मुँह पर दे मारे और दोनों को नरक के सबसे निचले वर्ग में धकेल दे।

बुढ़िया अपने आप से कहने लगी- 'अगर यह वास्तव में बीमार है तो इन्हें बाहर निकालना खुदा को पसन्द नहीं आएगा।'

यह कहकर वह दो-तीन सीढियाँ नीचे उतर गयी। दोनों भाई कान लगाकर उसके सीढियाँ उतरने की आहट सुनते रहे। बड़े भाई ने कराहना बन्द कर दिया। बुढ़िया जो अभी सीढ़ी पर ही थी, उसे सन्देह हुआ कि कहीं यह मुझे मूर्ख तो नहीं बना रहा?'

वह फिर ऊपर आई और दरवाज़े के पीछे छिप गयी। कमरे से कराहने की आवाज़ें आ रही थीं। उसने दोबारा दरवाज़ा खटखटाया और गम्भीर स्वर में बोली- 'जितनी ज़ल्दी स्वस्थ हो जाओ उतना ही अच्छा है।'

बड़े भाई ने दुहाई दी। 'बहुत अच्छा।'

बुढ़िया सीढ़ियाँ उतरकर नीचे चली गयी और बड़ा भाई काम बिगड़ जाने के डर से अपनी जगह लेटा रहा। पाँच दिन और रातें इसी तरह बीत गयीं कि बड़ा भाई चौबीस घण्टों में एक-दो बार से अधिक बिस्तर से नहीं उठा। वह कम्बल ओढ़े पड़ा रहता और क़िताबें पढ़ा करता। उसके अन्दर क़िताबें पढ़ने की ऐसी लालसा उत्पन्न हो गयी थी कि बीज खाने की चाह भी ठण्डी पड़ गयी थी। दोपहर और रात को जब बुढ़िया सो जाती और उसके खर्राटे पूरे मकान में गूँजने लगते तो वह चुपके से उठता और नान और मांस खाने घर से बाहर निकलता। जूते हाथों में ले रखे होते और चारदीवारी के दरवाज़े से निकलते हुए उसकी घण्टी की जंजीर को पकड़कर ऊपर उठा लेता ताकि कहीं बुढ़िया जाग न जाए। बाहर निकलकर वह तेज़-तेज़ कदम उठाता गली के नुक्कड़ तक जाता और नान में लिपटी हुई मछली के टुकड़े काटते हुए अखबारों के स्टाल पर नज़र डालता, सिगरेट खरीदता और उसी तेज़ी के साथ वापस आ जाता। आँगन के दरवाज़े के पास पहुँचकर वह फिर जूते हाथ में ले लेता, जंजीर को ऊपर उठाता और सावधानी से सीढियाँ चढ़कर ऊपर पहुँच जाता।

इस पाँच दिन-रात की समयावधि में बुढ़िया एक बार भी उसे पकड़ नहीं सकी थी, ये अलग बात कि निचली मंज़िल की किरायेदारनी ने कई बार उसे देखा था और बिना आवाज़ निकाले हँसी थी। लेकिन बड़े भाई को इससे कोई समस्या नहीं हुई थी और वह आश्वस्त था कि वह उसका भांडा नहीं फोड़ेगी। बुढ़िया प्रतिदिन शोर मचाती हुई ऊपर आती और उंगलियाँ नचा-नचाकर धमकियाँ देती। छोटा भाई हमेशा त्यौरी चढ़ाये, आधी नान और दो अण्डे लिए घर में प्रवेश करता, खाना खाता और मकान में पसरे सन्नाटे को अपनी गालियों और शोर-शराबे से तितर-बितर कर देता। वह बुढ़िया की कही हुई बातें दोहराता कि ज़ल्दी से कोई जगह तलाश करो ताकि हम यहाँ से निकलें, और ये कि कब तक कम्बल ओढ़े पड़े गालियाँ खाते रहोगे।

पाँचवें दिन शाम ढलते समय बुढ़िया ने ऊपर आकर दरवाज़ा खटखटाया और जवाब की प्रतीक्षा किये बिना खुद ही दरवाज़ा खोल लिया। वह अपने साथ एक छोटे कद के आदमी को लायी थी जिसके हाथ में एक छोटा सा बैग था। छोटा भाई अभी नहीं आया था। बड़े भाई ने चकित आँखों से बुढ़िया और नवागन्तुक व्यक्ति को देखा। यह क्या बखेड़ा है? बुढ़िया ने मुँह से एक शब्द निकाले बिना बड़े भाई की ओर इशारा किया। हाथ में बैग थामे वह व्यक्ति तसल्ली से बड़े भाई की ओर देखकर

मुस्कुराया। बड़े भाई ने पास रखी हुई क़िताब उठाई और उन दोनों से बेपरवाह होकर पढ़ने में लीन हो गया। बुढ़िया नवागन्तुक को सम्बोधित करते हुए बोली- 'डॉक्टर साहब कृपा करके इसकी जाँच कीजिए। अगर यह बीमार है तो जितनी ज़ल्दी सम्भव हो, इसका इलाज कीजिए। और अगर बीमार नहीं है तो मुझे बताइए।'

डॉक्टर ने सर हिलाया, आगे बढ़कर बड़े भाई के पास बैठ गया और अपना बैग खोल लिया। उसने बैग से स्टेथोस्कोप, ब्लड-प्रेशर मापने का आला, आईना, थर्मामीटर, हथोड़ी, कई टेस्ट-ट्यूब और कुछ काग़ज़ात निकाले और करुण भाव के साथ बड़े भाई से बोला- 'क्या शिकायत है?'

बड़े भाई ने कुछ जवाब नहीं दिया और उसी तरह क़िताब के पन्ने उलटने-पुलटने में लगा रहा।

डॉक्टर ने पूछा- 'क्या आप बीमार हैं?'

बड़ा भाई धीमे स्वर में बोला- 'हाँ।'

डॉक्टर ने पूछा- 'क्या बीमारी है?'

बड़े भाई ने कहा- 'मर रहा हूँ।'

डॉक्टर ने सर हिलाकर कहा- 'बहुत खूब। चलिए, देखता हूँ।'

बड़े भाई ने कहा- 'क्या करना है आपको?'

डॉक्टर बोला- 'आपकी जाँच करनी है।'

बड़े भाई ने कहा- 'किसलिए?'

डॉक्टर ने कहा- 'ताकि इलाज हो सके।'

बड़े भाई ने पूछा- 'कौन हैं आप?'

डॉक्टर ने कहा- 'डॉक्टर हूँ।'

डॉक्टर ने उन मेडिकल उपकरणों की ओर इशारा किया जो बैग से निकाले थे। बड़ा भाई बोला- 'आपको किसी ने नहीं बुलाया है।'

डॉक्टर बोला- 'मैं खुद से तो नहीं आया हूँ। इन ख़ानम ने बुलवाया है।'

बड़े भाई ने कहा- 'इनको क्या आवश्यकता थी। इनसे किसी ने नहीं कहा था।'

बुढ़िया कहने लगी- 'ये बाल मैंने धूप में सफ़ेद नहीं किये हैं। कोई मुझसे चालाकी नहीं कर सकता। डॉक्टर साहब, खुदा के वास्ते, आप इसकी अच्छी तरह जाँच कीजिए। अगर यह अकेले आपके क़ाबू में न आये तो मैं मोहल्ले से कुछ लोगों को बुलवा लेती हूँ। वो इसके हाथ पाँव पकड़ लेंगे।'

बड़ा भाई बोला- 'खुदा की क़सम, अगर तुम पूरी दुनिया को भी यहाँ बुलवा लो तब भी मैं

किसी को हाथ नहीं लगाने दूँगा।'

डॉक्टर ने कहा- 'क्यों?'

बड़ा भाई बोला- 'मैं डॉक्टरी को नहीं मानता।'

डॉक्टर मुस्कुराकर कहने लगा- 'अच्छा, समझा, समझा। बहुत खूब। ख़ानम। आपसे आग्रह करता हूँ कि कुछ देर के लिए बाहर ठहरिए। ये आपके सामने बात नहीं करना चाहते।'

दरवाज़े से बाहर निकलते हुए बुढ़िया बड़बड़ाने लगी- 'मेरे सामने बात करते हुए शर्म आती है, रातों को सीढ़ियों पर पेशाब करते शर्म नहीं आती। मेरे सामने नहीं बता सकता कि क्या तकलीफ़ है!'

डॉक्टर ने उठकर दरवाज़ा बन्द किया और फिर आकर बड़े भाई के पास बैठ गया। फिर उसने मुस्कुराते हुए बड़े भाई के कन्धे पर हाथ रखा और बोला- 'तो ये बात है!'

बड़ा भाई बोला- 'हाँ, यही बात है।'

डॉक्टर ने पूछा- 'तो अब क्या करना चाहते हो?'

बड़े भाई ने कहा- 'पता नहीं, कुछ समझ में नहीं आता।'

डॉक्टर ने कहा- 'इसका कोई फ़ायदा नहीं।'

बड़े भाई ने पूछा- 'फिर क्या करूँ?'

डॉक्टर ने कहा- 'आख़िरकार यह जगह छोड़नी ही है। या नहीं?'

बड़ा भाई बोला- 'लगता तो ऐसा ही है।'

डॉक्टर ने कहा- 'क्या मैं उससे बात करूँ?'

बड़े भाई ने पूछा- 'किसलिए?'

डॉक्टर ने कहा- 'ताकि तुम यहीं रहो और वह तुम्हें सताना छोड़ दे।'

बड़ा भाई बोला- 'केवल बुढ़िया की बात नहीं। मेरे छोटे भाई से भी बात करनी होगी। वह मेरा जानी दुश्मन है। समझता हैं मैं उसके गले का भार हूँ। मुझे एकदम आलसी और नाकारा समझता है। हमेशा मुझे बुरा भला कहता रहता है कि मैं बेकार पड़ा रहता हूँ, आवारागर्दी करता हूँ और जाने क्या-क्या। इस बात पर खौलता रहता है कि मैं कोई काम क्यों नहीं ढूँढता। समझता नहीं कि मुझमें काम करने की योग्यता ही नहीं है। और फिर मेरा खर्च भी ज़्यादा नहीं। दो सफ़ेद नान और सौ ग्राम मांस मेरे लिए पर्याप्त है। थोड़े से बीज और सिगरेट अवश्य मुझे चाहिए होते हैं, और अगर थोड़ा सा शरबत मिल जाए तो पी लेता हूँ, वो भी जब कोई पिला दे। प्रतिदिन एक-दो बार मुझ पर हाथ उठाता है, वो भी बिना कारण। अब कुछ दिनों से बीमार हूँ तो उसने पीछा छोड़ रखा है। मगर अब

यह बुढ़िया पीछे पड़ गयी है। समझती है मैं जानबूझकर सीढ़ियों पर पेशाब करता हूँ और बीज केवल इसलिए खाता हूँ कि उनके सारे छिलके मैं फैला सकूँ। मुझे दुनिया का सबसे बड़ा मूर्ख समझती है। मेरे भाई के साथ इतनी बुरी नहीं है। अधिकतर मेरे ही कारण हम दोनों को निकाल बाहर करना चाहती है। और मेरे भाई को भी पता है कि मुझसे जलती है। आज कल में मुझे तर्क-वितर्क और मार खाने के लिए तैयार रहना होगा।'

डॉक्टर अपने सामान बैग में वापस रखते हुए बोला- 'ये सब तो हुआ। अब चाहते क्या हो?'

बड़ा भाई बोला- 'शर्बत का एक गिलास मिल जाता तो बहुत अच्छा होता।'

डॉक्टर ने कहा- 'ये तो कुछ कठिन नहीं। अस्ल समस्या तो मकान की है। मैं एक मकान जानता हूँ जिसका किरायेदार चला गया है और निचली मंज़िल ख़ाली है। तुम वहाँ रह सकते हो। मैं आज रात सब तय कर लूँगा।'

बड़ा भाई पूछने लगा- 'कहाँ है? किस मोहल्ले में है?'

डॉक्टर काग़ज़ पर उस मकान का पता लिखते हुए बोला- 'शहर का सबसे अच्छा मोहल्ला है। मुबारकाबाद। मकान नम्बर इकतालीस।'

ये कहकर उसने काग़ज़ बड़े भाई को थमा दिया। बड़े भाई ने पूछा- 'अब क्या करना होगा?'

डॉक्टर ने कहा- 'कल सुबह सामान वहाँ ले जाना। मैं एक-आध दिन में तुमसे मिलने आऊँगा। शायद तुम्हारे लिए खुशी की ख़बर लाऊँ।'

वह उठ खड़ा हुआ और बड़े भाई के सिरहाने से मुट्ठी भर बीज उठाकर जेब में डालते हुए कमरे से बाहर चला गया। बुढ़िया जो सीढ़ी के नीचे खड़ी थी, पूछने लगी- 'डॉक्टर साहब, क्या यह सचमुच बीमार है?'

डॉक्टर ने कहा- 'जी, ख़ानम। सचमुच बीमार है। उसे बड़ी असाधारण बीमारी है। मगर मैंने ऐसा नुस्ख़ा लिख दिया है कि सुबह तक निश्चित तौर पर ठीक हो जाएगा।'

(५)

छोटा भाई उस दिन ये इरादा करके घर पहुँचा कि आज बड़े भाई से अच्छी तरह हिसाब लेगा। जब कमरे में प्रवेश किया तो अचम्भित होकर अपनी जगह खड़ा रह गया। बड़ा भाई बिस्तर से उठ चुका था, खिड़कियों से पर्दे उतार लिये थे, क़िताबें और सूटकेस बाँध लिए थे और उन्हें एक ओर रख दिया था। छोटा भाई दंग होकर बोला- 'यह क्या है? क्या हुआ?'

बड़े भाई ने कहा- 'कल यहाँ से जा रहे हैं।'

छोटे भाई ने पूछा- 'कहाँ?'

बड़े भाई ने छोटे भाई को नये मकान का पता दिखाया। छोटा भाई उसे बार-बार मुँह-ही-मुँह दोहराने लगा- 'मुबारकबाद... मकान नम्बर इकतालीस...मुबारकबाद...मकान नम्बर इकतालीस...'

बड़ा भाई पूछने लगा- 'कैसा है? ठीक है?'

छोटे भाई ने पूछा- 'कैसे मिला?'

बड़ा भाई बोला- 'यह मेरा रहस्य है। तुम्हें नहीं बता सकता।'

छोटे भाई ने पूछा- 'कैसा रहस्य?'

बड़ा भाई बोला- 'छानबीन मत करो। मैं नहीं बताने का।'

छोटा भाई सोच में पड़ गया और और थोड़ी देर बाद बोला- 'बहुत अच्छा। मत बताओ। मगर मैं इस पूरे सामान की तलाशी लूँगा। विशेष रूप से तुम्हारे सूटकेस की। क्योंकि मैं नहीं चाहता कि नये मकान में भी इसी गन्दगी में गुज़ारा करूँ।' यह कहकर उसने पास वाला सूटकेस उठाकर खोल लिया। सूटकेस में क़िताबें भरी हुई थीं और क़िताबों के ऊपर गोल लपेटी हुई रस्सी रखी थी। छोटे भाई ने पूछा- 'यह क्या है?'

बड़ा भाई बोला- 'इसे हाथ मत लगाओ। फाँसी की रस्सी है। एक बच्चे ने मुझे दी थी।'

छोटे भाई ने रस्सी को उठाकर पिछली खिड़की से बाहर कूड़े के ढेर पर उछाल दिया और बोला- 'जब तुम पुलिस या जल्लादी के काम पर नियुक्त होगे तो इससे अच्छी रस्सी खरीद दूँगा।'

फिर उसने दूसरा सूटकेस खोला। दूसरा सूटकेस भी क़िताबों से भरा हुआ था और उनके साथ एक बड़ी सी बोतल काले कपड़े में लिपटी रखी हुई थी। छोटे भाई ने बोतल का ढक्कन खोला और उसे सूँघा। उसमें एक गाढ़ा तरल पदार्थ भरा हुआ था जिससे कड़वे बादामों और नेफ्थलीन की गन्ध आ रही थी। छोटे भाई ने बड़े भाई से पूछा- 'यह निश्चित रूप से जहर की बोतल होगी, क्यों?' और बोतल को दोबारा काले कपड़े में लपेटकर खिड़की से बाहर फेंक दिया। फिर उसने तीसरा सूटकेस खोला। उसमें बीज भरे हुए थे और उनके ऊपर एक गत्ते के टुकड़े पर बड़े भाई की लिखावट में लिखा हुआ था- 'आने वाले कल के लिए संग्रहित। मोर्दाद महीना। सन बत्तीस।'

छोटे भाई ने दोहराया- 'आने वाले कल के लिए? कौन-से आने वाले कल के लिए?

और सूटकेस को उठाया और उसे बाहर फेंकने ही वाला था कि बड़े भाई ने लपककर उसका हाथ पकड़ लिया और चीखकर बोला- 'मत करो। वरना मैं तुम्हारा चश्मा तोड़ दूँगा।'

छोटे भाई ने सूटकेस को मेज़ पर रख दिया और बोला- 'क्या बकवास है!'

और घूँसा तानकर बड़े भाई की ओर बढ़ा। दूसरी ओर से बड़ा भाई भी उसकी ओर लपका। दोनों गुत्थम-गुत्था हो गये और ऐसी हाथापाई की कि पूरा मकान हिलने लगा। थोड़ी देर बाद बूढ़ी मकान मालकिन और निचली मंज़िल की किरायेदारनी ने ऊपर आकर उन्हें चेतावनी दी कि अगर

उन्होंने लड़ना बन्द नहीं किया तो वो चिल्लाकर गश्त करने वाले सिपाहियों को बुला लेंगी। बड़ा भाई जो नीचे पड़ा छोटे भाई की लातों के निशाने पर था, चिल्लाकर बोला- 'तुम्हें इससे क्या मतलब? क्या हम अपने घर में लड़ भी नहीं सकते।'

(६)

अगले दिन सुबह वो दोनों सामान उठाकर मकान नम्बर ४१, मुबारकाबाद में शिफ्ट हो गये। वहाँ उनकी प्रतीक्षा हो रही थी। एक दूसरे से मिले हुए दो कमरों के घर ने, जिसमें एक छोटी सी खिड़की ज़मीन की सतह से कुछ क़दम नीचे लगी हुई थी, दोनों भाइयों को निगल लिया। उन्होंने अपना सामान भीतर वाले कमरे में एकत्रित कूड़े-करकट के आस-पास रख दिया और बैठकर सिगरेट सुलगा लिये। छोटा भाई बोला- 'यहाँ सामान ठीक करने से पहले तुम्हें क़सम खानी होगी कि तुम स्वयं को बदल डालोगे। और ये चलन छोड़कर कोई काम तलाश करोगे। मेरे लिए ही सही!'

एक बूढ़ा आदमी अन्दर आया और उसने उन्हें मकान दिखलाया। मकान का एक कोना भी सुखद या आरामदायक नहीं था। नमी दीवारों के ऊपर तक पहुँची हुई थी और सीलन और जंग और मरे हुए चूहों की गन्ध पूरे मकान में फैली हुई थी। केवल मकान का बड़ा आँगन ठीक अवस्था में था; वहाँ छोटा सा बागीचा था जिसमें पीले और लाल रंग के फूल थे और एक छोटा सा कुण्ड मुर्दे की आँखों के समान अचम्भित होकर आकाश को ताक रहा था।

मकान की बाक़ी सभी मंज़िलें खाली थीं सिवाय सबसे ऊपर वाली मंजिल के जहाँ एक बड़ा सा धूप भरा आँगन था जिसमें एक जवान औरत वहाँ बन्धी रस्सी पर अपने अन्तर्वस्त्र सूखने के लिए फैला रही थी।

मकान के दोनों ओर उजाड़ थे और एक ओर चौड़ी कच्ची सड़क जिस पर धूल में अटे हुए बदहाल बुलडोज़र कीड़ों की तरह चल फिर रहे थे और न जाने किस कार्य में व्यस्त थे। उस कच्ची सड़क के कोने पर एक क़ब्रिस्तान था जिसमें क़ब्रों के पत्थर आदमी के कद के बराबर थे और दूर से देखकर यूँ लगता था जैसे लोग सफ बाँधकर जमात के साथ नमाज पढ़ने के लिए खड़े हैं।

बड़े भाई ने उसी समय निश्चय किया कि पहली फुर्सत में इस क़ब्रिस्तान की सैर को जाएगा। उसने स्वयं से कहा- 'हर जुमेरात और ख़ैरात के दिन पेट भरकर अजा का खाना खाया करूँगा, खुर्मा और हलवा खाने को मिलेगा। दूसरे दिनों में मुझे वहाँ कुछ एकान्त के पल नसीब आ जाया करेंगे। शायद कभी ऐसा हो कि उस बुढ़िया का जनाज़ा आए और मेरे कलेजे को ठण्डक मिले।'

कमरे भाँति-भाँति के कीड़े-मकोड़ों से भरे हुए थे, रेशमी परों और टांगों वाली हज़ारों मकड़ियाँ, बड़े-बड़े रंगीन कीड़े जो अपने गिर्द चक्कर काटकर अपनी गुदाओं से छोटे-छोटे सफ़ेद बच्चों को बाहर निकाल रहे थे, और बिगड़े हुए रूपों वाली बूढ़ी शहद की मक्खियाँ जो उड़ने के योग्य न रही थीं और

अब केवल रेंग रही थीं, और माचिस की तीलियों से मिलते-जुलते हरे रंग के कीड़े जो जोड़े बनाए इधर-उधर चल फिर रहे थे।

छोटे भाई ने कहा- 'बड़ा विचित्र मकान ढूँढा है तुमने। तुम्हें लगता है हम इस गन्दगी के बीच सोएँगे? जब तक तुम इस पूरे मकान की सफ़ाई नहीं कर लोगे और ये सब कीड़े नहीं मार दोगे, सामान नहीं खोला जाएगा।'

बड़े भाई के पास आज्ञा-पालन के सिवा कोई चारा नहीं था। वह नहीं चाहता था कि नये मकान में उनके जीवन का शुभारम्भ घूँसेबाजी से हो। लाचार होकर उसने अपना कोट उतारा, हालाँकि मौसम ठण्डा था, और कीड़े-मकोड़ों का अन्त करना प्रारम्भ कर दिया। मकड़ियों को पकड़ना और मारना आसान था; जब तक उन्हें ख़तरे का आभास होता और वो अपनी टांगें समेटतीं, तब तक मार पड़ चुकी होती और दीवार पर उनके गन्दे खून में सने हुए निशान बाक़ी रह जाते। बड़े मकोड़े बचने के लिए भागते, बड़ा भाई हँसता और उनकी नकल उतारता हुआ उनका पीछा करता और अपने जूते से उन पर आक्रमण करता। लेकिन छोटे कीड़े, जोड़े बनाकर फिरने वाले, किसी तरह हाथ न आते। एक मार सहकर घायल होने के बाद वो कुछ देर चुपचाप पड़े इन्तज़ार करते रहते, और फिर धीरे-धीरे फूलकर अपनी अस्ल अवस्था में लौट आते और आगे चल पड़ते। उनका उद्देश्य पता नहीं चलता था। अगर कोई बूढ़ी मक्खी उनके रास्ते में आती तो उसके गिर्द चक्कर काटते हुए उसे एक गाढ़े तरल पदार्थ में लथेड़ देते और मिलकर उसे खा जाते और आगे बढ़ जाते। बड़ा भाई कह रहा था- 'मैं भी इन्हीं की तरह हूँ, मैं भी ऐसा ही एक कीड़ा हूँ, मेरा कोई गन्तव्य नहीं, मैं भी इसी तरह चलता रहता हूँ, न थकता हूँ और न मेरा अन्त होता है।'

झाड़ू देने के बाद वह बैठ गया और इधर उधर देखने लगा। मकान बुरी तरह बीमार था। मकान का हर हिस्सा अपनी ख़स्ताहाली की दुहाई दे रहा था। कोई गीली और धुँधले रंग की चीज़ मकान के हर हिस्से को जकड़े हुए थी। वह उठा और संकरे दरवाज़े से निकलकर बाहर आया। छोटा भाई सड़क के किनारे खड़ा धूल और मिट्टी में अटे हुए बुलडोज़रों को देख रहा था। बड़े भाई ने धीरे से छोटे भाई का हाथ थाम लिया और बोला- 'यहाँ हमेशा नहीं रहेंगे। यहाँ से चले जाएँगे।'

छोटे भाई ने बड़े भाई के हाथ से अपना हाथ छुड़ाया और बोला- 'क्यों? चले क्यों जाएँगे?'

बड़े भाई ने कहा- 'यहाँ कोई अजीब-सी बात है। मुझे डर लगता है। ये कीड़े बहुत विचित्र प्रकार के हैं। मुझे लगता है ये मांसाहारी हैं।'

छोटे भाई ने पूछा- 'तुम्हें कैसे पता है?'

बड़ा भाई बोला- 'मुझे पता है। अच्छी तरह पता है।'

छोटे भाई ने कहा- 'अच्छा बस, मसख़रेपन की आवश्यकता नहीं है।'

बड़ा भाई बोला- 'ध्यान से सुनो, मैं क्या कह रहा हूँ। इस घर में हम में से किसी एक के

ऊपर अवश्य ही कोई मुसीबत आएगी। चलो कहीं और चलते हैं। किसी और मकान में।'

छोटे भाई ने कहा- 'जैसे कहाँ?'

बड़े भाई ने कहा- 'उसी बुढ़िया के घर वापस चलते हैं।'

छोटा भाई बोला- 'दूर हो यहाँ से! बुढ़िया के घर! तुम समझते हो ये इतना ही आसान है? बुढ़िया का घर कोई कारवाँ-सराय नहीं है कि आज खाली किया और कल फिर चले आए। और फिर इस पूरे लड़ाई-झगड़े के बाद किस मुँह से वापस जाओगे?'

ठीक उसी समय एक एम्बुलेंस जिसके पहियों से धूल-मिट्टी के बादल उठ रहे थे, तेज़ी से क़ब्रिस्तान की ओर जाती दिखायी दी। जो व्यक्ति ड्राईवर के बराबर में बैठा था उसने एम्बुलेंस से बाहर निकालकर उनकी दिशा में हाथ लहराया।

छोटे भाई ने पूछा- 'यह क्या है भला?'

बड़ा भाई ठहरकर बोला- 'निश्चित रूप से हमें जानता है मगर मुझे याद नहीं आ रहा कि उसे कहाँ देखा है।'

छोटा भाई चश्मे को रूमाल से साफ़ करते हुए बोला- 'इतनी तेज़ी की क्या आवश्यकता है? उसे ज़ल्दी से ज़ल्दी क्यों दफ़नाना चाहते हैं?'

(७)

'या मैं और या तुम। हम में से एक को बहुत जल्द मरना होगा। मुझे इस जगह से अजीब तरह की गन्ध आती है। मैं इस मकान से उकता गया हूँ। इस कच्ची सड़क से, इस क़ब्रिस्तान से और इस मकान से।'

छोटे भाई ने जवाब दिया- 'अब तो यही है। तुमने खुद ढूँढा, खुद पसन्द किया, अब इसी में गुज़ारा करो। मुझसे तो यह नहीं हो सकता कि प्रतिदिन एक बिल से निकलकर दूसरे बिल में घुसूँ।'

बड़ा भाई बोला- 'अगर मैं जानता कि इस बिल से बाहर निकलने का कोई रास्ता नहीं तो आज ही खुद को हर कष्ट से मुक्ति दिला लेता।'

छोटे भाई ने कहा- 'ये काम जितनी ज़ल्दी कर लो उतना ही अच्छा है। दोनों को मुक्ति मिल जाएगी।'

बड़ा भाई बोला- 'अफ़सोस यहाँ कहीं कोई रस्सी नहीं है। अगर तुमने रस्सी फेंक न दी होती तो मैं बता देता कि मज़ाक़ नहीं कर रहा हूँ।'

छोटा भाई गुस्से में आकर दरवाज़े से बाहर जाते हुए बोला- 'रस्सी कौन-सी ऐसी दुर्लभ वस्तु

है। अगर न मिले तो मुझे बताना, तुम्हारे लिए ख़रीद लाऊँगा।'

बड़ा भाई कुछ देर अकेला बैठा सोचता रहा। अँधेरा होता जा रहा था और मग़रिब के समय की उदासी मकान में फैलती जा रही थी। बड़ा भाई खुद से बोला- 'आज दिल पर अजीब भारी-सी चीज़ रखी हुई महसूस हो रही है। मुझे खुद को इससे मुक्ति दिलानी ही होगी।'

वह मकान से बाहर आया और कच्ची सड़क पर क़ब्रिस्तान की दिशा में चल दिया। जब क़ब्रिस्तान पहुँचा तो रात पूरी तरह आ चुकी थी और इक्का-दुक्का तारे आसमान पर नज़र आ रहे थे। एक लालटेन का धुँधला-सा उजाला दूर से बढ़ता आ रहा था। बड़ा भाई उसकी प्रतीक्षा करने लगा। उजाला क़रीब आ गया और बड़े भाई ने एक झुके हुए बूढ़े आदमी को देखा जिसने कन्धे पर फावड़ा उठा रखा था और लालटेन को शान्ति से हवा में लहराता हुआ चल रहा था। बूढ़े ने उसे देखा तो पूछा- 'जवान! रात को इस समय किसकी तलाश में आये हो?'

बड़ा भाई घबरा गया और बोला- 'क्या पिछले दो-एक दिनों में साठ-सत्तर साल की किसी बुढ़िया को यहाँ दफ़नाने के लिए लाए हैं?'

बूढ़े ने कहा- 'तुम क्यों पूछते हो?'

बड़ा भाई बोला- 'मेरी जानने वाली है।'

बूढ़े ने सर हिलाकर कहा- 'जाओ किसी जीवित जानने वाले के पास जाओ। मुर्दों से क्या काम।'

बड़े भाई ने कहा- 'किसके पास जाऊँ?'

बूढ़ा बोला- 'जिसके पास जाना चाहो जाओ। जाओ अपनी ज़िन्दगी गुज़ारो।'

बड़ा भाई खुदा हाफ़िज़ कहे बिना लौट आया और कच्ची सड़क पर चलने लगा। चारों ओर से बुलडोजरों की आवाज़ें आ रही थीं और रात में अजीब सी कँपकँपी थी। अब उसे नये मकान से डर नहीं लग रहा था। मकान पर पहुँचकर जैसे ही दरवाज़ा खोलना चाहा, उसका पैर किसी चीज़ से टकराया। उसने झुककर देखा तो वहाँ एक बड़ा-सा गुलदस्ता दरवाज़े से टिका रखा हुआ था। उसमें सूरजमुखी के बड़े-बड़े फूल एक दूसरे से बन्धे हुए थे और उनके साथ एक पत्र रखा था। उसने गुलदस्ता उठा लिया और मकान के अन्दर पहुँचा। गैलरी की बत्ती जलाई और लिफ़ाफ़ा खोला। उसने डॉक्टर के पत्र को पहचान लिया। 'प्यारे दोस्त! आशा है कि तुम नये मकान में आराम और चैन से होगे और कोई तुम्हें धूप में लेटकर बीज खाने और क़िताबें पढ़ने से मना नहीं करता होगा। आँगन के पीले फूल भी सूरजमुखी की समानता से खाली नहीं। मैं एकबार फिर एक खुशख़बरी लेकर तुम्हारे पास आऊँगा। एक और सलाह यह कि कहीं कीड़े मकोड़ों की उपस्थिति से परेशान मत होना। उन्हें जीवित लोगों से कोई मतलब नहीं। आशा है कि तुम फूलों और धूप और जवान औरतों के क़रीब रहकर बेहद खुश रहोगे।

बड़े भाई ने सोचा- 'जवान औरतों को मुझसे क्या मतलब', और गुलदस्ता उठाकर आँगन में

चला गया। आँगन में सामने की दीवार पर ऊपर के लोहे के जंगले से छनती हुई रौशनी की परछाईं पड़ रही थी और एक औरत की परछाईं ऊपर दालान में हिल-डोल रही थी। बड़े भाई ने आँगन के कोने तक जाकर सबसे ऊपर की मंजिल के दालान में जवान औरत को देखा जो एक कुत्ते के पिल्ले को गोद में लिये चाँद के उजाले में सैर करवा रही थी। बड़े भाई ने वहाँ खड़े होकर अपनी पड़ोसी औरत पर नज़र जमाए हुए प्रसन्नता से कहा- 'फूलों और जवान औरत के क़रीब।'

(८)

'खूब! तो तुम्हें रस्सी नहीं मिली?

बड़े भाई ने जवाब नहीं दिया। वह आँगन में धीमे-धीमे उतरती हुई रस्सी को, जिसके कोने पर एक छोटा सन्दूक बँधा हुआ था, देख रहा था।

सन्दूक नीचे पहुँचा तो उसमें से कुत्ते का छोटा-सा रेश्मी बालों वाला पिल्ला कूदकर बाहर निकला और आँगन के किनारे-किनारे दौड़ने लगा। छोटे भाई ने पूछा- 'यह क्या तमाशा है?'

बड़ा भाई बोला- 'ऊपर वाली ख़ानम का है। इस कुत्ते को मैंने उसकी गोद में देखा था।'

छोटे भाई ने पूछा- 'ऊपर वाली ख़ानम कौन? तुमने आते ही उससे जान-पहचान भी कर ली?'

बड़े भाई ने कहा- 'वह उसे बच्चे की तरह गोद में लेकर ऊपर दालान में सैर करवाती है।'

छोटा भाई बोला- 'खूब, तो तुम बैठे उसको ताकते रहते हो! बीज चबाना, क़िताबें पढ़ना, बेकारी, शरबत और अब ऊपर वाली ख़ानम भी। बधाई हो, स्वागतम!'

बड़ा भाई खुश होकर हँसने लगा। ऊपर वाली ख़ानम को भी उसकी व्यस्तताओं के खाते में डाला जा रहा था। उस दिन के बाद से तीसरी पहर को जब वह टहलकर वापस आता तो नियमित रूप से दालान के ठीक नीचे बैठा रहता। सन्दूक नीचे आता और ऊपर वाली ख़ानम का सुन्दर कुत्ता निकलकर बागीचे में दौड़ लगाता और पेशाब करता और वापस आकर सन्दूक में बैठ जाता ताकि उसे ऊपर खींच लिया जाए। जिस समय सन्दूक ज़मीन पर रखा होता, एक अजीब सी लालसा बड़े भाई को उसे छूने पर मजबूर करती। मगर वह दौड़ता था और खुद को ऐसा करने से रोक लेता था। आखिरकार एक दिन उसने एक छोटा-सा पीला फूल तोड़कर सन्दूक में डाल दिया। यह छोटा-सा पीला फूल अपने स्वरुप में सूरजमुखी के जैसा था। उसके अगले दिन सन्दूक नीचे नहीं उतरा। बड़ा भाई आधी रात तक बैठा इन्तज़ार करता रहा लेकिन सन्दूक नीचे नहीं आया। वह बहुत उदास हुआ और उसे इस बात का दुःख हुआ कि केवल एक फूल सन्दूक के प्रकोप और रोष का कारण बना। उसके अगले दिन सन्दूक बड़ी सावधानी से नीचे आया, बड़े भाई ने, जो खिड़की के पास बैठा बीज खा रहा था, खुद को उससे बिल्कुल बेपरवाह ज़ाहिर किया। पिल्ला सन्दूक से बाहर आया, आँगन में घूमता रहा, फिर फूलों के बीच पेशाब किया, सिगरेट की राख को सूंघा और बड़े भाई की ओर देखे बिना

सन्दूक में सवार होकर ऊपर चला गया। बड़ा भाई उस दिन के बाद से और भी अपने आप में गुम हो गया; छोटा भाई छिपकर क़रीब से उसका निरीक्षण करता और कभी-कभार उस पर फ़ब्ती कसता रहता। सुबह को जब वह एक प्याला लेकर कुण्ड की सतह पर गिरी हुई सिगरेट की राख इकट्ठी करता तो बड़े भाई को बुरा-भला कहता कि उसे कोई अधिकार नहीं कि पूरी शाम आँगन में बैठे-बैठे बिता दे और कुण्ड में कूड़ा-करकट फेंके और लोगों का पीछा किया करे। हर दिन सुबह और शाम के समय जब ऊपर वाली ख़ानम सीढ़ियों से नीचे उतरती और वापस ऊपर जाती तो दोनों भाई मौन हो जाते और सीढ़ियों पर चिड़ियों की तरह चहचहाते कदमों की चाप सुना करते।

छोटा भाई बड़े भाई की देख-भाल करते-करते गुस्सैल और चिड़चिड़ा हो गया। बड़ा भाई ऊपर वाली ख़ानम से कभी नहीं मिला था। लेकिन छोटे भाई का दो-एक बार सीढ़ी पर उससे सामना हुआ था और वो एक-दूसरे को जानने लगे थे और उनमें आपस में सलाम-दुआ भी होती थी। और ये जान-पहचान इस हद तक पहुँच गयी थी कि वो बस में साथ-साथ सवार होने लगे थे। ऊपर वाली ख़ानम अकेली रहती थी और कुछ-एक बार छोटे भाई को अपने कमरे में आकर चाय पीने का निमन्त्रण दे चुकी थी। और छोटा भाई, बड़े भाई को बताये बिना ऊपर हो भी आया था। जिस समय बड़ा भाई आँगन में बैठा सन्दूक के नीचे उतरने की प्रतीक्षा कर रहा होता, वो दोनों ऊपर की मंजिल के दालान में साथ बैठे तफ़रीह के तौर पर सन्दूक को हमेशा की अपेक्षा ज़ल्दी या देर से उतारने का खेल खेला करते। जवान औरत ने छोटे भाई को पीले फूल का किस्सा सुना दिया था। दोनों में इस बात पर खूब हँसी-मज़ाक़ हुआ था।

एक दिन जब बड़ा भाई इन्तज़ार में बैठा था, सन्दूक नीचे उतरा और उसमें पिल्ले के बजाय एक सुन्दर फूल रखा था। बड़े भाई ने फूल उठा लिया और उसे देखने लगा। उसका हाथ गीला हो गया और तेज़ गन्ध उसके दिमाग पर चढ़ गयी और आँखों से एकाएक पानी बहने लगा। उसने फूल को मसलकर दोबारा सन्दूक में फेंक दिया। सन्दूक ऊपर गया और फिर नीचे आया। उसमें काग़ज़ का एक टुकड़ा था जिस पर लिखा था- 'बेकार आदमी, तुम्हें किसने अनुमति दी कि मेरे फूल को खराब करो?'

बड़ा भाई खुद से बोला- 'एक बार फिर फूल ने सब काम बिगाड़ दिया।'

उस रात जब छोटा भाई नीचे आया तो बड़े भाई को एक कोने में पड़ा देखा। वह घुटनों में सर दिये सो रहा था।

(६)

उसके अगले दिन सन्दूक बार-बार नीचे आता और बड़े भाई के लिए छोटी-छोटी चिट्ठियाँ लाता रहा। हर चिट्ठी में उससे कोई न कोई सवाल किया जाता था। और बड़े भाई को इसके अलावा कोई चारा नहीं सूझता कि हर सवाल का जवाब दे। बड़े भाई से फिर पूछताछ की जा रही थी।

स : ओ नीचे पड़े हुए नाकारा इंसान, अपना परिचय दे।

ज : मैं केवल नाकारा इंसान हूँ, इसके अलावा मेरा कोई नाम पता नहीं।

स : तेरा जीवन-यापन कैसे होता है?

ज : बेकार हूँ, और फिलहाल अपने प्रिय भाई की गर्दन का भार हूँ।

स : काम क्यों नहीं ढूँढता और आलस्य की आदत क्यों डाल रखी है?

ज : मुझे आलस्य पसन्द है। काम करने का शौक नहीं।

स : दुनिया में तुझे किस चीज़ में रुचि है?

ज : धूप से और बीजों से। शर्बत और सुन्दर औरतों में भी रुचि रखता हूँ।

स : क्या उत्तम अभिलाषा है! क्या जीवन भर इसी ढर्रे पर रहने का इरादा है?

ज : अन्त में अब कुछ देर नहीं। दुखी मत होइए।

स : अपने भाई पर दया कर और उसके सर से अपना संकट दूर कर!

ज : जो आदेश।

स : बहादुर बन और काम से लग।

ज : तसल्ली रखिए।

(१०)

तीन दिन तक उसने सिगरेट और शर्बत को हाथ नहीं लगाया और न बीज खाये। पूरी शाम कच्ची सड़क के पास बैठा इन्तज़ार करता रहता। जब अँधेरा होता तो अन्दर आकर खाली बागीचे के किनारे बैठ जाता। छोटे भाई ने सारे फूल उखाड़कर बाहर फेंक दिये थे। सन्दूक भी अब नीचे नहीं आता था। केवल एक मर्द और एक औरत की परछाईं सामने की दीवार पर पड़ रही थी जो ऊपर दालान में बैठे आपस में हँसते और मस्ती करते थे। कुत्ते का पिल्ला दालान की कगार तक आकर आँगन में झाँकता और ज़ोर-ज़ोर से भौंककर जंगले की सलाखों से अपना सर बाहर निकालने का प्रयास करता और नाकाम होकर दालान के फर्श को खुरचने लगता।

चौथे दिन शाम को ऊपर वाली ख़ानम दालान में अकेली बैठी थी और पिल्ले को गोद में लिए इन्तज़ार कर रही थी। बड़े भाई ने आँगन की सामने वाली दीवार पर उसकी परछाईं देखी और उसके घुँघराले बालों का सुन्दर प्रतिबिम्ब भी दीवार पर पड़ता देखा। थोड़ी देर बाद औरत अपनी जगह से उठी और जंगले के पास आकर आँगन को देखने लगी। आँगन में अंधेरा था और उसे कोने में बैठा बड़ा भाई दिखायी नहीं दिया। कुछ देर बाद सन्दूक नीचे आया और पिल्ला उसमें से खुश होकर बाहर

कूदा। सन्दूक लटका रहा। बड़े भाई ने ऊपर देखा। औरत सन्दूक की रस्सी जंगले की एक सलाख से बांधकर खुद चली गयी थी और पिल्ला आराम से बागीचे की मिट्टी अपनी पंजों से उड़ा रहा था। ऊपर की मंज़िल से दरवाज़े के पटों के एक दूसरे से टकराने की आवाज़ सुनाई दी और फिर औरत की आवाज़ आई- 'कहाँ थे अब तक?'

फिर छोटे भाई की आवाज़ सुनाई दी जो कह रहा था- 'ज़ल्दी नहीं आ सकता था। वह सूरज डूबने तक दरवाज़े के पास चिमटा रहता है, हिलता ही नहीं।'

थोड़ी देर बाद बड़े भाई ने सामने की दीवार पर उन दोनों की परछाइयों को आलिंगित होते, चुम्बन करते, फिर अलग होकर कमरे में जाते देखा। बड़ा भाई खुद से बोला- 'सर्दियों के आने में कितने दिन रह गये हैं? सर्दियाँ ख़त्म होने में कितने दिन रह गये हैं?'

वह कल्पनाओं में डूब गया। एक एम्बुलेंस सायरन बजाती आयी और मकान के सामने रुक गयी। एक आदमी उसमें से नीचे उतरा और एम्बुलेंस का दरवाज़ा बन्द करके मकान के क़रीब आया और दरवाज़े की जंजीर की खड़काई। किसी ने दरवाज़ा नहीं खोला। दोबारा जंजीर खड़काई। थोड़ी देर बाद कोई भारी-सी चीज़ दीवार के पीछे गिरी। एम्बुलेंस के सायरन की आवाज़ दोबारा गूँजने लगी और वो क़ब्रिस्तान की ओर चल पड़ी। बुलडोज़रों की आवाज़ें जो सूरज डूबने से पहले शान्त हो गयी थीं, दोबारा उठने लगीं।

बड़ा भाई खुद से बोला- 'मिट्टी के कीड़े फिर आ पहुँचे।'

बुल्डोज़र क़रीब आ गये और मकान के पीछे खाली मैदान में घरघराने लगे। बड़े भाई को पुरानी मोटरों के पेचों और मोहरों के एक-दूसरे से टकराने की आवाज़ें आनी लगीं। बड़ा आँगन के कोने में पड़ा स्टूल खींच लाया और उसे दालान के नीचे रखकर उसपर चढ़ गया। आवाज़ें और साफ़ हो गयीं। एक मर्द और एक औरत की आवाज़ जो सड़क पर खड़े हँस रहे थे और बुल्डोज़रों की आवाज़ें जो धीरे-धीरे दूर हो रहे थे और छोटे-छोटे कीड़ों की आवाज़ें जो जोड़े बनाए अपने-अपने गन्तव्य के क़रीब पहुँच रहे थे।

कमरे के अन्दर किसी चिंगारी जैसी चमक दिखायी दी। बड़े भाई ने खुद से पूछा- 'यह क्या?'

मकान की दीवार के पीछे कोई मर्द बेसब्री से तेज़-तेज़ चल रहा था। और गली में खड़ी एक बूढ़ी औरत कह रही थी- 'कैसे लोग हैं, तुम्हारे बच्चे को अनावश्यक धोखा दे रहे हैं।'

और ऊपर के दालान से एक मुर्झाया हुआ फूल पत्ती-पत्ती करके नीचे फेंका गया और आँगन में बिखर गया। बड़े भाई ने खामोशी से रस्सी को सन्दूक से अलग कर लिया था और अब रस्सी का बड़ा सा फन्दा बनाते हुए खुद से कह रहा था- 'अफ़सोस कि यहाँ उजाला नहीं है। अँधेरे में रस्सी की गाँठ नहीं बनानी चाहिए। अशुभ होता है।

उसने फन्दा बना लिया था और अब उसमें अपना सर डाल रहा था कि एम्बुलेंस दोबारा आकर रुकी और कोई उसमें से उतरकर दरवाज़े की ओर आया। उस समय सारी तैयारी पूरी थी और बड़ा भाई फन्दे को अपनी गर्दन में पड़ा महसूस कर रहा था। उसने आराम से साँस ली, धीरे से कहा- 'शुभ रात्रि!'

उसने स्टूल को लात मार दी और हवा में झूल गया। दरवाज़े की जंजीर खड़की, इसबार तेज़ और ज़ोर से। छोटा भाई दबे पाँव सीढ़ी से नीचे आकर दरवाज़े की ओर बढ़ा और दरवाज़ा खोला। डॉक्टर था जो कह रहा था- 'मुझे तुम्हारे भाई से काम है।'

छोटे भाई ने पूछा- 'उससे क्या काम है?'

डॉक्टर बोला- 'मुझे बहुत ज़रूरी काम है।'

और अपनी घड़ी पर नज़र डालकर कहने लगा- 'देर हो रही है। उसे थोड़ा ज़ल्दी बुलाओ।'

छोटे भाई ने पूछा- 'आप कौन हैं?'

डॉक्टर ने कहा- 'मैं उसका एक दोस्त हूँ और एक सरकारी काम से जा रहा हूँ। मुझे मदद की ज़रूरत है। बहुत दिनों तक प्रयास करने के बाद आज मुझे उसके लिए ये काम मिला है। मैंने कुछ देर पहले भी आकर दरवाज़ा खटखटाया था मगर कोई घर पर नहीं था। मैंने आस-पास का चक्कर लगाया कि शायद बाहर हो और मुझे मिल जाए। अब और नहीं रुक सकता। देख रहे हो, सफ़र की तैयारी पूरी है। मैंने उसके लिए बीज और क़िताबें भी रख ली हैं।'

छोटे भाई ने प्रसन्न होकर कहा- 'आप सच कहते हैं?'

डॉक्टर ज़ल्दी से बोला- 'हाँ, हाँ, मुझे रास्ते में थोड़ी देर ऑफ़िस में रुकना है और फिर प्रस्थान करना है।'

छोटे भाई ने खुश होकर डॉक्टर की बाँहें पकड़ लीं और बोला- 'अन्दर आइए, अन्दर आइए। वह शायद सो रहा है। मैं उसे अभी उठाता हूँ। मेरे खुदा, तेरी शान!'

वह डॉक्टर का हाथ पकड़कर उसे अन्दर ले गया। फिर उसने दीवार पर हाथ मारकर बत्ती जलाई और गैलरी में मानो दिन का उजाला हो गया। छोटे भाई ने गहरे प्रेम भाव के साथ ऊँची, बिगुल जैसी आवाज़ में नारा लगाया- 'दादाशी, दादाशी, कहाँ हो भाई जान! तुम्हें काम मिल गया। ज़ल्दी करो, इधर आओ! देर न हो जाए। देर न हो जाए।'

ऊपर वाली ख़ानम दरवाज़े में कान लगाए खड़ी थी, सोच रही थी कि छोटा भाई, बड़े भाई के जाने के बाद उसके पास लौट आएगा। फिर उसने दरवाज़ा बन्द किया और ऊपर दालान में चली गयी ताकि सन्दूक से अपने पिल्ले को वापस ऊपर खींच लाये।

भेड़िया

होशंग गुल्शीरी

उर्दू से अनुवाद : तरीकुलज़माँ

गुरुवार की दोपहर को मुझे ख़बर मिली कि डॉक्टर लौट आया है और अब तक बीमार है। उसे कोई समस्या नहीं थी। अस्पताल के चौकीदार ने बताया था कि कल रात से अब तक वह निरन्तर सो रहा है और जबसे उठा है लगातार रो रहा है। वह नियमित रूप से बुधवार या गुरुवार को दोपहर के बाद अपनी पत्नी के साथ शहर चला जाता। इस बार भी वह अपनी पत्नी के साथ गया था। लेकिन जो ट्रक-ड्राईवर डॉक्टर को लेकर आया था उसने बताया- 'गाड़ी में केवल डॉक्टर ही था।' लगता था अत्यधिक ठण्ड से अकड़ गया है। वह डॉक्टर को कॉफी-हाऊस पहुँचाकर खुद आगे रवाना हो गया था। डॉक्टर की गाड़ी घाटी के संकरे रास्ते के बीच में मिली। पहले उन्होंने सोचा कि उसे गाड़ी के पीछे बाँधकर गाँव तक लाना होगा। इसी विचार के साथ वो अस्पताल की जीप साथ ले गए थे। लेकिन जब ड्राईवर गाड़ी में बैठा और कुछ लोगों ने धक्का लगाया वो वह चल पड़ी। ड्राईवर ने कहा- 'यह भी केवल कल रात की ठण्ड के कारण है वरना गाड़ी में कोई खराबी नहीं।' गाड़ी के बर्फ हटाने वाले वाइपर तक सही हालत में थे। इसलिए जिस समय डॉक्टर ने कहा- 'अख़्तर? अख़्तर कहाँ है?' तब तक किसी को उसकी पत्नी का ध्यान नहीं आया।

डॉक्टर की पत्नी छोटे क़द की और दुबली-पतली थी; इतनी दुबली-पतली और सहमी हुई मानो अभी निढाल होकर गिर पड़ेगी। वो दोनों अस्पताल की इमारत में बने दो कमरों में रहते थे। अस्पताल क़ब्रिस्तान के उस ओर है, अर्थात आबादी से एक मैदान की दूरी पर। उसकी पत्नी उन्नीस बरस से अधिक उम्र की नहीं थी। कभी-कभी वह अस्पताल की गैलरी में या खिड़की के शीशों के पीछे प्रकट होती। केवल जब धूप निकली होती, वह क़ब्रिस्तान के किनारे से निकलकर आती और गाँव का चक्कर लगाती। अक्सर उसके हाथ में कोई क़िताब होती या कभी-कभी मीठी गोलियाँ या चॉकलेट भी उसके सफ़ेद ब्लाउज़ की जेब या हैंडबैग में होते। उसे बच्चों से बहुत लगाव था। उन्हीं के लिए अक्सर वह मदरसे की ओर निकल आती। एक बार उसने प्रस्ताव रखा कि अगर वह चाहे तो एक क्लास उसके हवाले की जा सकती है; लेकिन उसने कहा कि उसके अन्दर बच्चों को डाँट-डपट करने का हौसला नहीं। सच यह है कि इससे पहले डॉक्टर ने भी यही प्रस्ताव रखा था, ताकि वह स्वयं को व्यस्त रख सके। कभी-कभार वह औरतों के साथ नहर के किनारे भी चली जाती।

जब पहली बर्फ पड़ी तब से वह ग़ायब हो गयी। औरतों ने उसे बुखारी के पास बैठे क़िताब पढ़ते या अपने लिए चाय बनाते देखा था। जब डॉक्टर मरीज़ों को देखने किसी दूसरे देहात में गया होता तो ड्राईवर की पत्नी या चौकीदार ख़ानम के पास रहते। शायद सबसे पहले ड्राईवर की पत्नी सिद्दीक़ा की समझ में आया। उसने औरतों से कहा- 'पहले मैंने सोचा कि उसे अपने पति की चिन्ता है जो वह अचानक उठकर खिड़की के पास जाती है और पर्दे खोल देती है।' वह खिड़की के पास खड़ी हो जाती और सफ़ेद और चमकीले रेगिस्तान को देखने लगती। सिद्दीक़ा का कहना था- 'जब भेड़ियों के गुर्राने की आवाज़ आती है तो वह खिड़की के पास जा खड़ी होती है।'

ख़ैर, सर्दियों में जब बर्फ़ पड़ती तो भेड़िये आबादी की ओर आ जाते थे। हर साल इसी तरह होता था। कभी-कभी कोई कुत्ता, भेड़ बल्कि बच्चा भी गुम हो जाता, और बाद में गाँव वालों को टोली बनाकर जाना पड़ता ताकि कुत्ते का पट्टा, या बच्चे का जूता या कोई और निशान मिल सके। लेकिन सिद्दीक़ा भेड़िये की चमकीली आँखों को देख चुकी थी और यह भी देख चुकी थी कि डॉक्टर की पत्नी किस तरह हैरान होकर भेड़िये की आँखों को देखती रह जाती थी। एक बार तो उसे सिद्दीक़ा के खुद को पुकारने तक की आवाज़ सुनायी नहीं दी थी।

दूसरी तीसरी बर्फ़ पड़ने के बाद डॉक्टर के लिए आस-पास के इलाक़ों में मरीजों को देखने जाना सम्भव नहीं रहता। जब उसे लगता कि सप्ताह में चार या पाँच रातें उसे घर पर ही गुज़ारनी पड़ेंगी तो वह हमारी महफ़िलों में शामिल होने चला आता। हमारी महफ़िल महिलाओं के लिए नहीं थी, लेकिन, खैर, अगर डॉक्टर की पत्नी आती तो वह महिलाओं के पास जा सकती थी। मगर उसने कह दिया था- 'मैं घर में ही रहूँगी'। किसी रात अगर महफ़िल डॉक्टर के घर पर जमती तो उसकी पत्नी बुखारी के क़रीब बैठी क़िताब पढ़ा करती या खिड़की से वीराने को देखा करती या क़ब्रिस्तान की ओर वाली खिड़की से शायद गाँव के उजालों को देखती रहती। एक रात शायद हमारे घर पर थे तभी डॉक्टर ने कहा- 'आज मुझे ज़ल्दी जाना है।' कुछ ऐसा था कि उसने सड़क पर एक बड़ा-सा भेड़िया देख लिया था।

मुर्तजवी ने कहा- 'शायद कुत्ता हो।'

मगर मैंने स्वयं डॉक्टर से कहा- 'इस ओर भेड़िये बहुत दिखायी देते हैं। सावधानी बरतनी चाहिए। और गाड़ी से बाहर तो बिल्कुल नहीं निकालना चाहिए।'

फिर शायद मेरी पत्नी ने कहा- 'डॉक्टर साहब, आपकी ख़ानम कहाँ हैं? उसी घर में, क़ब्रिस्तान के पास?'

डॉक्टर बोला- 'इसीलिए तो मुझे ज़ल्दी चले जाना चाहिए।'

फिर उसने बताया कि उसकी पत्नी बहुत निडर है। और बताया कि एक रात, मध्य-रात्रि को उसकी आँख खुली तो उसे खिड़की के पास एक कुर्सी पर बैठे देखा। जब डॉक्टर ने उसे आवाज़ दी

तो पत्नी ने कहा- 'पता नहीं क्यों यह भेड़िया हमेशा इस खिड़की के पास आ जाता है।'

डॉक्टर ने देखा कि वह भेड़िया खिड़की के जंगले के ठीक बाहर चाँद के धुँधले उजाले में बैठा था और थोड़ी-थोड़ी देर बाद चाँद की ओर मुँह करके गुर्रा रहा था।

खैर,

कौन सोच सकता था कि एक बड़े और अकेले भेड़िए का यूँ खिड़की के पास बैठना और चौंधियाना डॉक्टर के लिए एक समस्या बन जाएगी, बल्कि हम सबके लिए भी। एक रात वह हमारी महफ़िल में शामिल होने नहीं आया। पहले हमे लगा कि डॉक्टर की पत्नी बीमार हो गयी होगी या शायद डॉक्टर खुद, लेकिन अगले दिन उसकी बीवी खुद सरकारी गाड़ी में बैठकर मदरसे आयी और कहने लगी कि उसे बच्चों की कला की क्लास दे दी जाए तो वह मदद करने के लिए तैयार है।

वास्तव में छात्र इतने कम हो गए थे कि अब उसकी मदद की ज़रूरत नहीं रही थी। जब हम उन सबको एक क्लास में इकट्ठा कर लेते तो उनके लिए मास्टर मुर्तज़वी ही काफ़ी थे। मगर खैर, कला न मेरी अच्छी थी न मुर्तज़वी की। हमने उसके लिए बुधवार की सुबह का समय तय किया। फिर मैंने भेड़िए की बात छेड़ी और कहा कि उसे डरने की ज़रूरत नहीं, क्योंकि अगर दरवाज़ा खुला न छोड़ा जाए और बाहर न निकला जाए तो कोई खतरा नहीं। मैंने ये भी कहा कि अगर वो चाहें तो गाँव में मकान लेकर रह सकते हैं।

कहने लगी- 'नहीं, शुक्रिया। कोई मुश्किल नहीं है।'

इसके बाद बताने लगी कि शुरू-शुरू में उसे डर लगता था, यानी एक रात जब उसने भेड़िये के गुर्राने की आवाज़ सुनी तो उसे लगा कि वह जंगला फलांगकर इस ओर आ गया है और जैसे खिड़की या दरवाज़े के बिल्कुल साथ लगा बैठा है। जब उसने बत्ती जलाई तो उसे जंगला फलांगते देखा और उसकी चमकती हुई आँखों को देखा। वह बोली- 'उसकी आँखें बिल्कुल ऐसी थीं जैसे दो जलते हुए अंगारे।' फिर कहने लगी- 'मैं खुद भी नहीं जानती कि जिस समय मैं उसे देखती हूँ, उसकी आँखों को या उसके शान्तिपूर्ण भाव को, आपको पता है वह बिल्कुल शिकारी कुत्ते की तरह अपनी अगली टाँगों पर बैठा घण्टों हमारे कमरे की खिड़की पर निगाहें जमाये रहता है।'

मैंने पूछा- 'तो फिर आखिर आप क्यों।।।?'

वह समझ गयी, बोली- 'बताया तो है, मैं नहीं जानती क्यों। विश्वास कीजिये, जब मैं उसे देखती हूँ, विशेष रूप से उसकी आँखों को, तो मेरे लिए खिड़की के पास से हटना सम्भव ही नहीं रहता।'

फिर हम शायद भेड़ियों के बारे में बातें करने लगे और मैं उसे बताने लगा कि कभी जब भेड़िए भूखे हो जाते हैं तो गोला बनाकर बैठ जाते हैं और एक-दूसरे को आँखों में आँखें डालकर देखने लगते हैं, एक घण्टा, दो घण्टे, अर्थात उस समय तक जब तक कि उनमें से कोई एक दुर्बलता से विवश होकर गिर न पड़े। तब वो उस पर हमला करके उसे खा जाते हैं। फिर उन कुत्तों की चर्चा

हुई जो कभी-कभार गुम हो जाते हैं और बाद में उनका पट्टा कहीं पड़ा मिलता है। डॉक्टर की ख़ानम ने भी बातें कीं। लगता था कि वह जैक लन्दन की क़िताबें पढ़ चुकी है। कहती थी, 'अब मैं भेड़ियों को अच्छी तरह जान गयी हूँ।'

अगले सप्ताह जब वह आयी तो उसने बच्चों के लिए फूल या पत्ते की ड्राइंग बनायी थी। मैंने देखी नहीं केवल उसके बारे में सुना था।

एक शनिवार को मैंने बच्चों से सुना कि क़ब्रिस्तान में शिकंजा लगाया गया है। तीसरी घण्टी पर स्वयं एक बच्चे के साथ गया और देखा। बड़ा-सा शिकंजा था। डॉक्टर स्वयं शहर से खरीदकर लाया था और उसके अन्दर गोश्त का टुकड़ा रखा था। उस दिन तीसरी पहर को मेरी पत्नी ने बताया कि वह डॉक्टर की पत्नी से मिलने गयी थी। कहने लगी- 'उसकी हालत अच्छी नहीं है।' कहने लगी, डॉक्टर की पत्नी बता रही थी कि उसे डर है, उसके बच्चा नहीं होगा।

मेरी पत्नी ने उसे दिलासा दी थी। उनकी शादी को सालभर हुआ था। फिर मेरी पत्नी शिकंजे की बात करने लगी और उससे बोली- 'आमतौर पर खाल यहीं उतार लेते हैं और फिर शहर ले जाते हैं।' मेरी पत्नी ने बताया- 'विश्वास करो, एक बार तो उसकी आँखें फैल गयीं और कँपकपी छा गयी। बोली- 'सुनती हो? यह उसी की आवाज़ है।' मैंने कहा- 'ख़ानम, इस समय? दिन में?'

फिर जैसे डॉक्टर की पत्नी दौड़कर खिड़की के पास गयी। बाहर बर्फ़ पड़ रही थी। मेरी पत्नी ने बताया- 'उसने पर्दे खोल दिये और खिड़की से लगकर खड़ी हो गयी। उसे ध्यान तक नहीं रहा कि कोई उससे मिलने आया हुआ है।'

अगली सुबह ड्राईवर और गाँव के कुछ लोग शिकंजे के पास गये। उसे किसी ने न छुआ था। सफ़र ने डॉक्टर से पूछा- 'निश्चित रूप से वह रात में नहीं आया।'

डॉक्टर ने कहा- 'नहीं। आया था। मैंने स्वयं उसकी आवाज़ सुनी थी।'

मुझसे उसने कहा- 'यह औरत पागल होती जा रही है। रात को पलभर नहीं सोयी। सारी रात खिड़की के पास बैठी वीराने को ताकती रही। आधी रात को जब भेड़िये की आवाज़ से मेरी आँख खुली तो मैंने देखा कि वह दरवाज़े की कुण्डी खोलने का प्रयास कर रही है। मैंने चीखकर कहा- 'क्या कर रही है, औरत?'

डॉक्टर ने बताया कि उसकी पत्नी के हाथ में फ़्लैशलाइट थी। वह भी जलती हुई। डॉक्टर का रंग उड़ा हुआ था और हाथ काँप रहे थे। हम दोनों साथ में शिकंजे के पास गये। वह सुरक्षित था। गोश्त का टुकड़ा भी ज्यों का त्यों रखा था। पैरों के निशान बताते थे कि भेड़िया शिकंजे के पास आया था, यहाँ तक कि उसके पास बैठा भी था। उसके बाद भेड़िये के पैरों के निशान सीधे अस्पताल की चारदीवारी के जंगले की ओर जाते थे। औरत का चेहरा मुझे खिड़की के पास दिखायी दिया। वह हमारी ही ओर देख रही थी। डॉक्टर बोला- 'मेरी समझ में नहीं आता। तुम कम-से-कम कुछ तो उस औरत

से कहो।'

औरत की आँखें फैली हुई थीं। उसकी पीली रंगत और भी पीली पड़ गयी थी। अपने काले बाल उसने इकट्ठे करके सीने पर डाल रखे थे। केवल आँखों में सुरमा लगा रखा था। काश वह अपने होंठों पर लाली या कोई चीज़ लगा लेती ताकि वो इतने सफ़ेद न नज़र आते। मैंने कहा- 'मैंने कभी नहीं सुना कि भूखा भेड़िया गोश्त के पास से इस तरह निकल जाए।'

मैंने उसे भेड़िये के पैरों के निशानों के बारे में बताया। कहने लगी- 'ड्राईवर कहता था कि वह भूखा नहीं था। मैं नहीं जानती। शायद बहुत होशियार है।'

अगले दिन ख़बर मिली कि शिकंजा खिंच गया है। लोग शिकंजे के घिसटने के निशान के साथ-साथ गये और उस तक पहुँच गए। अधमरा था। फावड़े के फल की दो तीन मार पड़ी तो ठण्डा हो गया। डॉक्टर ने उसे देखकर कहा- 'अल्हम्दुलिल्लाह।' मगर उसकी पत्नी ने सिद्दीक़ा से कहा- 'सुबह सवेरे मैंने उसे जंगले के उस ओर बैठे देखा था। यह जो पकड़ा गया है, अवश्य ही कोई कुत्ता या गीदड़ या कुछ और होगा।'

शायद- असम्भव नहीं कि यही बातें उसने डॉक्टर से भी की हों, कि डॉक्टर को लाचार होकर पुलिस के पास जाना पड़ा। उसके बाद दो-एक रात पुलिस वाले डॉक्टर के घर में ठहरे। तीसरी रात थी, तभी हमें गोली चलने की आवाज़ सुनायी दी। अगले दिन पुलिसवाले और गाँव के कुछ लोग अस्पताल के ड्राईवर के साथ खून के निशानों के साथ-साथ चलते हुए आबादी के दूसरी ओर की पहाड़ी पर गये। पहाड़ी के पीछे घाटी में उन्हें भेड़िये के पैरों के निशान और अपनी जगह से हटी हुई बर्फ़ दिखायी दी। लेकिन उन्हें सफ़ेद हड्डी का टुकड़ा तक न मिला। ड्राईवर बोला- 'विधर्मी कहीं के, उसकी हड्डियाँ तक खा गये।'

मुझे विश्वास नहीं हुआ। मैंने मास्टर सफ़र को भी बताया। सफ़र ने कहा- 'ख़ानम ने भी जब सुना तो केवल मुस्कुरा दी। डॉक्टर ने स्वयं मुझसे जाकर उसे ख़बर देने को कहा था। ख़ानम बुख़ारी के पास बैठी कोई ड्राइंग बना रही थी। उसे दरवाज़ा खुलने की आवाज़ सुनायी नहीं दी। जब मुझे देखा तो काग़ज़ों को उलट दिया।'

ख़ानम की ड्राइंग में कुछ विशेष बात नहीं थी। केवल उसी भेड़िये के स्केच बनाये थे। काले पन्ने के बीच चमकती हुई दो लाल आँखें, बैठे हुए भेड़िये का काली क़लम से बनाया हुआ स्केच, और एक आकृति में भेड़िया मुँह उठाकर चाँद पर गुर्राता हुआ। भेड़िये की परछाईं अतिशयोक्ति की हद तक फैली हुई थी, इस तरह कि उसने सारे अस्पताल और क़ब्रिस्तान को छिपा लिया था। दो-एक स्केच भेड़िये की थूथनी के थे, जो अधिकतर कुत्ते की थूथनी मालूम पड़ती थी, विशेषतः उसके दाँत।

बुधवार की तीसरी पहर को डॉक्टर शहर चला गया। सिद्दीक़ा ने बताया कि उसकी पत्नी की तबियत खराब थी। डॉक्टर ने स्वयं उसे बताया था। मुझे विश्वास नहीं हुआ। मैंने स्वयं उसे बुधवार

की सुबह देखा था। वह ठीक समय पर बच्चों को कला सिखाने पहुँची थी। उसने वैसी ही एक ड्राइंग ब्लैकबोर्ड पर बनायी थी। उसने मुझे स्वयं बताया था।

जब मैंने उससे पूछा- 'आखिर भेड़िया क्यों?' तो कहने लगी- 'बहुत चाहती हूँ कि कुछ और बनाऊँ, मगर मुझसे बनता ही नहीं। जैसे ही चाक को बोर्ड पर रखती हूँ, अपने आप भेड़िये की ड्राइंग बनने लगती है।'

अफ़सोस कि बच्चों ने खेल की घण्टी में उस ड्राइंग को मिटा दिया। दोपहर के बाद जब मैंने उनमें से एक दो की ड्राइंग देखी तो सोचा कि शायद बच्चे उसे ठीक तरह न बना सकें। लेकिन बच्चों के बनाये हुए सारे स्केच ठीक शिकारी कुत्ते की तरह थे, कान लटके हुए और दुम पिछले हिस्से के पास लटकी हुई।

गुरुवार की दोपहर को जब ख़बर मिली कि डॉक्टर वापस आ गया है तो मैंने सोचा कि निश्चित तौर पर वह अपनी पत्नी को रात भर के लिए शहर में छोड़कर अपने काम के उद्देश्य से लौट आया है। मरीज कोई नहीं था, यानी आस-पास के गाँवों से कोई नहीं आया था। मगर, खैर, डॉक्टर अपने कर्त्तव्यों का पालन करने वाला आदमी है। बाद में जब वह अख़्तर की तलाश में निकला तो सब लोग डॉक्टर की गाड़ी और अस्पताल की जीप में सवार हो गये। पुलिस वाले भी गये मगर उन्हें कोई अता-पता नहीं मिला।

मगर डॉक्टर ने कोई बात नहीं की। जब उसे होश आता तो वह रोने लगता या एक-टक हम सबको बारी-बारी देखता रहता, और उसकी आँखें उसकी पत्नी की तरह फैली होतीं। लाचार होकर मैंने उसे जूस के दो-एक गिलास पिलाये ताकि वह बात कर सके। शायद ऐसा हो कि सबके सामने बात न करना चाहता हो। मेरे विचार में नहीं था कि उनका आपस में कोई झगड़ा हुआ होगा। मगर न जाने क्यों डॉक्टर लगातार यही कहता रहा- 'विश्वास करो, मेरा इसमें कोई दोष नहीं था।'

मैंने अपनी पत्नी से, बल्कि सिद्दीक़ा और सफ़र से भी पूछा, किसी को भी याद नहीं था कि उन पति-पत्नी में से किसी ने कभी एक-दूसरे से ऊँची आवाज़ में बात भी की हो। मगर मैंने डॉक्टर से जाने को मना किया था। मैंने यह भी कहा था कि घाटी में बर्फ़ बहुत ज़्यादा है। शायद डॉक्टर ही की बात सही थी। पता नहीं। आखिरकार बोला- 'उसकी तबियत ठीक नहीं। शायद यहाँ रहना सहन न कर सके। मगर ये सब ड्राइंग क्यों?

बाद में मैंने वे सारे स्केच देखे। उसने भेड़िये के पंजों की कई ड्राइंग्स बनायी थीं, एक-दो उसके लटके हुए कानों की भी। मैंने कहा- 'शायद।।।'

डॉक्टर ठीक से बात नहीं कर पा रहा था। लेकिन मुझे आभास हुआ कि घाटी के बीच में बर्फ़ शायद बहुत अधिक थी, इतनी कि गाड़ी के शीशे ढक गये थे। तब डॉक्टर को पता चला कि बर्फ़ हटाने वाले वाइपर खराब हो गये हैं। बेबस होकर उसे गाड़ी रोकनी पड़ी। कहने लगा- 'विश्वास करो,

मैंने स्वयं देखा, अपनी आँखों से देखा कि वह सड़क के बीचों-बीच खड़ा है।'

अख़्तर ने कहा- 'कुछ करो, यहाँ तो हम ठण्ड से अकड़ जाएँगे।'

डॉक्टर ने कहा- 'तुम उसे नहीं देखतीं?'

डॉक्टर ने हाथ बाहर निकाला ताकि शीशे पर फेरकर बर्फ़ साफ करे, लेकिन जान गया कि इससे कुछ नहीं होगा। कहने लगा- 'तुम जानती हो कि यहाँ से वापस भी नहीं लौट सकते।'

वह ठीक कहता था। उसके बाद गाड़ी का इंजन भी बन्द हो गया। जब अख़्तर ने फ़्लैशलाइट जलायी तो देखा कि भेड़िया बिल्कुल सड़क के किनारे बैठा है। बोली- 'वही है, विश्वास करो बिल्कुल अहानिकारक है। शायद वास्तव में भेड़िया न हो, शिकारी कुत्ता या किसी और प्रकार का कुत्ता हो। बाहर जाकर देखो, शायद बर्फ़ हटा सको।'

डॉक्टर ने कहा- 'बाहर जाकर? मगर तुम्हें यह नज़र नहीं आता?'

यह कहते हुए भी उसके दाँत बज रहे थे। रंग सफ़ेद पड़ गया था, बिल्कुल उसी तरह जैसे अख़्तर की रंगत खिड़की से लगकर वीराने को या कुत्ते को देखते हुए पीली पड़ जाती थी। अख़्तर ने कहा- 'अगर मैं उसके सामने अपना हैंडबैग फेंक दूँ तो?'

डॉक्टर बोला- 'उससे क्या लाभ होगा?'

बोली- 'चमड़े का है। थोड़ी देर तक वह अपना सर इसमें डालेगा, और इतने में तुम इसे ठीक कर लोगे।'

हैंडबैग को बाहर फेंकने से पहले उसने डॉक्टर से कहा- 'काश मैं अपना फ़र वाला कोट साथ लेकर आयी होती।'

डॉक्टर ने मुझसे कहा- 'तुमने स्वयं ही तो बताया था कि दरवाज़ा नहीं खोलना चाहिए और न बाहर निकलना चाहिए?'

अख़्तर ने बैग बाहर फेंका तब भी डॉक्टर बाहर न निकला। बोला- 'ख़ुदा की क़सम, मैंने उसकी काली परछाईं को देखा। वह सड़क के किनारे बिल्कुल स्तब्ध बैठा था। न हिलता था और न गुर्राता था।'

फिर अख़्तर ने फ़्लैशलाइट जलाकर अपना बैग ढूँढना चाहा तो वह उसे नज़र नहीं आया। वह बोली- 'अच्छा मैं ख़ुद बाहर जाती हूँ।'

डॉक्टर ने कहा- 'तुम्हें क्या पता?' या शायद यह कि 'तुमसे ठीक नहीं होगा।' मगर उसे इतना याद था कि उसको ख़बर होने से पहले ही अख़्तर बाहर जा चुकी थी। डॉक्टर ने उसे नहीं देखा, अर्थात बर्फ़ ने उसे बाहर नहीं देखने दिया। उसने उसके चीखने की आवाज़ भी नहीं सुनी। फिर उसने डर के मारे गाड़ी का दरवाज़ा बन्द कर लिया, या शायद अख़्तर ने बन्द किया। यह उसने नहीं बताया।

शुक्रवार की सुबह हम गाँव वाले दोबारा निकले। डॉक्टर नहीं आया। वह आ नहीं सकता था। बर्फ़ अब भी पड़ रही थी। किसी को आशा नहीं थी कि कोई सुराग मिलेगा। हर तरफ सफ़ेदी छाई हुई थी। हमने हर उस जगह को जाकर देखा जो हमारे अनुमान में आयी। हमें केवल चमड़े का वह बैग मिल सका। रास्ते में मैनें सफ़र से पूछा तो उसने कहा- 'वाइपर तो बिल्कुल ठीक हैं।'

मेरी समझ में कुछ नहीं आता। उसके बाद जब सिद्दीक़ा मुझे वो ड्राइंग्स दिखाने लायी तो मेरा दिमाग और उलझ गया। उन सारे स्केच के साथ ज़ल्दी में लिखा हुआ एक नोट था कि 'अपने स्कूल के लिए।'

जाते समय उसने ये वस्तुएँ सिद्दीक़ा को दी थीं और कहा था कि अगर उसकी तबियत ठीक न हो सके या वह बुधवार को न आ सके तो ये ड्राइंग्स मुझे पहुँचा दे ताकि मैं इन्हें मॉडल बनाकर प्रयोग करूँ। मैं सिद्दीक़ा को नहीं बता सका, और न डॉक्टर को, कि आखिर साधारण कुत्तों की इन तस्वीरों में गाँव के बच्चों की क्या रुचि हो सकती है?

नेक्रोपोलिस

महेश एलकुंचवार

अनुवाद : गोरख थोरात

'टू जॉइन द मेजॉरिटी' मुहावरा स्कूली जीवन में कभी याद किया था। उसका अर्थ है मरना। लेकिन दिमाग में कभी यह विचार नहीं आया कि इस मुहावरे का अर्थ यही क्यों है। क्योंकि वह इतना आर्केक और कालबाह्य हो गया था कि एक बार याद करने के बाद यह मुहावरा न कहीं मेरे पढ़ने आया और न ही उसका इस्तेमाल करने की मेरी इच्छा हुई। लिखित और मानक भाषा में, और 'स्मॉल टॉक' के समय ग़लती से भी कभी किसी ने उसका इस्तेमाल किया हो, मुझे याद नहीं। मृत्यु को मरना कहकर मुक्त होना और अपने-अपने काम में लग जाना, यही आज की अन्धी भागदौड़ करने वाली दुनिया का युगधर्म है। ऐसी दुनिया में साफ़-साफ़ और तड़क-भड़क होना ज़रूरी होती है, और इसलिए भाषा वैसी ही बनती है। ठिठकने, रेंगने के लिए समय ही नहीं है किसी के पास। इसलिए झट् से लेनदेन निबटकर 'मूव ऑन' कहते हुए अगले काम का मोर्चा सम्भालना पड़ता है। कुछ आलंकारिक भाषा में विस्तार से कहना-सुनना, उसके लिए 'सम्प्रेषण कला' का 'सौन्दर्यानुभव' प्राप्त करना निठल्ले या फुरसतवाले लोगों का विलास है। आज इसके लिए किसी के पास समय नहीं है। जो भी है वो संक्षेप में और साफ़-साफ़ कहो बाबा (और मुझे बख़्श दो), यही ज़रूरत है सभी की। इसलिए अभी की (कम से कम) अंग्रेज़ी भाषा स्पष्ट, अल्पाक्षरी और नो नॉनसेन्स बनती जा रही है। कम्प्यूटर के कारण इस संक्षिप्तीकरण को भी स्वीकृति ही मिल गयी है। इस भाषा का भी अपना एक सौन्दर्य है और वह कालानुरूप होने के कारण कम से कम मुझे तो बहुत आकर्षक लगता है। कोई भी यही सोचेगा कि अद्यतन भाषा का इस्तेमाल किया जाए। ऐसी भाषा चाहे नित्य नयी होती हो, लेकिन ऐसा भी नहीं कि उसका पुराना रूप नष्ट होता ही है। कहीं-कहीं वह अपेक्षित जगह पर टुकड़ों-टुकड़ों में, अचानक उजाले के रेले की तरह चमकती रहती है। अपने साथ-साथ दूसरे शब्दों को भी चमकाती है। नगरीय मानक मराठी का इस्तेमाल करने वालों को लगता है, ज्ञानेश्वरी के शब्द बहुत कुछ अनवट और दुर्बोध हैं। लेकिन इसके अनेक शब्द विदर्भ और मराठवाड़ा की ग्रामीण मराठी में अभी भी धड़ल्ले प्रचलित हैं और अपने मूल अर्थ से ज़रा भी दूर नहीं गये हैं। लगता है, बहुत सारे पुराने भाषारूप अब नष्ट हो गये हैं लेकिन यह बात उतनी सच नहीं है। पृथ्वी की सतह के नीचे 'हाइबरनेशन' के लिए चले गये प्राणियों की तरह ये भाषारूप भी खामोश पड़े होते हैं या क़ब्र के स्वप्नस्थ शरीरों की तरह मुक्ति

के लिए प्रतीक्षारत होते हैं और समय आते ही सरसराकर ऊपर आकर अपने अनुभवों को यथार्थ वर्णनात्मकता प्राप्त कराते हैं, जो कई बार नयी भाषा के बस का काम नहीं होता।

मुझे अभी-अभी पाकिस्तान में ऐसा अनुभव आया। 'टू ज्वाइन द मेजॉरिटी' मुहावरा अपनी सभी दृष्टियों से जगमगाता हुआ अचानक ऊपर आया और मैंने देखा, अपना अचूक वर्णन कर उसने नये अर्थानुभवों के तरंगों की सिद्धि की है। यही तो भाषा का सामर्थ्य है। सच्चा जीवित शब्द सतही तौर पर एकार्थी हो, लेकिन यदि हमने उसका संवादी अनुभव किया है, वह जीवित हो उठता है। और ऐसा होने पर जिस तरह किसी चाँदी के घण्टे का अनुरणन काफ़ी देर तक गूँजता रहता है, उसी तरह वह शब्द अपने प्रयोग के साथ मन में गूँजता रहता है और बहुआयामी अनुभवों की छाया-परछाया का खेल मन में शुरू कर देता है।

'कराची से दो-एक घण्टे के फासले पर 'मकली' में 'मृतकों का गाँव' है। चलें वो देखने?' हमारे कराची के यजमानों ने पूछा। उनकी इच्छा थी कि हम उसे ज़रूर देखें। उन्होंने हमें उस गाँव पर उनकी लिखी एक सचित्र पुस्तक भी दिखायी। उस पुस्तक से समझ में आता था कि इसके बारे में उन्होंने काफ़ी अध्ययन कर रखा है। उन दिनों रमज़ान का महीना होने के कारण छुट्टियाँ थीं और कराची में सभी तरफ़ सन्नाटा था। कुछ और करना भी सम्भव नहीं था।

'चलिए।' हमने कहा और एक सुबह हम चल पड़े।

सिन्ध का काफ़ी बंजर इलाका देखते-देखते हम मकली पहुँचे। हमने तय किया था कि यह मृतकों का गाँव हम पैदल घूमकर देखेंगे। क़ब्रिस्तान में धूल उड़ाती, कर्कश आवाज़ करती मोटर गाड़ी ले जाना हमें ठीक नहीं लगा। एक जगह गाड़ियाँ पार्क कर हम उस गाँव में दाख़िल हुए। पहले गाँव के विस्तार का अंदाजा नहीं आया था। लेकिन भीतर दाखिल होने के बाद जब चलना शुरू किया, तब अंदाजा हो गया। छह चौरस मील का है वह शहर। चार-पाँच सदियों की क़ब्रों और मज़ारों से भरा। यहाँ क़ब्रों की रचना गाँव के घरों जैसी ही थी। भीतर चौड़ी सुन्दर सड़कें, कभी समानान्तर तो कभी एक दूसरे को काटती और कभी अचानक मुड़ती। सिन्ध की लाल मिट्टी से भरी सड़कें और उनकी दोनों तरफ बीच के खुले चौकोनों में सभी तरफ क़ब्रें ही क़ब्रें। विभिन्न आकारों की, विभिन्न ढाँचों की।

सुबह ढल चुकी थी और सूरज अब दोपहर की तैयारी कर रहा था। सिन्ध के उस ऊसर इलाके के 'नेक्रोपोलिस' में छाँव के लिए कोई पेड़ तो क्या, घास की हरी पत्ती भी कहीं नज़र नहीं आ रही थी। कहीं भी हरियाली नहीं थी। जो थी, सूखी, जली हुई-सी। लेकिन इसके बावजूद चलते-चलते और उस क़ब्रगाह से राह खेते समय एक अजीब नशा छा जाने की तरह हमारे पैर अपने आप आगे-आगे खींचे जा रहे थे। चमकीली धूप, छाँव का कहीं नामोनिशान नहीं। हवा भी पूरी तरह से रुकी हुई। क़ब्रों के जंगल में घूमने वाले हम चार लोग छोड़ दें, तो और कोई पन्दी-परेवा नहीं। अद्‌भुत

खामोशी। वह खामोशी ऐसी आतंकित कर रही थी कि हम अनजाने में एक दूसरे से कानाफूसी में बातें करने लगे थे। फिर धीरे-धीरे हमारी बातें भी बन्द हो गयीं और हम चारों अपनी-अपनी राहों पर वहाँ भटकने लगे।

कितने प्रकार की, कितने आकारों की क़ब्रें। कहीं किसी भव्य मकानों जैसी, तो कहीं बस मानवीय देह समा जाने लायक आकारों की। छोटे-छोटे बच्चों की नन्हीं क़ब्रें। उनके सामने से पैर आगे बढ़ ही नहीं रहे थे। मुझे हमारे घर के इसी उम्र में गुज़रे एक बालक की याद आयी और पुराना ज़ख्म अचानक खुल गया। सोचा, वहाँ बैठ जाएँ और आहिस्ता से उन क़ब्रों पर हाथ फेरे। भीतर सो रहे होंगे शिशु। खेलते-खेलते चल बसे। उनके माथे पर घुँघराले, रेशमी झँडूले के बाल उग आये होंगे और अँगूठा मुँह में डाले, गाल पर फूल खिलाते हुए सो गये होंगे।

कहीं ऐसा तो नहीं कि मेरे भीतर कुछ टूट गया है और इसीलिए ये क़ब्रें मुझे लाल-लाल नज़र आ रही हैं? खुद को सम्भालकर मैं दोबारा चलने लगा। लेकिन सभी तरफ वही ईंट जैसे लाल पत्थरों का रंग। कुछ क़ब्रों की भव्यता उन व्यक्तियों के मरने के बाद उन्हें इन्हीं लाल पत्थरों से चिरस्थायी बनाए हुए थी। कुछ जगहों पर क़ब्रों का पूरा समूह था और उसके इर्दगिर्द पथरीला परकोटा। कहीं-कहीं मृत्यु के बाद समूचा परिवार एक दूसरे के साथ वहाँ विश्राम कर रहा था। कहीं अकेली दुकेली सामान्य अनाथ क़ब्रें भी। कहीं अन्यों से अत्यधिक अमीर की तरह अलग शानदार और भव्य क़ब्रें। ऊपर नीला आसमान, इर्दगिर्द झिलमिलाती पीली धूप और लाल भूमि पर लाल पत्थरों की खामोशी में डूबी अनगिनत क़ब्रें।

यहाँ हम ये क्या कर रहे हैं? अचानक यह प्रश्न मेरे मन में कौंध गया। तनिक झेंप-सी हुई। हम किसी का एकान्त नष्ट कर रहे हैं। उनके 'प्राइवेट स्पेस' का अतिक्रमण कर रहे हैं। मन में गुनाह करने जैसा महसूस होने लगा। कानाफूसी ही सही, लेकिन यहाँ हम बड़बड़ा रहे हैं और यह अदब नहीं है। मुझे लगा, यहाँ के 'सेक्रेड साइलेंस' को तोड़ना धर्मबाह्य है और मैंने अरशद के कानों में वैसा कहा भी। 'ऐसी कोई बात नहीं जी।' किसी ने हौले से लेकिन साफ़-साफ़ मेरे कानों में कहा। मैंने चौंककर इधर-उधर देखा। अरशद के अलावा वहाँ और कोई नहीं था। मैंने उससे पूछा, 'क्या कहा?' वह बोला, 'कुछ भी तो नहीं। क्यों क्या हुआ?' मैंने बस गर्दन हिलायी और चलने लगा। कुछ वहम हो गया होगा और क्या। अरशद हल्का-सा मुस्कुराया और बोला, 'कुछ लोगों को किस्म-किस्म के वहम होते हैं यहाँ!' फिर मेरी पीठ पर धौल जमाता हुआ बोला, 'चलो भी। इतना सुपरस्टिशस मत बनो।' हम चुपचाप चलने लगे। हमारी बातें वैसे भी खोई हुई थीं इस वक़्त। लेकिन सचमुच मुझसे कोई बोला था, 'ऐसी कोई बात नहीं जी।' बहुत साफ़ और खनकती आवाज़ थी। मेरे दाहिने कान के पास। इतने पास कि मुझे लगा, बोलने वाले की साँसें भी मेरे कानों को छूकर गुज़री हैं। कोई दोस्त कोई ख़ास राज की बात कानों में कह दें, ऐसी आत्मीय आवाज़ में कही गयी थी वह बात।

मैंने अरशद का साथ छोड़ दिया। अब हम सभी इधर-उधर बिखर गये थे। मैं भी उनसे अलग होकर अकेला भटकने लगा। लेकिन मुझे न कोई नज़र आ रहा था और न ही किसी की आहट कानों पर आ रही थी। इसलिए मैं रुक गया। मुझे चारों ओर से क़ब्रों ने घेरा हुआ था। कदम थक चुके थे। प्यास से गला सूख रहा था। कमीज़ पसीने से भीग चुकी थी और देह चिपचिपी हो गयी थी। सोचा, कहीं ठहर जाए, बैठ जाएँ आराम के लिए। वहीं एक भव्य क़ब्र की घनी छाया दूसरी क़ब्र पर पड़ रही थी। उस छाया में उस छोटी क़ब्र से पीठ सटाये मैं ज़मीन पर बैठ गया।

अचानक ठण्डी हवा का झोंका आया। वाह! कैसा सुकून! मैंने आँखें मूँद लीं। फिर एक और झोंका आया ठण्डी हवा का और देह को तरोताज़ा कर गया। मन को अच्छा लगा। फिर थोड़ी-थोड़ी देर बाद हवा की लहरें देह से गुज़रने लगीं, मानो कोई हवा का पंखा चला रहा हो। कौन इतने प्यार से पंखा झल रहा है? यहाँ तक कि पंखे की आवाजें भी आ रही हैं। उस हवा में खस की खुशबू और ठण्डक भी है। भिवा ही होगा। ऐसी हवा बस वही करता था मुझे। लेकिन वो तो मर चुका है न? कभी का चल बसा है? यहाँ कैसे आएगा? उसका चले जाना पता चला था, वो भी उसके गुज़र जाने के कई साल बाद। पारवा के किसी आदमी से अचानक मुलाक़ात हुई इसलिए पूछताछ की। इधर-इधर की अन्य अनेक छोटी-मोटी ख़बरों की तरह ये भी एक ख़बर। (असल में, पारवा की कोई भी ख़बर मेरे लिए छोटी नहीं होती।) बाबू बोला, 'भिवा, वो तो कब का चल बसा।' फिर वह कुछ और सुनाने लगा। लेकिन उधर मेरा ध्यान ही नहीं था। भिवा के जाने की बात सुनकर मेरे भीतर अचानक कुछ हिल-सा उठा था। भिवा हमारा घरेलू नौकर था, मेरे बचपन से। मैं अविश्वास में बुदबुदाया, 'गुज़र गया?' बाबू बोला, 'कब का...। देहात में पचास-पचपन की उम्र यानी बुढ़ापा। उतना तो वह हो ही गया था। चला गया।' उसी पल मेरा बचपन खत्म हो गया। मेरा पूरा बचपन उसी ने तो अपने दो हाथों पर तौला था। मैं हमेशा उसके पीछे-पीछे, उसकी गोद में या कन्धे पर और वह भी मुझे हमेशा गोद में उठाये रहता था। मेरे पैरों में मिट्टी न लगे इसलिए उठा लेता था। उसका बेटा, जनार्दन नाम था उसका, आराम से नीचे मिट्टी में खेलता रहता, लेकिन मैं वैसा करने लगूँ तो ये मुझे उठा लेता था। ऊपर से कहता, 'इस तरह मिट्टी में खेलना नहीं चाहिए हम जैसों को।' मैं चिढ़कर उसे मारता, नोंचता, लेकिन मेरी मार से बचता हुआ वह कहता, 'इस तरह मारना नहीं चाहिए हम जैसों ने।' एक बार इसी तरह कुछ हो गया था। गुस्सा हुआ होगा या किसी ने मेरा कुछ छीन लिया होगा। ऐसे अवसर पर भिवा ही होता था मेरा। उसके गले लगकर मैं ज़ोर-ज़ोर रोने लगा। वह अपने हाथों से मेरी आँखें और मुँह पोंछने लगा और मुझे कसकर अपने सीने से लगा लिया। तब सूँघा था मैंने उसके देह का पसीना और बीड़ी मिश्रित गन्ध। मैं ज़ोर से साँसें भरकर उस गन्ध को बिल्कुल सीने में भर लेता था। धीरे-धीरे मेरा रोना रुक जाने पर वह मुझे कहानी सुनाने लगा। इतनी मज़ेदार थी कहानी कि मैं रोना ही भूल गया। आँखें फाड़े उसे सुनता और बीच-बीच में रोने की याद आने पर रो उठता। फिर वह रोना भी थम गया। भिवा मुझे अमरूद के बगीचे में ले गया और उसने मुझे

मेरे मनचाहे अमरूद पेड़ की फुनगी से तोड़कर दिये। उसने मुझे मोरों का झुण्ड दिखाया, जो बगीचे के किनारे आया था। उनमें से एक मोर ने झट से अपने पंख फैलाए, तब तो मैं 'भिवा भिवा' करता हुआ नाचने लगा। फिर हम दोनों नाली के पानी में पैर भिगोते हुए घूमते रहे, क्यों भिवा? और बाद में हमने मोरपंख जमा किये थे। वो कहाँ रखे थे तुमने?

'नन्हे ने अपने बैग में रखे थे न?'

मुझे अचानक भिवा के पसीने और बीड़ी की मिश्रित वही तेज गन्ध महसूस हुई और मैंने झट से आँखें खोलीं।

'बड़ा हो गया है हमारा नन्हा। लेकिन अभी भी मिट्टी में बैठता है, देखो।' भिवा बोला।

मैं इस कदर निश्चिन्त हुआ कि एकदम क़ब्र से टेककर आराम से बैठ गया। पैर आगे फैला दिये और कहा, 'मुझे लगा ही था। इतनी ठण्डी हवा, मतलब भिवा ही है।'

बाद में उससे पूछा, 'अभी तुम ही पंखा झल कर रहे थे न मुझे? ज़रा आँख लग गयी थी। कितनी अच्छी लग रही थी वह ठण्डी ठण्डी हवा! सोचा तू ही होगा। एक बार बिच्छू ने काट लिया था मुझे, बचपन में, याद है? मैं रात भर तड़पता रहा। सारा घर सो गया, लेकिन रात भर मेरे पास बैठकर तू पंखा झलता रहा, मेरी फूली उँगली पर बार-बार फूँक मारता रहा।'

भिवा बस हँस दिया और अपनी नम आँखों से मेरी तरफ देखता रहा।

मैंने ही बचपन की अपनी झूठमूठ की शिकायत वाली आवाज़ में पूछा, 'कहाँ थे तुम इतने दिन? अभी मैंने सुना कि पारवा में न वह अमरूद का बगीचा बचा है और न इधर-उधर खुले में भटकने वाले मोर, और न ही नाली में कल कल बहता पानी।'

'कहाँ जाऊँगा? जहाँ हमारा नन्हा, वहाँ भिवा!' भिवा बोला।

मैं अचानक शर्मिन्दा-सा हुआ। उम्र के पाँचवें साल पारवा छूट जाने के बाद भूल ही गया था मैं उसे। एक बार यवतमाल में पाठशाला जा रहा था। रास्ते में अचानक दिखा भिवा। किसी काम से शहर आया होगा। मैं नौ-दस साल का था तब। मुझे देखते ही भिवा ने हाथ की गठरी ज़मीन पर फेंकी और बोला, 'अरे, मेरा नन्हा!' मुझे पाठशाला पहुँचने की ज़ल्दी थी। मैंने बिना रुके बस हाथ हिलाया और उसकी तरफ देखकर बिना कुछ कहे आगे बढ़ गया। थोड़ा दूर जाने के बाद महसूस हुआ, कुछ ग़लत हुआ है। रुका और दूर से मुड़कर पीछे देखा। वह ज्यों का त्यों वहीं खड़ा था, मेरी तरफ नज़रें गड़ाये। लेकिन उसकी आँखें ऐसी क्यों लग रही थीं, मानों कलेजे में तीर धँसा हो। फिर भी मैं स्कूल की तरफ दौड़ता हुआ गया और भुला दी उसकी वह नज़र। और अब साठ साल बाद वह दोबारा वैसा ही दिखाई दिया। वही आँखें। मैंने उससे कहा, 'कुऽछ भी बदलाव नहीं हुआ भिवा तुममें!' फिर मन ही मन कहा, 'बीते पचास सालों में दो-तीन बार ऐसी नौबत आयी है भिवा, जब कोई नहीं था

मेरे पास मेरा अपना। तुम पास होते तो तुम्हारे खुरदरे हाथों में चेहरा छुपाकर रो लेता। तुमसे कैसी शर्म।' लेकिन मैंने कुछ नहीं कहा और उठा। मेरे उठते ही भिवा तुरन्त मेरे कपड़े में चिपकी धूल अपने हाथों से साफ़ करने लगा। मुझे हँसी आयी। मैंने अपने आप से कहा, भिवा यानी भिवा है हमारा! फिर ज़ोर से कहा, 'चलो मोर देखेंगे।' फिर मैंने मुड़कर देखा, लेकिन वहाँ कोई और ही था। मैंने कहा, 'यह क्या? भिवा कहाँ गया?'

वह दूसरा व्यक्ति बोला, 'भिवा? कौन भिवा? मैं द्जामी हूँ न!'

मैंने हँसकर कहा, 'वाह वाह! तू द्जामी और मैं रैंबो! बढ़िया!'

द्जामी बोला, 'तुम मोर ढूँढ़ रहे हो। रैंबो सूर्यमण्डल से आँखें भिड़ाये न जाने क्या ढूँढ़ता रहता था? टूटे पैर की हालत में पालकी में डालकर उसे मुझसे दूर किया, तब से उसे ढूँढ़ता हुआ मारा-मारा घूम रहा हूँ मैं।'

मैंने उसकी आँखों में देखा। वे ठेठ भिवा की आँखों की तरह दिखायी दे रही थीं। मैंने कहा, 'अच्छा अच्छा! चलो, मोर ढूँढ़ेंगे।'

चलते-चलते एक विशाल क़ब्र के पास मुझे मोर जैसा कुछ दिखायी दिया। मैंने वहीं रुककर देखा, लेकिन वहाँ मोर वगैरह कुछ नहीं था। लेकिन वह क़ब्र अपने आप में डूब जाने जैसी लग रही थी। अन्य क़ब्रों की तरह उसमें कलाकारी भी नहीं थी। ग़ज़ब की यानी ग़ज़ब की सादगी भरी थी। भव्य और सादगी भरी। अमीर खाँ साहब का गाना लग रहा था। विशाल खम्भों पर बनी शानदार खाली दालानों वाली क़ब्र। सीने में साँस भर लेने की तरह अवकाश को अपने भीतर समा लेने वाली। विरागी, अलंकार विहीन, संयमी। सप्रयोजन सादा और अलंकार विहीन लगती है यह क़ब्र। क्यों भला? कोई साधु, सन्त-पीर था क्या? लेकिन होता तो यकीनन भीतर की मज़ार पर कोई चादर ओढ़ी हुई नज़र आती। अन्य दो चार सूफ़ी सन्तों के मज़ारों पर देखी है न हरी चादरें अभी-अभी? फिर? राजा या नवाब की भी नहीं होगी। उसका ठाठबाट तो और ज़्यादा होता है। पूछने के लिए मुड़कर देखा तो वहाँ न द्जामी था और न ही भिवा। देखा? अब कहाँ ढूँढ़ें इसे? अभी-अभी मिला और फिर से चकमा दे गया। मैंने उसे पुकारा, सिनेमा जैसा गाना भी गाया, 'तुम्हें कहाँ ढूँढूँ रे, तुम्हें कहाँ ढूँढूँऽऽ।' लेकिन हवा के साथ दूर उड़ गया वह गाना। ख़ैर जाने दो, लेकिन कहीं न कहीं तो उसके बीज पड़े होंगे। फिर कुछ दिनों के बाद वे अंकुरित होंगे, उगेंगे, लहलहाएँगे और तुरन्त उसमें लग जाएँगे रसीले गाने ही गाने। कहीं न कहीं होगा भिवा भी और तोड़ लेगा वे गाने। लेकिन दूसरे भी तो तोड़ेंगे न वे गाने। तोड़िए, तोड़िए। चाहे जितने तोड़िए। मुझे एकदम से उदार और सुन्दर लगने लगा। मुझे ज़िन्दगी में पहली बार मोर दिखाया था भिवा ने। उसके पंख लाकर दिये थे। काफ़ी दिन तक थे वे मेरे पास। फिर खो गये। उसकी याद आये तो 'मनमोऽऽर किसने जादू डाला मनमोऽऽर', सुरैया की तरह गाने की इच्छा होती। कैसी स्त्री थी न वह! कैसी आवाज़ थी न उसकी? हमेशा गहने वगैरह पहनकर

तारारीऽरारारी रारारी। बिल्कुल क्रिसमस ट्री। लेकिन गहने खिल उठते थे उसकी देह पर। और निवृत्त हो गयी अचानक। अदृश्य हो गयी शान से। अचानक पर्दा गिर गया। एकदम परदानशीं। पीछे बस केवड़े की खुशबू। सब कुछ चुटकी बजाते ही एक पल में छोड़ देना मतलब... बहुत धैर्य, बहुत आत्मविश्वास होगा बाबा उसमें।

'ऐसी कोई बात नहीं जी!' फिर से किसी ने कहा। लेकिन इस बार मैं दहल गया। यक़ीनन यह वहम नहीं था। कहीं न कहीं मैंने बिल्कुल सच्ची-सच्ची की आवाज़ सुनी थी! मैं हड़बड़ाकर इधर-उधर देखने लगा। उस मौन भव्य क़ब्र के इर्दगिर्द सूखी घास खड़ी थी और वहीं से आयी थी वह आवाज़। मैं थोड़ा आगे बढ़ रहा था, तभी देखा कि एक स्त्री उस घास से चलती हुई मेरी तरफ आ रही है। मँझोली उम्र, नौ गजी साड़ी, खानदानी। मुझे देखकर अपने दाहिने कन्धे पर पल्लू ओढ़ लिया उसने और बोली, 'काफी शाम हो गयी है अब। आप जैसों को बहुत देर रुकना नहीं चाहिए यहाँ। दियाबत्ती की बेला तक अपने-अपने घर में होना चाहिए हमें।'

मैंने देखा, शाम सचमुच ढलने लगी थी। धूप फीकी हो गयी थी और क़ब्रों की छायाएँ रात के अंधेरे में विसर्जन के लिए स्तब्धता से प्रतीक्षा कर रही थीं। वह स्त्री बोली, 'वो क्या गाना गाया था अभी आपने, मोर का? बहुत अच्छा था, देवरजी। लेकिन सिनेमा का लगा। मैंने कभी नहीं सुने ऐसे गाने।'

पास की जगह तनिक साफ़ कर वह खम्भे से टिककर खड़ी हुई और बोली, 'अब समझ गये न आप कि सब कुछ छोड़ देने के लिए कितने धैर्य और आत्मविश्वास की ज़रूरत होती है? लेकिन हमेशा ऐसा ही नहीं होता। कई बार आपसे छीना भी जाता है सब कुछ। कभी लोग छीन लेते हैं, तो कभी किस्मत।' फिर थोड़ा रुककर वह बोली, 'गानों की बुआई करने की इच्छा होना, अच्छी बात है। लेकिन वे उगने चाहिए। उग जाए तो टिकने चाहिए। मेरे उगे भी और नष्ट भी हो गये। अब उनका नामोनिशान नहीं रहा। मैं घूम-घूमकर ढूँढ़ती रहती हूँ उन्हें। ठीक वैसे जैसे अभी आप भिवा को ढूँढ़ रहे थे।'

वह काफ़ी देर तक स्तब्ध रही। मैं चुप। आहिस्ता से यहाँ से चले जाएँ या रुकें, मैं असमंजस में था। उस स्त्री ने मुझे 'देवरजी' क्यों कहा? मेरी परिचित भी नहीं थी वह, लेकिन पुरानी परिचित होने जैसी क्यों लग रही थी मुझे? उसकी जैसी सहनशील आँखें पहले भी कहीं मैंने देखी थीं।

'बताती हूँ।' नज़रें ऊपर उठाती हुई वह बोली। वे आँखें खामोश लेकिन स्थिर (धीरगम्भीर) थीं। मन को मारकर जी रही एक तपस्विनी गृहस्थ स्त्री की आँखें थीं वे। फिर क्षितिज की तरफ नज़रें मोड़कर अपने आप से बात करने की तरह वह बोली,

'बचपन से ही मुझ पर गाने का भूत सवार था। पिताजी गायन मास्टर थे। पहले उन्होंने सिखाया। फिर बोले, बेटा मेरे पास का गाना खत्म हो गया। फिर उन्होंने मुझे एक प्रतिष्ठित गायिका

के पास सीखने के लिए भेज दिया। वहाँ न जाने कितने सालों तक वह खानदानी गाना मेरे कण्ठ में बसा रहा था। अन्य औरतें गले में गहने पहनती हैं न, वैसे मैं गाना। यह राग, वह राग।' पल भर के लिए वह रुकी और बोली, 'फिर शादी हो गयी मेरी। पति का कोयले का टाल था। पहली ही रात में कमरे में तानपुरा देखकर पतिराज बोले, 'इस घर में रहना है तो तानपुरा या मैं, दोनों में से किसी एक को चुन लो!' मैंने तानपुरे पर गिलाफ चढ़ाया और जोत दिया खुद को पकाने, परोसने, जूठा-करकट साफ़ करने काम में। फिर भी शान्ति नहीं थी घर में। बच्चा जो नहीं था। सभी ने मानो बहिष्कार कर दिया मेरा। एक बार एक स्वामीजी पधारे थे गाँव में। इन्होंने उनके चरणों पर डाल दिया मुझे। 'कृपा करें महाराज!, स्वामीजी ने मेरी तरफ़ देखा भी नहीं। इतना ही बोले, अजी, इन्हें गाने दीजिए। कृपा हो जाएगी।' घर आकर बारह सालों बाद तानपुरा निकाला गिलाफ़ से। नौ ही महीनों में पलना चलने लगा घर में।' फिर कुछ देर रुककर उसने स्थिरता से मेरी तरफ देखा। 'मेरा गाना और मेरा बच्चा साथ-साथ बड़े हो रहे थे। एक दिन वह तैरने के लिए गया और लौटा ही नहीं। कौन-सा वर्ज्य स्वर लगाया था मैंने गाते समय!'

उसकी बातें सुनकर मैं दहल गया। उसकी तरफ देखने के लिए धीरज जुटाना पड़ा। लेकिन वह प्रसन्नता से हँसती हुई बोली, 'इसीलिए मैंने कहा कि हमारे तय करने से कुछ नहीं होता।'

'लेकिन क्या आपने गाना छोड़ दिया उसके बाद?'

'ज़िन्दा थी तब छोड़ दिया। लेकिन अब मृत्यु के बाद एक ही राग गा सकती हूँ, अखण्ड।'

क्या कहें इस स्त्री को? साहसी? संयमी? समझदार? मुझे उस स्त्री का देवरजी कहकर पुकारना याद आया और अचानक मैं होश में आया। उस स्त्री की आँखें बिल्कुल मेरी भाभी की आँखों जैसी थीं। आवाज़ भी कोमल, साफ़ और दृढ़। भाभी जैसी। और गज़ब की गम्भीरता और शान्ति। आतंकित करने वाली शान्ति। उस शान्ति के सामने मुझे अपना बौनापन महसूस होने लगा। जैसे ही मुझे भाभी की याद आती है, मुझे महसूस हो ही जाता है ये बौनापन। कितना अन्याय हुआ उन पर हम सबके स्वभाव के कारण। कितनी बातें छोड़ दीं उन्होंने अपना मन मारकर? पढ़ने का कितना चाव था आपको तड़के पाँच बजे से रात के ग्यारह बजे तक पैरों में गिरगिरी बँधी होने की तरह पूरे बाड़े में घूमकर सारा रामरगाड़ा उलीचती थीं। काहे की पुस्तक और काहे की क़िताब? एक बार आपका पैर जल गया। आपने बिस्तर पकड़ लिया। आपने हँसकर मेरे कानों में कहा, 'अब महीना दो महीना खूब पढ़ूँगी।' मैंने भी तत्परता से आपको कोई क़िताब लाकर दी। पैरों का जख़्म भूलकर आप खो गयीं उस पुस्तक में। बूढ़ी बुआ ने नाराज़गी से कानाफूसी शुरू की, लेकिन आपको सुनायी नहीं दी। 'घर में इतने सारे बड़े लोग और बहू खटिया तोड़ती हुई क़िताब पढ़ रही है!' वह कानाफूसी सुनकर माई हड़बड़ाई। तभी क्रुद्ध हो भाई भीतर आया और आपके हाथ से पुस्तक छीनता हुआ बोला, 'बहुत हो गया पढ़ना, विदुषी!' बुआ का गुस्सा वह आप पर क्यों उतार रहा था? और मैं क्यों खड़ा नहीं हुआ उस समय

आपके पक्ष में? लेकिन आपने शान्ति से क़िताब बन्द कर नीचे रख दी। पूरी ज़िन्दगी में दोबारा कभी नहीं खोली! आपके जाने के बाद आपका भाई बता रहा था, 'दीदी बहुत तेज़ थी पढ़ाई में। हमेशा अव्वल आती थी। सावरकरजी का 'कमला' पूरा कण्ठस्थ था उसे। उसके निबन्ध पूरी पाठशाला में पढ़कर सुनाये जाते थे।' यह सुनते समय महसूस हो रहा था, मानो हर वाक्य के साथ कोई हमारे गाल पर थप्पड़ जड़ रहा है। डॉक्टर ने कहा कि आपके हृदय का ऑपरेशन करना पड़ेगा, लेकिन तब भी आपका चेहरा इसी तरह शान्त, स्थिर। डॉक्टर ने मुझे खूब डाँटा, 'क्या कर रहे थे इतने दिन? शी इज कम्पलीटली वॉर्नआउट, फिजिकली एंड मेंटली। शी मे नॉट सरवाइव दिस।' वे शब्द कड़कड़ाते हुए टूट पड़े मन पर और लगा ये क्या कर डाला हमने इस महान स्त्री का। चली ही गयीं फिर आप। यह सब याद कर मैं एकदम से नीचे बैठ गया। इर्दगिर्द घना अंधेरा होने के बावजूद शर्म से दोनों हाथों में चेहरा छुपा लिया।

'बहुत हुआ। चलिए, अब भोजन कर लीजिए। मेरा भी होना है अभी।' भाभीजी बोलीं। मुझे साफ़-साफ़ सुनायी दिया था न! इतनी-सी बात से नाराज़ होकर मैं बिना भोजन के कसमसाता लेटा रहता था। सारे घर का भोजन होने के बाद निश्चिन्त होकर भाभी दोपहर में मेरे पास आकर मुझे मनाती थीं। मैं भी झट् से उठता और रसोईघर में दोनों भोजन करते। ऐसा उबाल आता मन में खुशी का कि कुछ पूछिए मत। बिल्कुल खटाल ज्वार!

उसी खुशी की गन्ध आयी थी न अब? रात घनी हो गयी थी और हवा प्रौढ़ता से बह रही थी। और यक़ीनन उसमें भी थी एक गन्ध। वह खुशबू मन को चिताने वाली, गात्रों को दीप्त करने वाली नहीं थी बल्कि मालती की फुलवारी से आने वाली शालीन, सुशील और मर्यादाशील थी। कहाँ से आती है ये हवा? ठण्डक भी कितनी बढ़ गयी है अचानक? उस पार सिन्धु नदी है न कुछ मील दूरी पर, वहीं से आती होगी ये सदियों की संस्कृति की, इतिहास की महक। पाँच सदियों की क़ब्रें हैं यहाँ। उनमें सोते हुए को लोरी सुनाने के लिए ही मानो आयी है शीतल, खुशबूदार हवा। धीमी-धीमी हवा चली, हवा चली, चली-चली-चली। और ऊपर चाँदनी से लबालब भरा आसमान। और चन्द्रकला एक बड़ी क़ब्र की मीनार पर झुकी हुई। साँस ही रुक गयी देखिए। या अल्लाह! ये कैसी तेरी मेहरबानी! सहसा मन किया कि घुटने टेककर नमाज़ पढ़ें। या खुदा, कितने बन्दों को तुमने मुआफ़ किया, मेरे अपराध मुआफ़ किये। ऊपर से यह कितना बड़ा आनन्द मेरे दिल में भर दिया, भगवन्! कितना उल्लास!

इर्द-गिर्द की सैकड़ों क़ब्रों की सोती हुई आत्माओं को भी तो मिला होगा न यह आनन्दोल्लास? क्यों न इन्हीं के बीच रह जाएँ। मैं खोजने लगा कोई खुली, खाली जगह क़ब्र के लिए। मिस्टर ग्रेवडिगर फ्रॉम हैम्लेट, कहाँ हैं आप? स्टेज पर जाकर यूँ ही फ़िलॉसॅफ़िकल भाषण देकर तालियाँ पिटवाने का काम मत कीजिए। मुझे दीजिए कोई क़ब्र खोदकर। फिर मैं आराम से लेट जाऊँगा उसके भीतर। आराऽम! हैल रे गबरू! कैसा बढ़िया लगता होगा, नहीं! भीतर हम अपने ही हाथ का तकिया बनाकर

आराम से लेटे हैं और ऊपर खचाखच भरी चाँदनी, कभी ख़त्म न होने वाली रात। वाह! वाह! ये हवा ये रात ये चाँदनी-चाँदनी-चाँदनी। अरे, मैं तो गाने लगा क़ब्रगाह में घूमते-घूमते। हमारे बारे में कभी कोई पूछेगा न कि आजकल कहाँ होते हो, दिखायी नहीं दिये कई दिनों से, तो 'पाकीज़ा' के क़ब्रिस्थान से उठकर मीनाकुमारी भारी आवाज़ में उनसे कहेगी, 'आजकल उन्होंने क़ब्रस्तान को मकाँ बनाया हुआ है।' मुझे यह उत्तर बहुत दर्दभरा और इम्प्रेसिव लग रहा था। तभी किसी ने धप्प से धौल जमाई मेरी पीठ पर। मैंने चौंककर देखा तो मीनाकुमारी। मैंने कहा, 'अरी, ये क्या महाजबीन! मैं डर गया न।' उसने बिना इस बात की परवाह किये कि उसके पान से रंगे दाँत दिख रहे हैं, बढ़िया-सी हँस दी। मैं भी हँस दिया। फिर हाथों में हाथ डाले उस क़ब्रिस्तान में मजे में हम घूमने लगे। मैंने कहा, 'गाएँ क्या हम वह 'कितना हँसी है मौसम, कितना हँसी सफ़र है?' इस पर नाक सिकोड़ती हुई वह बोली, 'नहीं, दिलिपिया का गाना नहीं चाहिए। शूटिंग के वक़्त सत्रह बार थप्पड़ मारा था ज़ालिम ने।' हाऊ मीन न! बिल्कुल कॅड यानी कॅड यानी लो लेवल का। ग़ज़ब। उस गाने से मन निकालकर सोच ही रहा था कि क्या गाएँ, तभी माहजबीन बोली,

'इससे अच्छा वन्दे मातरम गाओ।'

'बड़ी चालाक हो!' मैंने कहा, 'यहाँ पाकिस्तान में?'

वह बढ़िया सी हँस दी।

'गिरफ़्तार कर लेंगे न!' मैंने आगे कहा, 'ज़िन्दा गाड़ देंगे मुझे।'

'पागल हो तुम। यहाँ नहीं होता हिन्दुस्तान-पाकिस्तान का कुछ। गाओ।'

इस पर मैंने बस 'ना बाबा' कहा। उसने मुझ पर चुटकी वारी और मेरी तरफ देखकर बोली, 'कायर! बुझदिल! आया बड़ा क़ब्र में छलाँग लगाने वाला! क्या कहता था,

'आई लव्ड ऑफ़ेलिया

फॉट्टी थाउज़ेन्ड ब्रदर्स कुड नॉट

विद ऑल देअर क्वांटिटी ऑफ़ लव

मेकअप माय सन।'

मैंने घबराकर देखा और कहा, 'अरे ऑफ़ेलिया? माहजबीन कहाँ गयी फिर?'

'ननरी, ननरी,' ऑफ़ेलिया बोली। पानी से निथर रही थी वह। उसका सफ़ेद डायफ़ेनस गाउन उसकी देह से जगह-जगह चिपका हुआ था और उसके बालों से पानी निथर रहा था।

उसने 'आओ मेरे पास' कहा और तरबतर मुझे आग़ोश में भर लिया। मेरी देह भी ठण्डे पानी से भीग गयी और ठहरे हुए पानी की काई और हायसिंथ की तेज़ बदबू आयी। बाड़ी की बावड़ी में

तैरने के लिए जाता था बचपन में। रामचन्द्र सुतार का भाई भानु चार-एक साल बड़ा, वह भी आता था मेरे साथ। एक बार इसी तरह तैरने के बाद बावड़ी के पास झोपड़ी में मैं अपनी देह सुखा रहा था। तभी भानुदास निथरता हुआ वहाँ आया। उसकी आँखें खून उतर आने की तरह लाल हो गयी थीं। उसने गीले बदन मुझ पर झपट्टा मारा और मुझे आग़ोश में कस लिया। छोड़ने के लिए राजी ही नहीं था। उस वक़्त भी इसी तरह ठहरे हुए पानी की काई की बदबू महसूस हुई थी मुझे। मैंने मुड़कर ऑफ़ेलिया से कहा,

'तुम केवड़े का इत्र क्यों नहीं लगाती? सुरैया के चले जाने के बाद भी उसकी महक महकती रहती थी। अरी, उसका नाम भी लेता तो भी आ जाती थी वह खुशबू!' और उसके हाथ के कंगनों की आवाज़ें।

कुल मिलाकर कान में कैसे-कैसे नाद, कैसे-कैसे गन्ध सोते रहते हैं। एक-एक प्रसंग से एक-एक उफनकर आते हैं। लेकिन इस वक़्त जो आ रही थी, वह खुशबू मेरे लिए बिल्कुल भी परिचित नहीं थी। ऐसी अनोखी थी कि पहचानी भी नहीं जा रही थी। क्या ताज़बाबा के मज़ार के गुलाबों के हारों के अम्बार की है ये गन्ध? या पड़ोसी वैद्यजी के फ़ाटक पर जूही की है, जिसके नीचे रोज़ सुबह माणिक फूल तोड़ा करती थी? या महादेव के मन्दिर के पीछे निर्माल्य के ढेर की है? महालक्ष्मियों की मूर्तियों के पूजन के फूलों की सजावट की महक तो नहीं? या विवाह के पण्डाल में गिरगिरी-सी घूम रही पुष्पी, जिसने मेरे पास आकर मेरे गाल पर यूँ ही चोटी से हल्का-सा आघात किया था, कहीं उसमें गूँथे मोगरे के गज़रे की तो नहीं? दादा जब सन्दूक खोलते थे, तब भीतर की कस्तूरी फन फैलाए-सी आक्रामकता के साथ खुशबू की फूत्कार फेंकती थी, कहीं वही तो नहीं? लेकिन कहाँ, किसी भी महकते माहौल से इस खुशबू का रिश्ता नहीं जुड़ रहा। किसी के गुज़र जाने के बाद कमरे में अगरबत्तियों की गड्डी जलाकर रखते हैं, कहीं वो तो नहीं ये गन्ध? लेकिन नहीं, कुछ अलग ही है यह खुशबू। कम से कम इस दुनिया में मैंने कभी भी महसूस नहीं किया इसे इससे पहले।

मैंने बिल्कुल डिटेक्टिव की तरह आसपास देखा और अचानक चौंक गया। माना कि डिटेक्टिव चौंकते नहीं हैं, लेकिन मुझे दिखायी दिया; छोटी-बड़ी सभी क़ब्रों से हरी-भरी लताएँ उगी हैं और सरसराती हुई आसमान में चली गयी हैं। इतनी ऊँची कि उनकी फुनगियाँ दिखायी भी नहीं दे रही थीं। उन सभी लताओं में जगह-जगह लाल-लाल चेरी जैसे फलों के घौद लगे हुए हैं। मुझे अचानक भूख लग गयी। कराची में सुबह थोड़ा नाश्ता किया था, उसके बाद पेट में कुछ नहीं गया था। खाएँ वे फल? निमन्त्रण ही दे रहे थे वे भूखे आदमी को! अस्सू, मैं और तानी हाथ भर जबान बाहर निकालकर एक दूसरे को दिखाते थे कि जामुन खाकर जबान ज़्यादा जामुनी हो गयी है। एक बार तो, 'तुम्हारे जामुन ज़्यादा जामुनी है मेरे जामुन से' कहा और तानी के मुँह से जामुन छीनकर न जाने कितनी देर मैं उसे चुभलाता रहा। ये चेरी भी ऐसी ही होंगी। मैंने उन फलों की ओर हाथ बढ़ाया ही

था कि अचानक किसी ने टोका, 'नहीं जी, वे जग जाएँगे।' मैंने झट् से हाथ पीछे खींच लिया, बिजली का करण्ट लग जाने जैसे। चलो भाई वापिस। हमेशा कोई न कोई मिलता ही रहा है यहाँ। मैं अपने आप से बुदबुदाता हुआ पीछे मुड़ा, लेकिन दिशा ही समझ में नहीं आ रही थी। कहाँ से भीतर आया था और कहाँ से बाहर जाना है? आधी रात का अँधेरा। लो अब! तभी देखा कि उस पार खुली जगह पर सूखी पत्तियों का ढेर गलीचे की तरह फैला हुआ है और उस गलीचे के बीचोबीच पीतल का नक़्क़ाशीदार पलंग है, जिसकी सफ़ेद रेशमी शैया पर एक गज़ब की सुन्दरी शृँगार करती हुई बैठी है। मेरे तो होश ही उड़ गए! हाँ! लेकिन परिचित लग रही थी वह कुछ-कुछ। अच्छा, कहाँ देखा था उसे? रान्देव्हू या कफ़परेड में शोभा डे के घर की पार्टी में? उसी वर्ग की लग रही थी। देखता ही रहा, देखता रहा और अचानक बोल उठा, 'अरे, ये तो मन्दाकिनी है! वाह वाह। बहुत बढ़िया। तभी तो।' मैंने आगे बढ़कर हँसते-हँसते कहा, 'क्यों री! डरा ही दिया था तूने तो मुझे!' और मैं पलंग के किनारे बैठ गया। हाथ में पकड़े चाँदी के आईने में देखकर लिपस्टिक लगाते-लगाते मन्दी बोली, 'बस बस। सोचा, पहचानेगा भी या नहीं!'

'अरे वाह! तुम्हें कैसे भूलूँगा?' मैंने कहा।

'क्या भरोसा!' मन्दाकिनी बोली। फिर कानों में हीरे की बालियाँ लटकाती हुई बोली, 'अब ज़रा अलग लग रही हूँ न! इसलिए सोचा।'

'कुछ भी। तुम्हारी हल्की-हल्की-सी मुस्कान बिल्कुल पहले जैसी ही है तुम्हारे चेहरे पर!'

असल में वह अलग दिख रही थी। मन्दाकिनी भैंगी थी और इसकी आँखें तो विशाल, निर्दोष, सुन्दर और निपट काली हैं। और आँखों के सफ़ेद कोने में गुलाबी छटा। पिघल रही थी उसकी आँखें बिल्कुल।

'हाँ।' उँगलियों से बालों को घुँघराले बनाती और उन्हें माथे पर लाती हुई वह बोली, 'हल्की मुस्कान! लेकिन मेरी आँखें?'

'तू तो तू ही रहेगी न। ऐसे थोड़ी बदल जाते हैं अपने लोग!'

मन्दाकिनी ने लम्बी साँस छोड़ी और उँगलियों के नाखून निहारती हुई बोली, 'उस समय करता कभी इस तरह बात तो?'

मेरी कनपटी गरमाने लगी उसकी बातें सुनकर। ऐसा शर्मिन्दा हुआ कि चूर-चूर होकर क़ब्रों के नीचे वितल सुतल पाताल के भी नीचे चले जाएँ, हमेशा के लिए।

मन्दाकिनी हँसती हुई आगे बोली, 'मैं तुम्हें जो दिखायी दे रही हूँ, वह तुम्हारे मन की मन्दाकिनी नहीं है। वह मेरे मन की है। कैसी लगती हूँ, बताओ।'

वह ऐसी थी कि वर्णन करने के लिए शब्द बौने पड़ जाते। बाप रे, क्या यही है वह? उसके

भैंगेपन का उसकी पीठ पीछे कितना मज़ाक़ उड़ाता था मैं। कभी-कभी तो उसे सुनायी दे, ऐसे अन्दाज में भी। 'उत्तर-दक्षिण पूर्व-पश्चिम, आँखें मेरी रिमझिम रिमझिम।' इस तरह ज़ोर से गाकर भी। लेकिन ये? चेहरे पर हमेशा धीमी मुस्कान। वाह।

एक बार पाठशाला में इसी तरह उसे चिढ़ा रहा था। तभी वहाँ से वर्गणे मास्साब गुज़र रहे थे, जो बच्चों को पीटने के मामले में खबीस ही थे। उन्होंने सुना। वे मेरी गर्दन पकड़कर खींचते हुए स्टाफ़रूम ले गये और सामने खड़ा कर बोले, 'वो अपने माँ-बाप के कलेजे का टुकड़ा है। जब उन्हें पता चलेगा कि तुम इस तरह उसका मज़ाक उड़ाते हो, सोचो कैसा लगेगा उन्हें? व्हाई डू यू हिट पीपल वेयर दे आर मोस्ट वल्नरेबल?' मैंने ऊपर देखा, उनकी आँखों में आँसू थे। मैं इस तरह स्याह पड़ गया कि लीथ नदी में कई बार डुबकियाँ लगाने के बावजूद भी यह सब न भूल सकूँ। या गंगा में डुबकियाँ लगाकर भी मेरे पाप नहीं धुलेंगे सौ जन्मों तक। वर्गणे मास्साब की आँखों का पानी था ही ऐसा पावरफुल। ऐसी शर्म महसूस हुई कि इस चेहरे को अब किसी लावारिस मुफ़लिस क़ब्र में छिपाना होगा। अब दुबारा जागृति हुई। हीरों का हार पहनी मन्दाकिनी खुद को व्यग्रता से निहार रही थी। क्या इसे याद होगा वो सब कुछ? मुझे साफ़-साफ़ महसूस हुआ कि 'सी यांडर माय डिस्पेयर' कहकर उसने मेरा सिर काटकर हेब्रस नदी में फेंक दिया है।

'मैं जानती थी कि तुम मुझे क्या कहते हो। क्या मैं इतनी बेवकूफ़ थी कि यह तक न जान पाती? तुम ही नहीं, तुम्हारी देखा देखी अन्य लड़के भी मुझे न जाने क्या-क्या कहकर चिढ़ाते थे। तुम लोगों को लगता था, मैं भैंगी हूँ इसलिए सारी दुनिया मुझे वैसी ही दिखायी देती होगी, यानी उत्तर-दक्षिण?' वह हँसी और आगे बोली, 'लेकिन एक बात आप लोग कभी समझ नहीं पाये कि मेरा भैंगापन मेरा एसेट बन गया था। इसी कारण मुझे दुनिया अलग, ज़्यादा सही और ज़्यादा सच्ची दिखायी देती थी। जो तुम नहीं देख पाते थे, मुझे वह सही-सही दिखायी देता था। असल बात, तुम सभी असल में क्या हो, मुझसे कितने छोटे हो, सब दिखता था मुझे। हालाँकि मैंने कभी किसी को बताया नहीं। ज़रूरत भी क्या थी? लेकिन एक भैंगे व्यक्ति की बात को कौन सच मानता? दूसरी बात, मैं अपनी वनअपमेनशिप क्यों छोड़ दूँ? मुझे तुमसे ज़्यादा असलियत पता चली है, यह सोचकर मुझे कितना स्ट्रांग, कितना कॉन्फिडेण्ट लगता, क्या बताऊँ? आप लोगों की मूर्खता पर हँसी आती थी मुझे। वह दिखता था मेरे चेहरे पर, जिसे तुमने अभी 'हमेशा की हल्की-सी मुस्कान' कहा।'

मन्दाकिनी ने अपने बाल खुले छोड़ दिये। वे धूप के धुएँ से महक रहे थे। उस महक को सीने में भरते समय अचानक मुझे ख़याल आया कि मुझे उसके प्रति बेतहाशा आकर्षण हो रहा था। जागृतावस्था में उसका मज़ाक उड़ाकर मैं हमेशा उसे ठुकराता आया हूँ, लेकिन वह हमेशा मेरे सपनों में आकर मेरी रातें तृप्त कर जाती थी। जाग जाने पर मुझे आश्चर्य होता कि कैसे आती है यह मेरे सपने में? कुबूल ही नहीं करता था न मैं कभी कि पसन्द है वह, चाहे भैंगी हो। कुछ तो है उसमें जो

दूसरी लड़कियों में नहीं है। लेकिन उसके साथ काई की गन्ध कैसे आती है सपने में भी?

मन्दाकिनी ओठों ही ओठों में मुस्कुराती हुई मेरी तरफ देख रही थी। फिर अचानक पास आकर उसने मुझपर अपना केशपाश फैला दिया। मुझ पर तो नशा ही छा गया किसी जहरीले नाग से काटे जाने का। उसमें से जैसे-तैसे अपना चेहरा बाहर निकाल मैं 'प्राणवायु-प्राणवायु' चिल्लाने लगा। वह बहुत यानी बहुत हँसी। इतना हँसी कि वह हँसी उससे से रोकी नहीं जा रही थी। आखिरकार उसने मुझसे पूछा, 'अब बताओ, जिसने तुम्हें बालों में ढँका, वह मन्दाकिनी तुम्हारे मन की थी या मेरे मन की?' लेकिन मुझे लगा, अभी भी उसी को मुझसे ज़्यादा पता है। और न चाहते हुए भी मैं ज़रा नर्वस हो गया।

उसने हाथों से बाल पकड़े और उँगलियों की विलक्षण सम्मोहक हलचलों से उनका जूड़ा बाँध दिया।

अभी-अभी रोका था न मैंने तुम्हें, वो लाल फल तोड़ने के लिए! अरे, वो लाल-लाल फल लगी सारी लताएँ क़ब्रों में सोते मनुष्यों की बन्द आँखों के सपनों से निकली हैं। स्वप्नलताएँ कहते हैं उन्हें, और ये स्वप्नफल। उन्हें खाने का अधिकार तुम्हें नहीं है मित्र! उन लोगों की कभी न टूटने वाली बिल्कुल अखण्ड नींद, और इसी तरह कभी खत्म न होने वाले सपने आते हैं। ये लताएँ बढ़ते-बढ़ते आसमान में ग़ायब हो जाती हैं। उन फलों के बीज यहीं गिरते हैं ज़मीन पर। कुछ को ले जाती है हवा पराई भूमि पर बहाकर। कभी-कभी तो ये बीज ज़िन्दा मनुष्य के मन में भी गिर जाते हैं।'

यह सुनकर कि बन्द आँखों से सपनों की लताएँ निकलती हैं, मुझे माई की याद हो आयी। एक शाम जब वह चली गयी, भाभीजी ने अपनी हथेली से हौले से उसकी आँखें ढँकनी चाही, लेकिन आखिरकार उसने हमेशा के लिए आँखें मूँद लीं। लेकिन दूसरे दिन, उसकी अरथी उठाते समय देखा, उसकी आँखें खुली थीं। और उनमें ज़िन्दा, असहाय दुःख जम जाने जैसा लग रहा था। वे आँखें अब हमारी तरफ नहीं देख रही थीं। उनका हमसे, हमारे परिवेश से कोई रिश्ता नहीं बचा था। वे आँखें सीधे आकाश में नज़रें गड़ाए, कहीं भी सिर टिकाने के लिए जगह न होने के कारण 'क्यों भला?' बस यही एक प्रश्न पूछती-सी नज़र आ रही थीं। ज़िन्दगी भर उसने जो खुद्दारी नहीं दिखायी थी, मृत्यु के बाद वह इस तरह दगा देकर उसकी आँखों में आ बैठी? उसकी आँखें खुली थीं, यानी वह चिरनिद्रा भी उसे नसीब नहीं हुई और वे सपने भी। उसकी आँखें किसी बेवजह सजा पाए बेकसूर बच्चे की आँखों जैसी क्यों दिख रही थीं? हमें भी बताया न जाए, ऐसा कौन-सा दुःख था उनमें? हम बौने पड़ गये, शायद कुपुत्र बन गये। इतनी सारी कमाई के साथ जियो अब खुशी से! अब इस जीवन में इससे बड़ा अपराध हमारे हाथों नहीं होगा। अब दूसरा दुःख देखना ही न पड़े। इससे भी बडा दुःख यह था कि हम माँ का दुःख कभी समझ ही नहीं पाए। बढ़िया। अच्छा ही लगा मुझे। एकदम से मुक्त होने जैसा। अब चाहे जो हो, चाहे जो विपरीत, दुखदायी कुछ भी। नथिंग कैन बी एज़ बैड एज़ दिस। व्हाट

रिलीफ़, मॅन!

इस नयी आज़ादी से उल्लसित होकर मैंने अपने आप को सम्भाला और मन्दाकिनी की तरफ देखा। उसका श्रृंगार खत्म हो गया था और वह मलमल के तकिए पर कोहनियों के बल क्लियोपैट्रा स्टाइल में लेटी थी। किसी महारानी की ठसक में बोली, 'जब एक बार मालूम हो गया कि किसी के मर्म पर प्रहार करने वाले लोग अत्यन्त दुर्बल होते हैं, फिर हमारी दुर्बलता ही ताक़त बन जाती है। यही कहती हूँ मैं हमेशा इन दोनों से।'

मैंने देखा, उसके पलंग के पास ज़मीन पर दो अद्‌भुत सुन्दर युवक बैठे थे, छोटे बच्चों जैसे आज्ञाकारी। एक ने अपने दाहिने पैर की एड़ी हथेली से ढँक रखी थी और दूसरे ने अपनी पुष्ट जंघाओं पर उत्तरीय डाल रखा था। मैंने पहचाना। एकिलिस और दुर्योधन। फिर कुछ बोलना चाहिए इसलिए मैंने भोलेपन से (मैं पहले से ही टैक्टलेस हूँ) कहा, 'दुर्योधन हैं न आप? बिना मुकुट के पहचान ही नहीं पाया मैं आपको।'

'उस चोपड़ा का सीरियल देखकर आप लोग न जाने क्या-क्या धारणा बना लेते हैं हमारे बारे में!" परेशान होकर दुर्योधन बोला। 'उठते-बैठते कोई पहनेगा ऐसा किलो भर सोने का मुकुट? भीम ने मस्तक पर लात मारी, तभी उड़ गया होगा वह कहीं।'

'मेरा कवच कहाँ रखा है, बस ये मत पूछो अब।' एकिलिस बोला।

'इसकी एड़ी कमज़ोर, इसकी जंघा कमज़ोर, सभी यही कहते हैं।' मन्दाकिनी इतिहास अनुसन्धाता, साइकाट्रिस्ट और दार्शनिक, तीनों भूमिकाएँ आत्मविश्वास के साथ निभाती हुई बात करने लगी, 'लेकिन दरअसल ऐसा नहीं है। ये कमज़ोर बन गये कहो, या इनकी माँओं ने इन्हें कमज़ोर बनाया कहो। अकिलिस की माँ समुद्र कन्या थी। इसकी एड़ी कमज़ोर रह गयी उसके कारण। दुर्योधन के बारे में तो जानते ही हो तुम। लेकिन गान्धारी भी क्या करती? जब यह पता चला कि उसका होने वाला पति अन्धा है, उसके साथ धोखा हुआ है, उसके भीतर कुछ जल गया हमेशा के लिए। उस राख भरी कोख से इसका और इसके भाइयों का जन्म हुआ। लेकिन कम से कम एक बार उनकी तरफ देखने के लिए आँखों की पट्‌टी हटाई जाए, इतना भी हरापन गान्धारी के मन में नहीं बचा था। और जब देखा, तब तक देर हो चुकी थी!'

'ऐसा ही नहीं है। थेटीस ने दो बार कवच दिया एकिलिस को। मेरी माँ न्यायप्रिय थी, लेकिन जब मेरा ही आचरण ग़लत था, तो वह भी क्या करती!' दुर्योधन बोला।

'मुझे तो कभी-कभी लगता है,' एकिलिस बोला, 'युलिसिस खेती में नमक की बुआई बन्द नहीं करता तो मैं युद्ध में नहीं खींचा जाता।'

'युद्ध हमारी नियति थी, कर्तव्य था और धर्म भी। इस हो-हल्ले में कितनी ही स्त्रियाँ हमारी

ज़िन्दगी में आयीं-गयीं, लेकिन हमारी माँओं की जगह वे कभी नहीं ले सकीं। तुम्हारी माँ तो हमेशा समुद्र तल में ही रही। और मुझे लगता था, कम से कम एक बार ही सही, मैं अपनी माँ की आँखें देखूँ। उसने पट्टी उतारकर देखा भी एक बार मेरी तरफ, लेकिन तभी मैंने ही शर्म से आँखें मूँद लीं। हमारी आँखों की मुलाक़ात कभी हुई ही नहीं!'

एकिलिस झल्लाकर बोला, 'और कर्ण! क्या वह नहीं था हमारे जैसा?'

दुर्योधन की आँखें अचानक नम हुईं। बिल्कुल भीगे हुए सुर में बोला, 'इसीलिए तो इतने प्राणप्रिय मित्र बन गये थे हम!'

एकिलिस खिन्न हुआ। उदास होकर बोला, 'हम रणभूमि में अकेले-अकेले लड़-कटकर मर गए। हमारे आसपास हमारा अपना कोई नहीं था। कितना विलाप किया होगा हमारी माँओं ने, जब उन्हें यह पता चला होगा!'

'क्या पता!' दुर्योधन बोला, 'भीम ने धोखे से मेरी जंघाएँ तोड़ दीं, लेकिन तब भी मैं धर्म के अनुसार ही लड़ा, इसकी मुझे खुशी थी। मैं समझ रहा था कि मेरी एक-दो ही घड़ियाँ बची हैं। इर्दगिर्द पाण्डव घेरा बनाकर खड़े थे, मेरी मौत की प्रतीक्षा में। ऊपर गिद्ध मँडराने लगे थे। मेरी आँखें मुँदने लगी थीं। सबकुछ पीछे छूट चुका था। भाईबन्द, घृणा-द्वेष, युद्ध, रिश्तेदार। माता गान्धारी भी। बस एक ही प्रबल इच्छा थी। उस घेरे के बाहर कृष्ण दूर अकेले खड़े थे, एक बार उनके मुकुट के मोरपंख की आँख जी भरकर देखूँ। मैं लड़खड़ाता हुआ कुहनियों के सहारे उठने लगा ताकि मोरपंख की आँख दिखायी दे। लेकिन तभी लात मारी थी भीम ने मेरे माथे पर।'

भीषण खामोशी फैल गयी। पल भर बाद मन्दाकिनी ने अपनी सिरहाने के नीचे से एक मोरपंख निकाला और उसे दुर्योधन को देते हुए बोली, 'लो।' फिर मेरी तरफ हाथ से इशारा किया। बोली, 'अरे इसी ने दिया था मुझे एक बार।'

अब मुझे याद आया। भिवा ने बहुत सारे मोरपंख दिये थे मुझे, जो मैंने इसी तरह कहाँ-कहाँ बाँट डाले थे। और मन्दाकिनी भी गजब है। सम्भालकर रखे उसने मोरपंख। मेरे पास उसकी जैसी स्ट्रेन्थ नहीं है, फिर चेहरे पर उसके जैसी हल्की मुस्कान कहाँ से आएगी? वह शूर है। मतलब जब हम मरेंगे, तब ऐसे सुखद सपने देखते हुए, अखण्ड देखते हुए। चिरनिद्रा है ही नहीं मेरी किस्मत में? एक सपना चाहिए बाबा। भारतीय दर्शन कहता है कि आख़िरी पल में मन में जो भावना होती है, उसी का कन्टिन्यूएशन होता है हमारा अगला जन्म। मेरा तो पुनर्जन्म पर विश्वास नहीं है। लेकिन मृत्यु के बाद खत्म न होने वाला सपना देखते हुए पड़े रहना भी गजब है। अत्यन्त तार्किक। हमें अतार्किक लगेगा, लेकिन मृतकों का तर्कशास्त्र भी अलग नहीं होगा क्या? यहाँ के प्रमाण वहाँ कैसे चलेंगे? ऐसा प्रदेश जहाँ बुद्धि नहीं पहुँचती। वहाँ तर्कशास्त्र नहीं। वह काला समुद्र कैसा खौलता रहता है। वहाँ ऐसा यूज़लेस टूटा चप्पू ले जाने से क्या मतलब?

ये हादसे तो नहीं? फिर अखण्ड बहने वाली मेरी निरी काली लीथ कहाँ गयी? उस पार सिन्धु। ज़िन्दा लोगों की संस्कृति वहाँ उदित हुई। फली-फूली। और ये लीथ! एकदम आर्ष। जीवन के साथ जन्मी। इसके किनारे मृतकों की स्वप्नसंस्कृति फूल-फल रही है, अनादि काल से। अपने आप से 'ढूँढ़िए उस नदी को टूरिस्ट महाराज' कहते हुए मैं उस क़ब्र से चलने लगा।

आधी रात ज्वर की तरह चढ़ी थी। बिल्कुल घनी और गहरी। क़ब्र में खोये शवों की साँसें अब बढ़ गयी थीं और उनकी बढ़ती आवाज़ें बिल्कुल साफ़-साफ़ सुनायी दे रही थीं। उन आवाज़ों से धीरे-धीरे एक गरजने वाला तूफ़ान तैयार होने लगा था। मुझे लग ही रहा था कि उस तूफ़ान में अब हम घिर जाएँगे। तभी उस आवाज़ की घनता को किसी तेज़ हथियार से काटने की तरह एक और साफ़-साफ़ आवाज़ सुनायी देने लगी। मैं अपनी जगह पर हतबुद्धि-सा खड़ा रहा। किस दुनिया की है यह आवाज़? आवाज़ थी एक स्त्री की। यक़ीनन। लेकिन ऐसी कैसी है ये आवाज़? ये रोना है या गाना? सुरीली है या बेसुरी? कुछ समझ में नहीं आ रहा था। वो आवाज़ यकीनन मेरी ही दिशा में अधिकाधिक क़रीब आने लगी। मैं सावधानी से खड़ा हो गया। ऐसी आवाज़ इससे पहले मैंने कभी नहीं सुनी थी और ऐसा गाना तो कभी मेरी कल्पना में भी नहीं आया था। उस गाने में शब्द नहीं थे। बस सुर या बेसुर?

धीरे-धीरे मुझे दिखायी देने लगा कि क़ब्रों से राह खेते हुए कोई मेरी ही तरफ आ रहा है। उसने गाना रोका नहीं था। वह स्त्री थी। फिर मुझे देखकर मुझसे हाथ भर के फासले पर आकर ठिठककर रुक गयी। वह नग्न थी। उसकी देहकान्ति केवड़े जैसी थी। उसकी देह पर हीरे की कनी की तरह आकाश की चाँदनी का दमकता चूरा जगह-जगह फैला था। उसकी आँखें विशाल और निर्विकार थीं। उसके ओंठ गीले और भड़कीले लाल थे, मानो अभी-अभी रक्त पीकर आयी हो। उससे कुछ खून जैसी बूँदें बीच-बीच में उसके वक्ष पर टपक रही थीं। उस खून से गीले हुए वक्ष पर दो रक्तकमल खिल उठे थे और उसके सुडौल, सुघड़ हाथों की लम्बी उँगलियों से केवड़े के पराग कण चिपके हुए थे। उसकी सुदीर्घ पीन जंघाओं से दो भुजंग लिपटे हुए थे और योनि पर भड़कीला लाल तेजस्वी माणिक ऐसे जगमगा रहा था, मानो कोई नागमणि हो।

मेरे पास आने पर वह रुकी और अपना गाना भी रोक दिया। काफ़ी देर तक हम दोनों एक दूसरे की तरफ देखते रहे। अभिमन्त्रित अदृश्य पाश में होने की तरह मैं स्तब्ध खड़ा रहा। मन एक साथ कुतूहल, भय और घृणा से भर गया। लेकिन मेरे ध्यान में आया, इन सबसे एक प्रबल अनिवार आकर्षण धीरे-धीरे मेरे मन पर क़ाबिज़ होने लगा है। यह शक्ति उसके अद्‌भुत रूप की थी या उसकी देह से आने वाली मादक और निषिद्ध गन्ध की? वह गन्ध सदियों से पगी होने की तरह पुरानी थी, लेकिन उसमें प्राचीनता का आह्वान था।

'मैंने सोचा तुम डर जाओगे।' आख़िरकार वह स्त्री बोली।

मन उसकी देह की गन्ध को सूँघने से मना कर रहा था, फिर भी मैंने सीना भरकर उसे सूँघा और कहा, 'घबराने की क्या बात है?'

अचानक वह हँसी। उसके चेहरे से चाँदनी झरने लगी।

'तुम जहाँ से आये हो, वहाँ सभी डरते हैं मुझसे। घबराते हैं, गुस्सा करते हैं। घबराते हैं इसलिए गुस्सा करते हैं।' रूखाई से हक़ीकत सुनाने की तरह वह बोल रही थी।

मुझसे रहा नहीं गया और भीतर से किसी ने धकेलने की तरह मैंने कहा, 'आप अतीव सुन्दर हैं!'

'अच्छा? पहली बार सुना ये मैंने अपने बारे में।'

'आपका गाना भी दुनिया से अलग है और अत्यन्त सुन्दर भी। लेकिन आपने गाना क्यों रोका?'

वह दुबारा गाने लगी और क़ब्र से निकली लताएँ जाने-अनजाने उसकी तरफ झुकने लगीं। कैसा था वह गाना! ऐसी निर्विकार आँखों वाला व्यक्ति, ऐसा ख़ून के फ़व्वारे छूटने के जैसा कैसे गा सकता है?

कुछ देर बाद रुकी और बोली, 'यह किसी और से मत कहिए। वरना मेरी तरह आपको भी वे गाँव से बाहर निकाल देंगे, हमेशा के लिए।

'उन्होंने आपको गाँव से बाहर निकाल दिया?'

उसने अपनी बारीक़ कोमल उँगलियों की हथेलियों में अपना चेहरा छिपा लिया। मुझे अनिवार मोह हुआ कि उसके हाथ हटाएँ और उसकी उँगलियों से चिपके परागकण अपनी ज़बान की नोक से चुग लें। मेरा आवेश जानकर उसकी जंघाओं के नाग बेचैन हुए और वहीं के वहीं बिलबिलाने लगे। सब कुछ भाँप जाने की तरह वह बोली,

'ऐसा कुछ मत कीजिएगा। मेरी उँगलियों से चिपके ये परागकण जहरीले हैं। उसके केवल स्पर्श से भी आप हरे-नीले पड़ जाएँगे।' फिर थोड़ा रुककर बोली, 'लेकिन आप यहाँ आए कैसे? और यहाँ कर क्या रहे हैं?'

मैंने हँसकर मज़ाक़ में कहा, 'कोई क़ब्र ढूँढ रहा हूँ, खाली!'

'समय आने पर मिल जाएगी। ज़ल्दी क्या है? लेकिन मेरी किस्मत में तो वो भी नहीं है।'

मुझे असमंजस में देखकर वह बोली, 'अजी, मैं ज़िन्दा हूँ! उतनी ही ज़िन्दा हूँ, जितने कि आप। शायद ज़्यादा ज़िन्दा। और हमेशा।'

'हमेशा ज़िन्दा? क्या मतलब?'

'मतलब, मुझे मृत्यु है नहीं?'

'फिर आप यहाँ क्या कर रही हैं?' मैंने पूछा।

'क्या करूँगी? आप लोगों ने मुझे निष्कासित किया। तड़ीपार कर दिया। आप अनेक, मैं अकेली। आपके लिए मृत्यु प्राप्य है और बाद में कभी खत्म न होने वाले सुन्दर सपने देखते हुए आप अपनी-अपनी क़ब्रों में चिरविश्राम करने वाले हैं। लेकिन मेरी क़िस्मत में यह भी नहीं है। मैं ज़िन्दा ही इन क़ब्रों में भटकती रहूँगी हमेशा!'

'आपको डर नहीं लगता यहाँ?'

'कैसा डर? बल्कि सुकून मिलता है। आसपास नगर, महानगर हैं, भीड़भाड़ से भरे। उसके बीचोंबीच क़ब्रिस्तान, तूफ़ान की आँख की तरह।'

मेरे भीतर कुछ हिलने जैसा हुआ। आगे झुककर मैंने उससे पूछा, 'जब आपका घरबार नहीं है, कोई क़ब्र भी नहीं है, फिर आप रहती कैसे हैं? क्या खाती-पीती हैं?'

'कभी भूख सही नहीं गयी तो गाँव की सरहद के पास जाकर खड़ी हो जाती हूँ, उम्मीद से। वो भी एकाध बार, कई दिनों बाद। लेकिन मुझे देखते ही औरतें अपने बच्चों को झट् से उठाकर पल्लू में छिपा लेती हैं और घर में जाकर जल्दबाज़ी में किवाड़ बन्द करती हैं। पुरुष मुँह से लगी हुक्के की नली अलग कर तुच्छता से थूकते हैं और कटिवस्त्र में हाथ डालकर शिश्न सहलाने लगते हैं। कभी कोई तरस खाकर, दया दिखाकर एकाध निवाला सरहद के पास लाकर रख देता है और यह देखकर कि आसपास कोई देख नहीं रहा है, ज़ल्दी-ज़ल्दी चला जाता है। वही निवाला खाकर दिन गुज़ारती रहती हूँ मैं। जैसे-तैसे। कुछ न मिले तो यहाँ आकर इन लताओं में लगे लाल फल खाती हूँ। फल खूब हैं यहाँ और उनमें अधूरे सपनों की मधुरता भी है। मेरी भूख-प्यास मिट जाती है इससे। सुखी हूँ मैं।'

वह हँसी। फिर एक बार चाँदनी का रेला उसके मुख से झर गया। मुझसे रहा नहीं गया इसलिए आखिरकार पूछा,

'लेकिन आप हैं कौन? आपका नाम क्या है? गाँव से क्यों निष्कासित किया गया आपको?'

'मैं नहीं जानती कि मैं कौन हूँ। और वैसे भी, हमें कहाँ पता होता है? लोग ही बताते हैं कि आप ये हैं और आप वो हैं। वैसे उन्होंने मुझे बताया कि मैं एक वर्ज्य स्वर हूँ। कुछ लोगों ने तो बताया कि वर्ज्य नहीं, निषिद्ध स्वर हूँ मैं। वे मुझसे बोले कि मैं भूप में मध्यम हूँ और दरबारी में निषाद। उनका कहना था कि यह नियम के विपरीत है, प्रकृति विरोधी। और उन्होंने कहा कि मैं उनके बीच रहूँगी तो मेरी वजह से उनका ईश्वरीय, विशुद्ध संगीत अपवित्र हो जाएगा, नापाक हो जाएगा। मेरे कुछ कहने से पहले ही उन्होंने पत्थर मारकर मुझे गाँव से बाहर निकाल दिया। फिर मैं सीधे यहाँ चली आयी। यहाँ ग़ज़ब शान्ति है। यहाँ सारे वर्ज्य स्वर लगाकर मैंने कुछ अनवट राग बनाये हैं, जिन्हें दिल खोलकर

गा सकती हूँ मैं यहाँ।'

और उसने अपनी ठाय लय में आलापी शुरू की। वह आलापी जैसी-जैसी घनी होती गयी वैसी-वैसी दूर क्षितिज पर प्रकाश की रेखा उभरी। गाने के साथ-साथ सारा क्षितिज फिर से उजला होने लगा और बाद में वह प्रकाश उन्माद से ऊपर आसमान में उछलने लगा। मैं सन्न होकर देखता ही रह गया। फिर उसने गाना रोका और बोली,

'देखा न? मेरा यह राग सुनकर गाँव-गाँव के उत्सुकता के दिए कैसे अचानक वासना की तरह सुलग उठे हैं? लेकिन इसे वे स्वीकार नहीं करेंगे। उनकी उत्सुकता में धैर्य की रीढ़ नहीं है। और वह नहीं है इसलिए एक भी अनवट राग वे कभी गा नहीं सकेंगे, मेरा गाना गाना तो बहुत दूर की बात है। वे वही बासी गाना गाते रहेंगे और उसी को अभिजात, विशुद्ध संगीत कहेंगे। ख़ैर, अब मैं चलती हूँ। लेकिन एक बात ध्यान में रखिए, मेरा घर-गाँव-क़ब्र हो या न हो, लेकिन मैं वह गा सकती हूँ, जो गाना चाहती हूँ। क़ब्रिस्तान में तो क़ब्रिस्तान में। और वैसे भी, इतनी आज़ादी किसे मिलती है?'

वह जाने के लिए मुड़ी तब उसके ज़मीन पर लोट रहे बालों में मुझे कुछ हिलता हुआ नज़र आया। मैंने साँसें रोककर कहा,

'मेडुसा!'

'नहीं, मैं मेड्यूसा नहीं। उसकी नज़र पड़ते ही लोग अचल शिला में तब्दील होते हैं। मेरी इच्छा है कि मेरे कारण किसी का ऐसा हश्र न हो, किसी का विनाश न हो, सभी खुशी-खुशी रहे। इसलिए मैंने अपनी आँखों से बाहर देखने वाली वह दृष्टि ही निकाल फेंकी है। जिन्होंने मेरा निष्कासन किया, उनके साथ अच्छा बर्ताव करना, बस यही सज़ा मैं उन्हें देना चाहती हूँ!'

वह मुड़ी और क़ब्रों से राह खेती हुई क्षितिज की तरफ चल पड़ी। उसके जाने के साथ-साथ वहाँ का उजाला भी धीमा होते-होते नष्ट हो गया। घनतिमिर जिसे कहते हैं, वैसा ही अँधेरा था अब। चन्द्रकला पूरी तरह से झुक चुकी थी। आसपास की साँसें रुक-रुककर क़ब्रों में लौट आयी थीं और क़ब्रिस्तान फिर एक बार अविचल, प्रगाढ़ शान्ति में खो गया था।

मुझे अचानक थकावट महसूस हुई। बिल्कुल थकान। पैर निढ़ाल-से हो गये। इस आधी रात को, इस घने अँधेरे से, इस ख़ामोशी से चले जाना होगा। लौटने की राह मिलेगी? और वह हमारी मनचाही होगी? यहाँ शान्त, सुरक्षित लगता था, माँ के गर्भ में होने की तरह। दोबारा उस ज़िन्दगी के, रिश्तों के, सुख-दुखों के कोलाहल में चले जाएँगे? लेकिन माँ के गर्भ में दोबारा लौटना यानी नये जन्म की निश्चितता। फिर सम्बन्धों की बुनावट के साथ दुःख-क्षोभ की बुनावट को भी बढ़ाते जाना। 'जो मन का अंकुर उपजे' की स्थिति कब आएगी? मृत्यु के बाद भी वह आएगी, लग नहीं रहा था। आसपास सरसराने वाली लताएँ देखकर यह पता चल ही रहा था। मृत्यु के भी अंकुर फूट जाते तो? मतलब, क्या मृत्यु भी अन्तिम अवस्था नहीं है?

चकराना मुझे अपनी नियति ही लगती है। मेरी ही नहीं, सारे प्राणी-मात्रों की। इस चकराने से निजात मिलनी चाहिए। मन में अंकुर फूटते हैं, उसी से यह जीने-मरने की जटिलता उत्पन्न होती नज़र आती है। जन्म और मृत्यु, ऐसा कुछ होता भी है? या ये भी मन की ही नित्य की बातें हैं? क्या परेशानी है। इस मन का ही विच्छेद कर डालना चाहिए। बेक़ाबू अन्धी ऊर्जा से गोलाकार चकराने का स्वभाव है इसका। चक्रवात की तरह यह तूफ़ान पागलपन से गोल-गोल घुमाता रहता है और मेरी धज्जियाँ उड़ाता रहता है। इस चक्रवाती तूफ़ान के भीतर इसकी आँख ज़रूर होगी। इसका एपीसेन्टर, और वहाँ होगी किसी से भी भंग न होने वाली सार्वभौम, जागरूक और दक्ष शान्ति। वहाँ जाएं और उस शान्ति में ही पद्मासन लगाकर बैठ जाएँ हमेशा के लिए। बस।

यह कल्पना मुझे बहुत अच्छी लगी और पद्मासन लगाने के लिए मैंने पैर ऊपर उठाए। लेकिन उनमें हरकत ही नहीं हो रही थी। क्या हुआ, देखने के लिए मैं नीचे झुका। मेरे दोनों पैरों के इर्द-गिर्द उन हरी लताओं ने जकड़बन्दी का घेरा कस दिया था और वे धीमी लेकिन निश्चित गति से ऊपर-ऊपर चढ़ने लगी थीं।

परवीन शाकिर

वागीश शुक्ल

(यह परवीन शाकिर पर लिखी जा रही क़िताब का पहला अध्याय है।)

तमाम कायनात अज़ल से आइनों की ज़द में थी
हुजूम+ए+अक्स में य. बे-मिसाल कैसे आ गया?

परिचयार्थ

इक खुशगवार नींद प. हक़ बन गया मेरा
वह रतजगे इस आँख ने काटे हैं इन दिनों।

-परवीन शाकिर की मृत्यु के पश्चात छपे उनके काव्य-संग्रह कफ़+ए+आइन. (१९९६) में संकलित एक ग़ज़ल से।

१.१. जीवन-वृत्त

सो यह लड़की भी जब आपसे बात करेगी तो उसकी पलकें बेशक भीगी हुई होंगी- लेकिन ज़रा ग़ौर से देखियेगा- उसका सर उठा हुआ है।

-अपने प्रथम संकलन खुशबू (१९७७) की भूमिका में परवीन शाकिर।

कुल पच्चीस बरस की उम्र में इस डिण्डिम-नाद के साथ अपना पहला काव्यसंग्रह लाने वाली परवीन शाकिर का जन्म सोमवार २४ नवम्बर १९५२ को प्रातःकाल कराची के लेडी डफ़रिन अस्पताल में हुआ। उनकी माता का नाम अफ़ज़लुन्निसा बेगम और पिता का नाम सैयद शाकिर हुसैन रिज़वी[१] था। इसके पूर्व इस दम्पती के यहाँ १६ मार्च १९५० को एक बेटी का जन्म हो चुका था जिसका नाम नसरीन बानो रखा गया था, इस दूसरी बेटी का नाम परवीन बानो[२] रखा गया।

सैयद शाकिर हुसैन का जन्म १९२५ में बिहार के मुंगेर ज़िले में स्थित हुसैनाबाद में हुआ था (अब यह हुसैनाबाद शेखपुरा नामक नये बने ज़िले में आ गया है)[३] उनका घरेलू नाम शायद 'रज्जन' था। शाकिर हुसैन के पिता सैयद अबुल हसन दस सन्तानों के पिता थे जिनमें से आठ बेटे थे। १९३० के आसपास एक महामारी वहाँ फैली जिसकी चपेट में इनके पाँच बेटों की मृत्यु हो गयी। सम्भवतः इसी के बाद सैयद अबुल हसन दरभंगा ज़िले के लहरिया सराय में स्थित चन्दन-पट्टी नामक गाँव

में आ बसे क्योंकि डा. नज़ीर सिद्दीक़ी को लिखे गये एक पत्र में[४] (जो २८ फ़रवरी १९७८ को लिखा गया है) परवीन शाकिर ने अपने पिता का भारत-विभाजन के पूर्व का गाँव यही बताया है। हुसैनाबाद में परवीन शाकिर के परिवार का अब कोई सदस्य नहीं रहता किन्तु चन्दन-पट्टी में कुछ निकट सम्बन्धी अभी रहते हैं जिनसे मिलने परवीन शाकिर अपनी एक भारत-यात्रा में आयी भी थीं। यह यात्रा सम्भवतः तब की है जब वे १९७८ में दिल्ली के शंकर-शाद मुशाइरे में कवितापाठ के लिए आयीं और अपने रिश्ते के मामा डा. जाबिर हुसैन से मिलने पटना गयीं जो उस समय कर्पूरी ठाकुर के मन्त्रि मण्डल में स्वास्थ्य-मन्त्री थे तथा राजनेता होने के अतिरिक्त हिन्दी और उर्दू के साहित्यकार भी हैं।

शेष बचे तीन बेटों में से दोनों बड़े बेटों ने धार्मिक शिक्षा प्राप्त की और इसी क्रम में ईरान में स्थित शीआ धर्मशास्त्र के प्रसिद्ध विद्याकेन्द्र कुम नगर को चले गये तथा वहीं बस गये।

सैयद शाकिर हुसैन भारत में ही रहे। उन्हें सम्भवतः पारिवारिक परम्परा के अन्तर्गत थोड़ी बहुत धार्मिक शिक्षा भी दिलायी गयी किन्तु उनकी रुचि आधुनिक अंगरेज़ी शिक्षा में थी जो उन्होंने पटना जाकर प्राप्त की। वे वहीं से जून १९४७ में सैयद मुजाहिद हुसैन (जो सम्भवतः कोई निकट सम्बन्धी थे) के साथ कराची चले गये और चाकीवाड़ा मुहल्ले में रहने लगे। इस समय तक पाकिस्तान औपचारिक रूप से नहीं बना था। परवीन शाकिर ने यह कहा है कि उनके पिता का पाकिस्तान बनने के पहले कराची आ जाना इस उद्देश्य से था कि वे आज़ादी का जश्न पाकिस्तान में मनाना चाहते थे किन्तु इस कामना के अतिरिक्त रोज़ी-रोटी की तलाश का भी इस यात्रा के पीछे होना असम्भव नहीं लगता क्योंकि उनको टेलीकम्युनिकेशन्स विभाग में वहाँ नौकरी भी मिल गयी। सैयद शाकिर हुसैन का फिर भारत आना एक ही बार हुआ जब वे डा नाज़िम जाफ़र की शादी में वाराणसी आये। यह शादी १९६३ में हुई थी और इसमें सैयद शाकिर हुसैन सपरिवार आये थे। इस समय परवीन शाकिर की उम्र दस बरस की थी।

परवीन शाकिर की माता अफ़ज़लुन्निसा बेगम की माँ सैयद शाकिर हुसैन की 'कज़िन' बतायी जाती हैं। इनके पिता, अर्थात् परवीन शाकिर के नाना, सैयद काज़िम हुसैन पटना में रहते थे और लगता है कि इन्हीं के सहयोग से सैयद शाकिर हुसैन का पटना जाना भी हुआ। प्रतीत होता है कि यह परिवार भी पाकिस्तान जा बसा क्योंकि शायद सैयद शाकिर हुसैन का विवाह पाकिस्तान में ही हुआ जिसके बाद वे चाकीवाड़ा छोड़कर कराची की रिज़विया कालोनी में रहने लगे जो मुख्यतया भारत से गये शीआ मुसलमानों की बस्ती थी।

माँ-बाप से मिली परवरिश के अलावा परवीन बानो और उनकी बड़ी बहन को सैयद हसन अस्करी[५] का भी लाड़-प्यार बचपन से ही मिलता रहा। अस्करी साहब होम्योपैथी के डाक्टर थे और कविता के शौक़ीन। बाद में बड़ी बहन नसरीन बानो होम्योपैथी की डाक्टर बनीं और छोटी बहन परवीन बानो कवि। सैयद हसन अस्करी को इन दो बहनों का रिश्ते में नाना कहा गया है अतः ये सैयद काज़िम हुसैन के भाई लगते होंगे। एक सैयद हसन अस्करी का सैयद शाकिर हुसैन के चाचा के रूप में भी

उल्लेख मिलता है जो उनके पाकिस्तान पहुँचने के आस-पास ही पाकिस्तान चले गये थे, हो सकता है ये वही हों। जो भी हो, नज़ीर सिद्दीक़ी को लिखे गये एक पत्र में परवीन शाकिर ने यह बताया है कि उनके नाना फ़ारसी में कलकत्ता विश्वविद्यालय से एम ए थे, और जब तक जिये, उन्हें फ़ारसी पढ़ाने की कोशिश करते रहे।

सैयद शाकिर हुसैन स्वभाव से बहुत सीधे-सादे, धर्मभीरु, सहनशील, और कुलमर्यादा के आग्रही व्यक्ति बताये जाते हैं। पारिवारिक जीवन बहुत हर्षमय नहीं लगता। पत्नी बीमार रहती थीं और नसरीन बानो के जन्म के बाद दूसरी सन्तान के लिए अनेक मन्नतों और दुआओं के बाद परवीन बानो का जन्म हुआ था। बड़ी बेटी नसरीन बानो का विवाह उन्होंने अपने एक मित्र के बेटे से किया था किन्तु इस विवाह में उन्हें धोखा दिया गया था- वह लड़का मन्दबुद्धि था। परिणामतः यह विवाह सफल नहीं रहा और नसरीन बानो अपने मायके में ही रहीं। उनका भी स्वास्थ्य ठीक नहीं रहता था।

किन्तु सैयद शाकिर हुसैन ने अपनी पारिवारिक ज़िम्मेदारियाँ यथाशक्ति बहुत अच्छी तरह निभायीं। बेटियों की शिक्षा के लिए घर में तो वे धार्मिक पुस्तकें लाते थे किन्तु स्कूली पढ़ाई के लिए उन्होंने अंगरेज़ी माध्यम के स्कूल चुने जिनके नाम क्रमशः 'इस्लामिया कैम्ब्रिज स्कूल' और 'राइज़िंग सन स्कूल' बताये जाते हैं। तीसरी कक्षा में पढ़ते हुए परवीन को दो प्रोन्नतियाँ मिलीं और वे पाँचवीं में पढ़ रही अपनी बड़ी बहन नसरीन के साथ पढ़ने लगीं। पाँचवीं के बाद उनका अगला स्कूल 'रिज़विया गर्ल्स सेकन्डरी स्कूल' भी घर से दस क़दम पर ही था जहाँ आठवीं कक्षा में लिखे गये निबन्ध के आधार पर परवीन बानो को उनकी एक अध्यापिका ने 'भविष्य की साहित्यकार' बताया। १९६६ में मैट्रिक (= दसवीं) की परीक्षा प्रथम श्रेणी में पास करने के बाद कराची के सर सैयद अहमद गर्ल्स कॉलेज में परवीन ने इन्टरमीडिएट (= एफ़ ए अर्थात् बारहवीं) की पढ़ाई की जो १९६८ में प्रथम श्रेणी और नवीं पोज़ीशन के साथ परीक्षा में उत्तीर्ण होने पर पूरी हुई। १९७१ में उन्होंने कराची विश्वविद्यालय से अंगरेज़ी में बी ए (आनर्स) द्वितीय श्रेणी और दूसरी पोज़ीशन के साथ किया। इस बीच १९७० में उन्हें यूनाइटेड स्टेट्स इन्फ़ॉर्मेशन सर्विस (USIS) कराची से 'सर्वश्रेष्ठ कवि' का पुरस्कार मिल चुका था।

१९७२ में कराची विश्वविद्यालय से द्वितीय श्रेणी में अंगरेज़ी में एफ़ ए करने के बाद वे ३१ मार्च १९७३ से कराची के ही अब्दुल्ला गर्ल्स कॉलेज में अंगरेज़ी की अध्यापिका हो गयीं जहाँ उन्होंने नौ वर्षों तक पढ़ाया। इस बीच उन्होंने पाकिस्तान के उर्दू दैनिक 'जंग' में एक कालम भी १९७२ से १९७४ तक लिखा (और फिर १९९३ से प्रारम्भ करके अपनी मृत्यु तक लिखती रहीं)।[६]

१९८० में उन्होंने एक और एम ए 'अंगरेज़ी भाषा-विज्ञान' में कराची विश्वविद्यालय से ही किया और १९८१ में उन्होंने पाकिस्तान की सी एस एस (CSS = Central Superior Services जिसे भारत की आई ए एस परीक्षा के समतुल्य समझना चाहिए) परीक्षा दी जिसमें उन्होंने उत्तीर्ण प्रत्याशियों में दूसरा स्थान प्राप्त किया। विशेष उल्लेखनीय यह है कि इस परीक्षा में उर्दू के प्रश्नपत्र में एक प्रश्न स्वयं उनकी कविता पर ही था। यह परीक्षा देने के लिए उनकी उम्र अधिक हो चली थी और जनरल ज़िया उल

हक़ की विशेष अनुमति से ही[७] वे इस परीक्षा में बैठ पायीं। योग्यता-क्रम के अनुसार उनकी नियुक्ति पाकिस्तान की विदेश सेवा में हो सकती थी और वे ऐसा चाहती भी थीं किन्तु ऐसा हो नहीं पाया। इसके दो कारण बताये जाते हैं: पहला यह कि पारिवारिक (और अहमद नदीम क़ासिमी जैसे शुभचिन्तकों का भी) आग्रह इसके पक्ष में नहीं था और दूसरा यह कि इसी समय ज़िया उल हक़ ने पाकिस्तान में स्त्रियों का विदेशसेवा में जाना प्रतिबन्धित कर दिया था। दोनों बातें सही हो सकती हैं। जो भी हो, लाहौर में आवश्यक प्रशिक्षण के बाद १९८४ में उनकी नियुक्ति कराची में ही कस्टम विभाग में हो गयी और फिर १९८६ में उन्हें इस्लामाबाद में सेन्ट्रल बोर्ड ऑफ़ रेवेन्यू में सेकन्ड सेक्रेटरी के पद पर नियुक्त किया गया। वे यहीं विभिन्न प्रोन्नतियाँ प्राप्त करते हुए १९९२ में डेपुटी कलेक्टर के पद पर पहुँचीं। यह पद उनके जीवन के अन्त तक रहा।

प्रशासनिक सेवा में रहते हुए भी वे विश्वविद्यालयीय शिक्षा से दूर नहीं रहीं। १९९०-९१ में उन्होंने Hartford Consortium for Higher Education में Fulbright Scholar के तौर पर निवास किया तथा वहाँ के कई संस्थानों में दक्षिण एशियाई साहित्य, फ़िल्म, सभ्यता, आदि पढ़ाती रहीं। १९९१ में उन्होंने हार्वर्ड विश्वविद्यालय की Thomas Jefferson Felloship for Edward S. Mason Program प्राप्त की और १९९२ में हार्वर्ड विश्वविद्यालय से Public Administration की मास्टर्स डिग्री ली। स्कूल से लेकर विश्वविद्यालय तक, पाकिस्तान से लेकर अमरीका तक, वे अपने संस्थानों की पत्रिकाओं से लेखन और सम्पादन के स्तर पर जुड़ी रहीं।

एक कवि के रूप में उन्होंने कई विदेश-यात्राएँ कीं। १९८६ में USIS Exchange Program के अन्तर्गत अमरीका में विविध विश्वविद्यालयों और अन्य स्थानों पर स्थानीय बुद्धिजीवियों से सम्पर्क भी किया। उनका अपना क़द, जो कभी भी कम ऊँचा नहीं था, बढ़ता ही गया। विवाह के आस-पास ही उनका पहला काव्य-संग्रह खुशबू (१९७७) आया था जिसका दूसरा संस्करण छह महीने के भीतर ही आ गया और आज भी इसका छपना-बिकना चल ही रहा है। इस पुस्तक पर १९७९ में आदम जी पुरस्कार मिला और खुदकलामी (१९८५) पर अल्लामा इक़बाल हिजरा पुरस्कार। १९८७ में वे पाकिस्तानी लेखकों के एक प्रतिनिधि-मण्डल में चीन गयीं। १९८९ में दिल्ली में विश्व उर्दू सम्मेलन हुआ जिसमें उन्होंने फ़ैज़ अहमद फ़ैज़ पुरस्कार प्राप्त किया और उसी वर्ष ढाका में आयोजित दक्षिण एशियाई काव्योत्सव में पाकिस्तान का प्रतिनिधित्व किया। १९९० में उन्हें साहित्य-सेवा के लिए पाकिस्तान का 'तमग़ा+ए+हुस्न+ए+कारकर्दगी (= Pride of Performance) पुरस्कार मिल चुका था जो पाकिस्तान के सरकारी सम्मानों में एक बड़ा सम्मान है। उन्हें कस्टम विभाग द्वारा 'सितारा+ए+इम्तियाज़' सम्मान के लिए भी नामित किया गया था जो असमय मृत्यु के नाते उन्हें न मिल सका। उन्हें और भी बहुत से सम्मान मिले हैं जो इस छोटी सी सूची में शामिल नहीं हैं।

१.१.१ जीवन-वृत्त के इर्दगिर्द

परवीन शाकिर प्रारम्भ से ही प्रतिभासम्पन्न छात्रा के रूप में पहचान ली गयी थीं और उन्होंने

स्कूली जीवन से ही लिखना भी प्रारम्भ कर दिया था। पहले उन्होंने अपना लेखकीय उपनाम 'बीना' रखा था, किन्तु बहुत शीघ्र ही उन्होंने इसका परित्याग कर दिया अतः उनकी रचनाओं में नाम या उपनाम का कोई अंकन नहीं मिलता।

उनकी प्रतिभा को प्रारम्भ में ही पहचान मिली और उनके अध्यापकों ने उन्हें सक्रिय रूप से प्रोत्साहित किया। परवीन शाकिर ने अपने स्कूल की प्रिन्सिपल ज़ाहिदा तक़ी के प्रति बड़ी कृतज्ञता व्यक्त की है। इसके बाद कॉलेज की पढ़ाई में प्रारम्भ से ही उन्हें इरफ़ाना अज़ीज़ का संरक्षण मिला जो यों तो अर्थशास्त्र की अध्यापिका थीं और इस प्रकार अंगरेज़ी से आनर्स कर रही परवीन की सीधे-सीधे शिक्षिका नहीं थीं किन्तु जिन्होंने परवीन की रचनात्मकता को पहचाना और उसके विकास के लिए समुचित अवसर उपलब्ध कराया। वे स्वयं भी कवि थीं और कराची के संस्कृतिकर्मियों के बीच उनकी अच्छी पहुँच थी। उन्होंने ही परवीन शाकिर को रेडियो के कार्यक्रम करने, अख़बार में कालम लिखने, मुशाइरे में भाग लेने, और अन्ततः अहमद नदीम क़ासिमी की पत्रिका फुनून में रचनाएँ भेजने के लिए हिम्मत दिलायी। यह बात दूसरी है कि इन सभी क्षेत्रों में परवीन ने अपनी सुपात्रता को प्रमाणित किया।

कराची पाकिस्तान बनने से लेकर लम्बे समय तक उस देश की राजधानी थी और भारत से गये उर्दूभाषियों का सबसे बड़ा जमावड़ा भी वहीं था। परवीन के समय भी वहाँ की सांस्कृतिक समृद्धि कम न थी और परवीन को इसका लाभ मिला। वे बड़े-बड़े नामों के सम्पर्क में आयीं और धीरे-धीरे उन बड़े नामों की सूची में शामिल हो गयीं। उन्होंने बहुत तेज़ी से बढ़त हासिल की किन्तु अपने प्रशंसकों के बीच वे अपनी कविता के अतिरिक्त कुछ भी लेकर नहीं गयीं- यहाँ तक कि मुशाइरे में अपनी ग़ज़लें भी वे तरन्नुम से नहीं पढ़ती थीं जैसा कि यू-ट्यूब पर उपलब्ध उनके कविता-पाठों में देखा जा सकता है। इस विशेषता का उल्लेख करते हुए मुज्तबा हुसैन ने लिखा है कि मार्च १९७८ में जब वे भारत आयीं और मुशाइरे के पहले कान्स्टीट्यूशन क्लब में आयोजित एक गोष्ठी में कविता पढ़ी तो पहली बार उन्होंने किसी स्त्री-कवि को बिना तरन्नुम का सहारा लिए हुए कविता पढ़ते सुना। कच्ची उम्र से ही अहमद नदीम क़ासिमी के संरक्षण में होने के बावजूद, परवीन शाकिर ने उनके 'इस्लामिक सोशलिज़्म' से न इस्लाम लिया और न ही सोशलिज़्म। मैत्री के कृत्रिम विस्तार में भी उनको कोई दिलचस्पी न थी किन्तु स्वतःस्फूर्त सम्मान की अभिव्यक्ति में वे पीछे न थीं- यदि उन्होंने अहमद नदीम क़ासिमी को एक नज़्म समर्पित की है जिन्होंने उनको कवि के रूप में पहचान दिलायी तो एक नज़्म रघुपति सहाय 'फ़िराक़' को भी समर्पित की है जो उनके लिए अनजाने थे और जरा-जर्जर हो चुके थे।

परवीन की लोकप्रियता उनके जीवन-काल में ही असाधारण थी। सी.एस.एस. की परीक्षा में किस प्रकार उन्हें अपनी ही कविता पर एक आलोचनात्मक निबन्ध लिखना पड़ा इसका उल्लेख आ चुका है। सी.एस.एस. की सफलता के बाद उनका बैच दसवाँ था। ट्रेनिंग के दौरान एक बार जब एक विशिष्ट आगन्तुक से परवीन शाकिर का परिचय कराया गया तो उनका मुँह खुला का खुला रह गया और उनके हाथ से थाली छूट पड़ी। जैसा ऊपर बताया जा चुका है, उनकी मृत्यु के बाद भी इस

लोकप्रियता में कोई कमी नहीं आयी है। २०१७ में पाकिस्तान के कस्टम्स डिपार्टमेंट ने अपने कराची-स्थित भवन में सैयद अली रिज़वी पुस्तकालय की स्थापना की जिसमें एक कक्ष परवीन शाकिर के नाम पर है। कुछ और उदाहरण यहाँ दिये जाते हैं।

०२ मार्च २०१४ को पाकिस्तानी अख़बार The News के रविवारीय संस्करण में One Step Forward... शीर्षक से आमिना हैदर इसनी की एक रिपोर्ट छपी है जिसमें उन्होंने Fashion Week Pakistan Summer २०१४ के बारे में बताया है। इसके अनुसार डिज़ाइनर माही हुसैन ने बाज़ार में जो बैग उतारे हैं उनके साथ 'परवीन शाकिर प्रिन्ट्स' का रूमाल भी है।

फिर हम देखते हैं कि वेबसाइट newageislam.com पर उपलब्ध पत्रिका New Age Islam में १५ फ़रवरी २०११ को सैयद शिहाबुद्दीन का अतहर फ़ारूक़ी द्वारा लिया गया एक इन्टरव्यू मौजूद है जिसमें शिहाबुद्दीन ने बताया है कि जब उन्होंने राजनीति में उतरने के उद्देश्य से भारतीय विदेश सेवा से इस्तीफा दिया तब तत्कालीन विदेश मन्त्री श्री अटल बिहारी वाजपेयी ने उन्हें ऐसा न करने के लिए मनाने के वास्ते तीन बार अपने पास बुलाया और तीसरी बार में शिहाबुद्दीन साहब अटल जी के पास तर्क के रूप में परवीन शाकिर की एक ग़ज़ल देवनागरी में लिखकर ले गये जिसे अटल जी ने भी बहुत पसन्द किया और उनके अनुरोध पर शिहाबुद्दीन साहब ने यह ग़ज़ल उनको बाद में भिजवायी भी। यह देखते हुए कि यह १९७८ की बात है और परवीन शाकिर की उम्र कुल छब्बीस बरस की भी नहीं थी तथा साल भर पहले ही उनका तब तक अकेला काव्यसंग्रह छपा था, उनकी लोकप्रियता का अनुमान लगाया जा सकता है।

परवीन शाकिर जिन दिनों कस्टम विभाग में अफ़सर थीं, उन्हें एक बार एक ऐसे क़ैदी का पत्र जेल से मिला जिसे मौत की सज़ा हुई थी और जिसने इस पत्र में यह इच्छा प्रकट की थी कि वह मरने के पहले उनकी कविताएँ पढ़ना चाहता है। परवीन शाकिर ने उसे अपनी काव्य-पुस्तक भिजवा कर उसकी यह इच्छा पूरी की।

कुछ लोगों का यह कहना है कि अपनी इस सब जगह स्वीकृति के चलते परवीन शाकिर में बहुत घमण्ड आ गया था। उनके विरोध में कुछ दुष्प्रचार तो चलता रहता था इसमें सन्देह नहीं है। उदाहरण के लिए परवीन शाकिर और क़ुर्रतुल ऐन हैदर के सम्बन्ध परस्पर बहुत अच्छे थे- परवीन की १९७८ वाली भारत-यात्रा के समय क़ुर्रतुल ऐन हैदर ने उन्हें अपनी कार+ए+जहाँ दराज़ है इस अनुरोध के साथ दी थी कि वे पाकिस्तान में इसे छपवाने की बात करें जबकि क़ुर्रतुल ऐन हैदर को पाकिस्तान में सभी साहित्यकर्मी बहुत अच्छी तरह जानते थे। परवीन शाकिर ने एक नज़्म भी क़ुर्रतुल ऐन हैदर को समर्पित की है। किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि बाद में कुछ लोगों ने यह बात फैलायी कि परवीन ने क़ुर्रतुल ऐन हैदर के ख़िलाफ़ कुछ कहा है जिसके नाते क़ुर्रतुल ऐन हैदर नाराज़ हो गयीं और यह बात अहमद नदीम क़ासिमी तक पहुँची जिन्होंने परवीन को इस बारे में लिखा जिसका जवाब अमरीका से देते हुए परवीन ने अपनी सफ़ाई में एक ख़त में लिखा कि उन्होंने ऐसा कुछ भी

नहीं कहा। अहमद नदीम क़ासिमी और परवीन शाकिर के आपसी सम्बन्धों में भी परवर्ती काल में थोड़ी खटास का आ जाना कहा जाता है जिसका कारण मन्सूरा अहमद को बताया जाता है जो अहमद नदीम क़ासिमी की 'तीसरी बेटी' का दरजा पा चुकी थीं और जिनके नाते अहमद नदीम क़ासिमी के परिवार सहित उनके अनेक शिष्य कुछ असहज हो चले थे।

परवीन शाकिर के इस 'घमण्ड' का क्या तात्पर्य है, यह मेरी समझ में एक उदाहरण से समझा जा सकता है। परवीन शाकिर ने नज़ीर सिद्दीक़ी को २ अगस्त १९७८ को लिखे गये पत्र में लिखा है:

> कलीम आजिज़े साहिब से मेरी देहली में सरसरी मुलाक़ात हुई- मुशाइरे[८] में। लेकिन उससे क़ब्ल मैं वह जो शाइरी का सबब हुआ[९] पढ़ने की नाकाम कोशिश कर चुकी थी। वह मेरे वालिद के दोस्तों में क़तई नहीं हैं- बल्कि कलीम साहिब ग़ालिबन उनके दोस्तों के दोस्त या रिश्तेदार हैं। हिन्दोस्तान जाने से क़ब्ल १३० रुपये की डी लक्स क़िताब मेरे पास भिजवायी गयी कि मैं उस पर तब्सिरा करूँ। मैंने क़िताब देखी- कितने तो मिसरे ही वज़्न से गिरे हुए थे।...[१०] का बेतहाशा इस्तेमाल और बे-अन्दाज़ा फ़ारसीयत मुझसे बरदाश्त नहीं हुई। मैंने अब्बा से कह दिया कि मैं नहीं चाहती कि आपके मरासिम आपके दोस्तों से ख़राब हों, इसलिए इस क़िताब पर तब्सिरा करने से मैं क़ासिर हूँ। देहली में मुशाइरे में बजुज़ सलाम दुआ के और क्या हो सकता था। मेरी मसरूफ़ियात मुझे किसी और तरफ़ बहा कर ले गयीं और वह शायद अगले दिन वापस चले गये। यहाँ आयी तो मेरा आपरेशन होना था। मिल नहीं सकी, मुमकिन है उन्होंने बुरा माना हो, मगर मैं क्या करूँ सिद्दीक़ी[११] मैं बहुत बुरी हूँ मगर मुनाफ़िक़ नहीं हूँ। मुझसे फ़िज़ूल शेरों पर 'वाह, वाह' नहीं हो सकती और जब उनसे मिलते तो शेर भी सुनने पड़ते। शेर सुनते तो दाद भी देनी पड़ती। और यह आज़माइश बहुत कड़ी थी।

अब यहाँ कलीम 'आजिज़' साहब के बारे में कुछ जान लेना ज़रूरी होगा। कलीम 'आजिज़' (१९२०-२०१५) बिहार के प्रसिद्ध उर्दू कवियों में से थे। इनकी क्रान्तिकारिता असन्दिग्ध है क्योंकि चर्चित एक्टिविस्ट शर्जील इमाम की थीसिस की शुरुआत में कलीम आजिज़ का यह शेर[१२] दिया हुआ है:

> य. पुकार सारे चमन में थी, व. सहर हुई व. सहर हुई
> मेरे आशियाँ से धुआँ उठा तो मुझे भी इसकी ख़बर हुई।।

साथ ही, सत्ता-केन्द्रों में भी इनका आदर था क्योंकि इनके प्रथम काव्य-संग्रह का ही (जिसकी बात परवीन शाकिर ने की है) लोकार्पण १९७६ में तत्कालीन राष्ट्रपति फ़ख़रुद्दीन अली अहमद ने दिल्ली कि विज्ञान-भवन में किया था। बाद में भी, ये 'पद्मश्री' से सम्मानित हुए और पटना विश्वविद्यालय के उर्दू विभाग के अध्यक्ष पद से रिटायर होने के बाद बिहार सरकार की उर्दू सलाहकार समिति के आजीवन अध्यक्ष रहे।

ज़ाहिर है कि परवीन शाकिर को प्रभावित कर उनसे कुछ अपने ऊपर लिखवा लेने की कलीम आजिज़ साहब ने कई प्रकार से कोशिश की- उन्हें काव्य-संग्रह का डी लक्स संस्करण भिजवाया जिसका दाम १९७६ में भी १३० रुपये था, बिहार में रहने के दौरान उनके पिता से अपनी मैत्री का हवाला दिया और उनकी बेरुख़ी की शिकायत बिहार से पाकिस्तान जाने वाले एक बड़े आलोचक नज़ीर सिद्दीक़ी से की। इन कोशिशों का महत्व तब और भी बढ़ जाता है जब हम याद करें कि कलीम आजिज़ परवीन से बत्तीस वर्ष बड़े थे, खुद परवीन शाकिर का अपना पहला काव्य-संग्रह कलीम आजिज़ के इस काव्य-संग्रह के बाद छपा था, और कलीम आजिज़ साहब के इस काव्य-संग्रह की प्रशंसा फ़िराक़ साहब ने की थी। अब अगर इतने के बावजूद परवीन शाकिर उनकी कविता पर एक लेख लिखने को तैयार नहीं हो पायीं तो परवीन शाकिर के 'नकचढ़ेपन' में किसी को क्या सन्देह हो सकता है?

यह मानना ग़लत होगा कि परवीन शाकिर को सिर्फ़ वे ही लोग पसन्द थे जो उनके सहमत होकर रहें। इस्लामाबाद में रहते हुए उनकी सर्वाधिक घनिष्ठ मित्र परवीन क़ादिर आग़ा, जिनके घर में भी वे एक लम्बे समय तक पारिवारिक सदस्य की तरह रहीं, मज़हब में सुन्नी थीं और राजनीतिक विचार भी उनसे भिन्न रखती थीं, किन्तु सम्बन्धों में कभी कोई टकराव नहीं उपजा। परवीन क़ादिर आग़ा ने लिखा है कि परवीन शाकिर कभी अपने अलावा किसी और को नुक़सान पहुँचा ही नहीं सकती थीं।

१.१.२ वैवाहिक जीवन

१९७५ में परवीन की मँगनी सैयद नसीर अली से हुई थी जो कराची में ही डॉक्टर थे। ये उनके 'ख़ालाज़ाद भाई' बताये जाते हैं जिसका तात्पर्य 'मामी का बेटा' भी हो सकता है और 'मौसी का बेटा' भी; कुछ अन्य सूत्र स्पष्टतः इन्हें परवीन शाकिर का ममेरा भाई ही बताते हैं। मुझे यह नहीं मालूम हो सका कि यह रिश्ता कितना नज़दीकी था किन्तु चूँकि ऐसा कहा जाता है कि परवीन को बचपन में ही उनकी माँ से नसीर की माँ ने माँग लिया था, इसलिए दोनों परिवार एक-दूसरे से सुपरिचित ही रहे होंगे और यह सम्बन्ध अगर बिलकुल सगा न हो तो भी बहुत दूर का न होगा। विवाह १४ अक्टूबर १९७६ को हुआ। इस विवाह में अतिथियों की संख्या सीमित थी क्योंकि शासन की तरफ़ से पारिवारिक आयोजनों में मितव्ययिता के आदेश थे, फिर भी फ़हमीदा रियाज़ समेत कई साहित्यकर्मियों की उपस्थिति की सूचना है। २० नवम्बर १९७९ को वह एक पुत्र की माँ बनीं जिनका नाम सैयद मुराद अली है और जिन्हें परवीन प्यार से 'गीतू' बुलाती थीं। परवीन ने अपनी तीसरी काव्य-पुस्तक खुदकलामी इन्हें ही समर्पित की है और इनके नाम से 'मुराद पब्लिकेशन्स' नाम का एक प्रकाशन भी प्रारम्भ किया था जिससे वे अपनी क़िताबों को छापा करती थीं। ये अब कनाडा में रहते हैं और साफ़्टवेयर इन्जीनियर हैं।

१९८७ में परवीन का तलाक़ हो गया और उसके बाद से अपने बेटे को उन्होंने एक अकेली

माँ के रूप में पाला। इस तलाक़ के लिए परवीन के माता-पिता भी परवीन को ही दोषी ठहराते थे और परवीन के पिता ने शायद उनसे बोल-चाल भी बन्द कर दी थी। हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि 'मायका' और 'ससुराल' इतने अलग भी न थे- परवीन की माँ और परवीन की सास आपस में रक्त-सम्बन्धों से जुड़ी हुई थीं। दोनों परिवारों की इस निकटता को परवीन ने प्रकटतः अपने वैवाहिक जीवन के लिए हितकर ही बताया था। उदाहरण के लिए पाकिस्तान की एक पत्रिका पाकीज़ा[१३] ने परवीन शाकिर का एक साक्षात्कार १९७७ में लिया, अर्थात् यह साक्षात्कार परवीन शाकिर के विवाह के कुछ ही समय बाद का है। इसमें यह आता है :

प्रश्नः जब आपके शौहर को आपके हवाले से पहचाना जाता है तो उनका रद्द+ए+अमल क्या होता है?

उत्तरः नसीर पहले मेरे खालाज़ाद भाई हैं इसलिए उन्हें पहले से सबकुछ पता था इसलिए ऐसी बातें परेशानी का बाइस नहीं बनती हैं। उन्होंने तो 'जहाँ है, जैसी है' की बुनियाद पर टेंडर खुलवाया है।

किन्तु सास-ससुर, जेठ-जिठानी और ननदों वाले पारम्परिक सामान्य-वित्तीय रहन-सहन वाले परिवार में ऊँची पढ़ाई, ऊँची नौकरी, और ऊँची सार्वजनिक प्रतिष्ठा वाली बहू को लेकर कुछ तनाव भी हो ही सकते हैं। परवीन अपनी निजी समस्याओं को सार्वजनिक करने में दिलचस्पी नहीं रखती थीं और यह नहीं लगता कि उनके ससुराल वालों का पक्ष जानने का कोई प्रयास उन पर लिखने वालों में से किसी ने किया हो। फिर भी जितना सामने है उसके आधार पर वास्तविकता के निकट कुछ दूर तक जाया जा सकता है।

अपनी एक परवर्ती कविता में उन्होंने लगभग प्रत्यक्ष रूप से यह स्वीकार किया है कि पति की अपेक्षा पत्नी की प्रसिद्धि अधिक होना समाज-स्वीकृत पारिवारिक संरचना के लिए असमंजस होता है। यह कविता उनके तीसरे काव्य-संग्रह खुदकलामी में संगृहीत है और इसका शीर्षक है 'नेविश्त.', अर्थात् 'लिखा हुआ है' जिसका निहितार्थ है 'यह प्रामाणिक है'। कविता यह है :

नेविश्त.

...तब ज़ैद ने बक़र को गाली देते हुए कहा :
कि इस (बक़र) की माँ इसके बाप से ज़ियादा मशहूर थी
मेरे बच्चे!
तेरे हिस्से में भी यह तीर आयेगा
तुझे भी इस पिदर-बुनियाद दुनिया में, बिल-आख़िर
अपने यूँ मादर-निशाँ होने की इक दिन
बड़ी क़ीमत अदा करनी पड़ेगी

अगरचे
तेरी इन आँखों की रंगत
तेरे माथे की बनावट
और तेरे होंटों के सारे ज़ाविये
उस शख़्स के हैं
जो तेरी तख़लीक़ में साझी है मेरा
फुकहा+ए+शह के नज़दीक जो पहचान है तेरी
मगर जिसके लहू ने तीन मौसिम तक तुझे सींचा है
उस तनहा शजर का
एक अपना भी तो मौसिम है
लहू से फ़स्ल तारे छानने की
सोच से खुशबू बनाने की रुतें
और शेर कहने का अमल
जिनकी अलमदारी तेरे अज्दाद के क़लओं से बाहर जा चुकी है
और जिसे वापस बुला सकना
न सैफ़ो के लिए मुमकिन रहा था
न मीरा के ही बस में था!
सो अब हमजोलियों में गाहे-गाहे तेरी ख़जलत
वाक़िफ़ों के आगे तेरे बाप की मजबूर ख़िफ़्फ़त
इस घराने का मुक़द्दर हो चुकी है
कोई तख़्ती लगी हो सदर दरवाज़े पर लेकिन
हवाला एक ही होगा
तेरे होने न होने का!

अन्तिम पंक्तियों का सन्दर्भ यह है कि अपने बेटे की चौदहवीं वर्षगाँठ पर उन्होंने अपने दरवाज़े पर उसके नाम की नेम-प्लेट 'सैयद मुराद अली' लगा दी थी और कविता का ऊहापोह इस क़दम की सार्थकता को लेकर है। यह स्पष्ट है कि इस कविता में आये 'पिदर-बुनियाद (= पितृ-मूलक)' और 'मादर-निशाँ (= मातृ-परिचयी)' जैसे शब्द इस कविता को आसानी से 'फ़ेमिनिज़्म' की सुपरिभाषित वीथियों में ले जा सकते थे किन्तु हम पाते हैं कि इस कविता की चिन्ताओं में जहाँ परवीन शाकिर ने अपने स्त्री-कवि के समाहार-द्वन्द्व[१४] को उस अलमदारी[१५] में शामिल किया है जिसकी अग्रेसरता उन्होंने प्राचीन यूनान की स्त्री-कवि सैफ़ो और मध्यकालीन भारत की स्त्री-कवि मीराबाई में स्वीकार

की है, वहीं इसके परिणाम-स्वरूप अपने बेटे और अपने पति की सामाजिक असमंजसता को भी शामिल किया है जिसपर अपनी इयत्ता को वर्चस्वशाली रखने का आग्रह उनका नहीं है; इस नियति को शिरोधार्य करने की वेदनामय विवशता ही उनका वक्तव्य है।

परवीन का परिवार उदार नवाचारों के आत्यन्तिक विरोध में न था, परवीन को मदरसे से बाहर की समकालीन उच्च शिक्षा मिली थी, परदे की कोई ऐसी पाबन्दी न थी, और अगर वे मुशाइरों में जाकर मरदों के साथ कविता पढ़ती थीं तो इसको प्रोत्साहन मिला हो या न मिला हो, कुछ ऐसा विरोध भी इसका नहीं हुआ। ससुराल में भी मनमुटाव के बावजूद उन पर ऐसी कोई बन्दिशें नहीं थीं और यद्यपि दोनों परिवार परिपाटीगत धर्माचरण में दृढ़ आस्था रखते थे, जैसा परवीन ने नज़ीर सिद्दीक़ी को लिखे एक पत्र में बताया है, वे विवाह के बाद भी 'रोज़े वोज़े' नहीं रखती थीं।

किन्तु यह सच है कि अपने विवाह के समय तक परवीन एक कवि, रेडियो और टेलीविजन पर कार्यक्रम-संचालक तथा कलाकार और अख़बारी कालम लिखने वाली पत्रकार के रूप में राष्ट्रीय स्तर पर ख्याति प्राप्त थीं और उनकी ससुराल के लोग शायद इन बातों से उदासीन थे। संयुक्त परिवार में रहने का परवीन को कोई अनुभव पहले से न था, वे पढ़ाई और काव्यशास्त्रविनोद में व्यस्त रहती थीं और घरेलू कामों के लिए न उनके पास समय था, न उन्हें कोई दिलचस्पी थी, और न ही उनके ऊपर कोई दबाव था। कहा तो यह जाता है कि उन्हें विवाह के समय तक भोजन बनाना नहीं आता था और वे भोजन बनाने का तरीक़ा अपनी बहन से फ़ोन पर पूछती थीं (जो वे शायद कॉलेज से करती होंगी क्योंकि ससुराल में तो टेलीफ़ोन था नहीं)। बड़ी बहन से रसोई के व्यंजन सीखना किस प्रकार कटुता उत्पन्न कर सकता है यह समझना आसान नहीं है। जो भी हो, कोई एक साल उनका वैवाहिक जीवन कुछ सुखमय बीता जब उनके पति को पाकिस्तानी फ़ौज में काम मिला[१६] और दोनों एबटाबाद में रहे। इस दौरान परवीन ने कई मुशाइरों में भाग लिया और नसीर अली को चाहे उनके साथ पुछल्ले की तरह घूमना बुरा ही लगा हो, उन्होंने कोई बन्दिश भी नहीं लगायी।

नज़ीर सिद्दीक़ी को लिखे एक पत्र में परवीन शाकिर ने बताया है कि उनके रिश्ते अपने पति के साथ तो अच्छे थे किन्तु ससुराल के अन्य लोगों के साथ निभाना उनके लिए सम्भव नहीं हो पाया। इसका कारण उन्होंने यह बताया है कि 'वे मेज़-कुर्सी या आलमारी नहीं थीं, सोचने वाला ज़हन रखते हुए एक लड़की थीं'। अन्ततः वे अपने मायके आ गयीं जहाँ उनके पति प्रायः नित्य ही एक बार आ जाते थे और वीक-एन्ड में रुक भी जाते थे। नसीर अली पाकिस्तान के बाहर कहीं नौकरी करने की कोशिश में थे और परवीन की भी इसमें सहमति थी बशर्ते कि 'मिडिल ईस्ट' न जाना पड़े। पति-पत्नी के बीच यह सहमति बनी थी कि जब तक ऐसा नहीं होता, परवीन मायके में ही रहेंगी। भारतीय सन्दर्भ में यह मानना मुश्किल है कि मायके या ससुराल में कोई भी इस स्थिति से प्रसन्न होगा किन्तु किसी ने परवीन से इतनी असहमति नहीं दिखायी कि परवीन को मायका छोड़ना पड़े। स्वयं परवीन को भी नज़ीर सिद्दीक़ी इस्लामाबाद में कोई नौकरी दिलाने के प्रयास में थे। इस बीच परवीन को प्रशासनिक

सेवा में सफलता मिल गयी।

इसके बाद उनकी पोस्टिंग जब तक कराची में रही और उन्हें स्वतन्त्र रूप से एक सरकारी घर में रहने की सुविधा मिली, विवाह टूटा नहीं, चाहे निबाह कठिन रहा हो। यह माना जा सकता है कि लड़कियों के स्थानीय कॉलेज में अध्यापिका होने और केन्द्रीय सरकार में ऊँचे ओहदे पर अफ़सरी करने के बीच बिहार के एक गाँव से आया हुआ मध्यवित्तीय सैयद घराना जिसकी पारिवारिक सम्पत्तियों में सबसे मूल्यवान उसका वंशवृक्ष है, ज़रूर अध्यापिका होने को ही वरीयता देता होगा और चाहता होगा कि वे अपनी अफ़सरी छोड़ें, ख़ासतौर पर तब जब उसके लिए दूर बसी राजधानी में जाना हो। नसीर अली से यह उम्मीद तो नहीं की जा सकती थी कि वे परिवार के अन्य सदस्यों के प्रति कोई ज़िम्मेदारी न निभायें, ख़ासतौर पर तब जब उनके एबटाबाद-प्रवास के दौरान उनके बड़े भाई सैयद तनवीर अली की मृत्यु एक दुर्घटना में हो चुकी थी।[१७]

इन कारणों के अतिरिक्त कोई और बात सामने नहीं आयी है। जो भी हो, इसका नुक़सान सभी को हुआ क्योंकि यद्यपि इस्लाम में तलाक़ और पुनर्विवाह वर्जित नहीं है, भारतीय मुस्लिम शुरफ़ा में ये दोनों ही सामाजिक अप्रतिष्ठा के सूचक रहे हैं और परवीन ने एक अकेली ज़िन्दगी गुज़ारी है जिसकी टीस उनकी कविताओं में उभरती है।

नसीर अली ने फिर दूसरा विवाह कर लिया जिससे वे एक बेटी के पिता हुए। तलाक़ की शर्तों में यह था कि परवीन अपने बेटे को तभी अपने साथ रख सकेंगी जब वे पुनर्विवाह न करें। पैंतीस साल की उम्र में बेटे के लिए परवीन ने यह कठिन चुनाव भी किया। उन्होंने अपने बेटे को इस्लामाबाद के बेकन हाउस में प्रवेश दिलाया जो पाकिस्तान के सबसे प्रतिष्ठित विद्यालयों में से था; निश्चय ही ऐसी परवरिश उसे अपने पिता के संरक्षण में न मिल सकती। वे उसे न्यूरोसर्जन बनाना चाहती थीं। असमय मृत्यु के नाते वे अपने बेटे की सफलता अपनी आँखों से न देख पायीं किन्तु यह मानना चाहिए कि यदि वे जीवित रहतीं तो उन्हें इस मोरचे पर अपनी सफलता से सन्तोष ही होता।

१.१.३ टिप्पणी

परवीन को लेकर बहुत से अस्पष्ट प्रवाद प्रचलित हैं। संक्षेप में, प्रवादों का सारांश यह है कि कॉलेज में पढ़ते समय वे किसी से प्रेम करती थीं और वह व्यक्ति भी उन्हें चाहता था किन्तु इसी बीच वह व्यक्ति सेन्ट्रल सर्विसेज़ में चयनित हो गया जिसके नाते उसके लिए 'सम्पन्न और पहुँच वाले' ख़ानदानों से रिश्ते आने लगे और परिणामतः उसने परवीन से किनारा कर लिया। इन प्रवादों का ढाँचा उनकी कविताओं में ही मौजूद है जिनमें से कई का आत्मकथात्मक पाठ करना सम्भव है। लगता है कि ऐसे ही आत्मकथात्मक पाठ के भरोसे, और शायद कुछ इधर-उधर से सुनकर भी, नज़ीर सिद्दीक़ी ने सीधे परवीन शाकिर से ही इस बारे में पूछा जिसके जवाब में परवीन शाकिर ने उन्हें २७ फ़रवरी १९७८ को लिखा :

खुशबू के हवाले से जो सवाल आपने उठाया है, मेरा ख़याल है उसका जवाब उसी में मौजूद है। यह सबकुछ कैसे हुआ, दोनों में से कोई न समझ सका, बस यूँ जान लीजिए कि civil service और मुहब्बत में अव्वल-उल-ज़िक्र की जीत हो गयी। ज़िन्दगी के मुतअल्लिक़ जब नज़रिया तब्दील हुआ तो इर्द-गिर्द रहने वाले लोगों के बारे में राय की तब्दीली नागुज़ीर थी और मैंने उसके फ़ैसले के आगे सर झुका दिया क्योंकि उसने मेरी तरबियत इसी तरह की थी।

मुझे इस सिलसिले में कोई और प्रामाणिक सूचना नहीं मिल सकी किन्तु इतना तो कहा ही जा सकता है कि जो भी लड़का परवीन को प्रेम करने का दावा करता था, उसने अफ़सर बनने को प्राथमिकता दी, चाहे उसने यही कहा हो कि मैं इस इम्तिहान में कामयाब होने के बाद ही तुम से शादी करूँगा। यह आश्चर्यजनक है कि अपने पत्र-व्यवहार के लगभग प्रारम्भ में ही नज़ीर सिद्दीक़ी ने ऐसा नितान्त व्यक्तिगत प्रश्न किया और परवीन ने उसका जवाब दिया जब कि नज़ीर सिद्दीक़ी की उम्र इस समय परवीन की उम्र से दुगुनी थी, दोनों ही विवाहित थे, और दोनों के बीच एक आलोचक तथा एक कवि के साहित्यिक सम्बन्ध के अतिरिक्त कोई ऐसी निकटता न थी जो ऐसे प्रश्न उठाने की अनुमति देती। जो भी हो, इस उत्तर से इतना तो साफ़ ही है कि जहाँ तक परवीन की बात है, इस 'मुहब्बत' में कुछ ऐसा न था जो उनके दाम्पत्य को असहज करता।

यह भी कहा जाता है कि वह लड़का सुन्नी परिवार से था जब कि परवीन शाकिर एक शीआ परिवार से थीं और इस नाते परवीन शाकिर के माता-पिता इस प्रस्ताव के विरोध में थे। इसका विलोम भी प्रचलित है, अर्थात् यह कि वह लड़का एक धनी परिवार से था जब कि परवीन एक मध्यवित्तीय परिवार से थीं और इस नाते उसी के परिवार के लोग इस विवाह के विरोध में थे। सच कुछ भी हो जितने की पुष्टि ऊपर दिये गये परवीन शाकिर के उद्धरण से हो सकती है वह इतना ही है कि उस लड़के ने अपनी अफ़सरी को अधिक महत्व दिया, प्रेम को कम। परवीन की कविताओं के आत्मकथात्मक पाठ भी 'प्रेमी की बेवफ़ाई' से अलग हमें नहीं ले जाते। जो भी हो, इस प्रसंग की आँच और राख हमें उनकी कविताओं के बाहर कहीं प्रत्यक्ष देखने को नहीं मिलीं।

इसका अर्थ यह नहीं है कि परवीन को उन लांछनों का सामना नहीं करना पड़ा जिन्हें एक स्त्री की सार्वजनिक उपस्थिति के साथ हमारी पितृसत्तात्मक सामाजिकता स्वतः जोड़ देती है। परवीन शाकिर के समकालीन स्त्री-कवियों में से कई की ज़िन्दगी अजीरन थी; उदाहरण के लिए सिन्धी भाषा की कवि अकरम सुल्ताना के बारे में यह प्रचार किया गया कि वे मुशाइरों में 'अपने लिए मर्द फँसाने' जाती हैं और तंग आकर उन्होंने १९७३ के आस-पास अपना नाम बदलकर सुल्ताना वक़ासी रख लिया। २९ वर्ष की उम्र में आत्महत्या करने वाली सारा शगुफ़्ता पर परवीन शाकिर ने एक कविता भी लिखी है जिसकी कुछ चर्चा आगे की जायगी।

परवीन शाकिर उर्दू साहित्य में बिना किसी छिपाव-दुराव के असफल प्रेम और उद्दाम यौनिकता

की कविताएँ लिखने वाली शायद अकेली स्त्री-कवि हैं और उनके बारे में तिल की नामौजूदगी में भी ताड़ बन जाना अस्वभाविक नहीं है। यह बात भी सच है कि उनकी प्रसिद्धि को लेकर बहुत से लोग उनसे ईर्ष्या करते थे। चूँकि उनकी कविताओं को ख़राब ठहराना आसान नहीं था, उन पर आक्रमण का एक ही तरीक़ा बचता था कि उनके 'भली औरत' के मानदण्डों पर खरा न उतरने के दबे-छिपे इशारे हवा में तैराते रहे जायें। इस तरीक़े का भरपूर इस्तेमाल हुआ लगता है। परवीन ने नज़ीर सिद्दीक़ी को एक पत्र में लिखा है कि उनको कराची के साहित्यकारों से मिलना-जुलना बहुत पसन्द न था क्योंकि वे सब 'सख़्त स्कैन्डलबाज़' थे। रूपलोभी पुरुषों के बीच रहने से उपजे असुरक्षा-भाव के संकेत भी उनकी कविताओं में मिलते हैं। किन्तु इसका कोई सीधा असर उनके जीवन पर पड़ा हो इसके प्रमाण सामने नहीं आये हैं और मेरी समझ में तो इतना ही आता है कि यह तलाक़ संयुक्त परिवार में परवीन की असहजता के नाते हुआ जिसमें ऊँट की पीठ तोड़ने वाला तिनका उनकी इस्लामाबाद पोस्टिंग थी।

कभी-कभी शायद अनजाने में ही, उनके प्रशंसकों में भी परवीन का साहित्येतर आकर्षण छलक जाता है। उदाहरण के लिए नज़ीर सिद्दीक़ी ने उपरि-वर्णित पत्रसंग्रह की भूमिका में लिखा है: परवीन शाकिर अपने जमाल+ओ+कमाल (= सौन्दर्य और पूर्णता) की बिना पर ... उभरीं...। हो सकता है कि उनका आशय परवीन शाकिर की कला के सौन्दर्य से रहा हो किन्तु वे निश्चय ही किसी पुरुष कवि के बारे में ऐसा न लिखते। परवीन शाकिर ने नोशी गीलानी की किसी काव्य-पुस्तक के लोकार्पण के समय कहा था कि यदि कोई स्त्री-कवि अच्छी रचना-कार होने के साथ सुन्दर भी हो तो उसकी कठिनाइयाँ बढ़ जाती हैं। यह बात उनके अपने बारे में भी सच है। अपने कई साक्षात्कारों में उन्होंने इस समस्या का उल्लेख किया है जिसमें से एक का उद्धरण मैं देता हूँ।

परवीन शाकिर के पाकीज़ा वाले जिस साक्षात्कार की चर्चा पहले आ चुकी है, उसमें यह आता है:

> **प्रश्नः** क्या कभी ऐसा भी हुआ कि किसी महफ़िल में खूबसूरत मर्द को आपकी तरफ़ तवज्जुह[१८] देख कर गुस्सा आ गया हो?
>
> **उत्तरः** फ़ितरी (= स्वभाविक) बात है, गुस्सा आ जाता है, लेकिन क्या करूँ, लड़की भी हूँ, शेर भी कहती हूँ, और बदसूरत भी नहीं हूँ। इसलिए अब तो आदी हो गयी हूँ।

१.१.४ मृत्यु

जैसा ऊपर बताया गया है, फ़रवरी १९८९ में दिल्ली में आयोजित 'विश्व उर्दू सम्मेलन' में भाग लेने परवीन शाकिर भारत आयी थीं। यहाँ उन्होंने एक ज्योतिषी को अपना हाथ दिखाया जिन्होंने देखते ही कहा, 'बहुत छोटी उम्र लिखवा कर आयी हैं आप' और फिर बोले, 'चार क़िताबें हैं, पाँचवी नहीं दिखायी देती'। इसी ज्योतिषी ने यह भी बताया कि उनके साथ एक कार-दुर्घटना होगी जिसमें ड्राइवर

मारा जायेगा। परवीन ने अपने बचने के बारे में पूछा तो ज्योतिषी ने कहा, 'एक टाँग से महरूम हो जायेंगी।' ये सारी बातें लगभग सच हो गयीं जब इस्लामाबाद में २६ दिसम्बर १९९४ को अपनी सरकारी सुज़ुकी वैन से दफ़्तर जाते हुए उनकी गाड़ी एक बस से टकरा कर दुर्घटनाग्रस्त हुई; ड्राइवर की मृत्यु घटनास्थल पर ही हो गयी और परवीन शाकिर के भी प्राण अस्पताल में पहुँचने के कुछ ही समय के बाद निकल गये। कहा जाता है कि उस समय बिजली की कटौती के नाते ट्रैफ़िक लाइट्स काम नहीं कर रही थीं। परवीन शाकिर की उम्र उस समय बयालीस वर्ष तैंतीस दिन थी और उनके जीवन में उनकी कुल चार क़िताबें छपीं- ख़ुशबू (१९७७), सदबर्ग (१९८०), ख़ुदकलामी (१९८५) और इनकार (१९९०); पाँचवी क़िताब माह+ए+तमाम (१९९४) इन्हीं चार क़िताबों का एकत्र प्रकाशन है और छठी क़िताब कफ़+ए+आइन (१९९६) उनकी मृत्यु के बाद छपी है। २६ दिसम्बर १९९४ को भी सोमवार ही था और ठण्ड तथा बरसात का माहौल था जैसा कि उनके जन्म के समय सोमवार २४ नवम्बर १९५२ को था।

रविवार २५ दिसम्बर को उन्हें अपनी मित्र रफ़ाक़त जावेद के घर दोपहर का भोजन करने जाना था। वे नहीं पहुँच पायी थीं किन्तु रात को अचानक पहुँचीं और आइसक्रीम के लिए बाहर चलने को कहा जिससे बेहद सर्दी होने के नाते रफ़ाक़त ने मना कर दिया। फिर उन्होंने 'ज़िन्दगी का क्या भरोसा रफ़ाक़त' कहते हुए रफ़ाक़त को कुछ ज़ेवर वापस किये जो उन्होंने उनसे कभी लिये थे। रफ़ाक़त जावेद ने इन बातों का बयान ऐसे किया है जैसे परवीन को अपनी मृत्यु का पूर्वाभास हो चुका था। प्रायः किसी की मृत्यु के बाद हम कई बातों का स्मरण उस मृत्यु की परछाईं में करते हैं। कुछ और लोग भी ऐसे जोड़ बिठाते हैं। उदाहरण के लिए यह भी कहा जाता है कि इस भविष्यवाणी को ग़लत साबित करने के लिए ही परवीन ने अपनी प्रकाशित चार पुस्तकों का एकत्र प्रकाशन करके उन्हें माह+ए+तमाम नाम से एक पाँचवीं पुस्तक का रूप दिया। इस नाम के चुनाव की भी एक कहानी बतायी जाती है। कहते हैं कि अहमद फ़राज़ अपनी कविताओं का एक बड़ा संग्रह निकालना चाहते थे और इस संग्रह के लिए परवीन शाकिर ने माह+ए+तमाम नाम सुझाया। इस नाम का तर्क अहमद फ़राज़ का यह शेर थाः

उसने सुकूत+ए+शब में भी, अपना पयाम रख दिया
हिज्र की रात बाम पर माह+ए+तमाम रख दिया।।

किन्तु इस नाम से गूँजने वाली अमंगल-ध्वनि के नाते अहमद फ़राज़ ख़फ़ा हो गये और बोले कि 'अभी मेरा फ़न्नी सफ़र तमाम नहीं हुआ है (= अभी मेरी कला-यात्रा समाप्त नहीं हुई)' जिसके बाद उनके काव्य-संग्रह के लिए यह नाम अस्वीकृत हो गया। बाद में जब परवीन शाकिर ने उनसे यह नाम अपने काव्य-संग्रह के लिए माँगा तो अहमद फ़राज़ फिर बहुत ख़फ़ा हुए और कहाः

> भला तुम्हारी उम्र या फ़न्नी सफ़र की इस लफ़्ज़ के मफ़हूम से क्या मुनासिबत है? तुम तो अभी शेरी सफ़र की पुरबहार महकती सुबह की मानिन्द हो जिसने अभी बहुत से अनमोल गुन्चे खिलाने हैं। तुम तो अभी अधखिली कली की मानिन्द हो जिसने

वक़्त गुज़रने के साथ फूल बनकर खिलना है और उर्दू अदब के दामन को ताबदार करना है।[१६]

यह इत्तिफ़ाक़ ही है कि अहमद फ़राज़ की मृत्यु के बाद पाकिस्तान के डायरेक्टरेट ऑफ़ फ़िल्म पब्लिकेशन्स ने उन पर जो पुस्तक २००६ में छापी है, उसका शीर्षक भी माह+ए+तमाम ही है।

इसी प्रकार एक और संयोग की चर्चा होती है। उनकी मृत्यु के दूसरे दिन दैनिक जंग के लिए उनके नियमित लिखे जाने वाले कालम की (आख़िरी) क़िश्त छपी जिसमें एक दिलचस्प घटना का उल्लेख था : एक मुशाइरे से आधी रात को घर लौटते हुए इफ़्तिख़ार आरिफ़ और अज़हर अब्बास हाशिमी को रास्ते में पुलिस ने पकड़ लिया। परवीन शाकिर ने इसके बाद की बातचीत का ज़िक्र अपने कालम में यों किया है:

'इतनी रात गये आप दोनों कहाँ जा रहे हैं?'

'घर जा रहे हैं।'

'यह घर जाने का कौन सा वक़्त है?'

'शाम होती है तो घर जाने को जी चाहता है', इफ़्तिख़ार आरिफ़ ने अपने शेर की मार देनी चाही।[२०] ... और जब अच्छी तरह से इतमीनान हो गया कि ये दोनों दहशतगर्द नहीं दहशतज़दा हैं तो जाँबख़्शी की।

यह कालम कुछ-कुछ हास्य-व्यंग्य की ध्वनि लिए हुए है किन्तु इसका पहला वाक्य 'मौत बरहक़ है लेकिन...' से प्रारम्भ होता है और इस कालम के पहले शब्द 'मौत' से उनकी मृत्यु का सांयोगिक सम्बन्ध जोड़ा गया है।

परवीन शाकिर को इस्लामाबाद के एच-८ क़ब्रिस्तान में दफ़नाया गया है। इसी क़ब्रिस्तान में जोश मलीहाबादी और अहमद फ़राज़ की भी क़ब्रें हैं। परवीन शाकिर की क़ब्र की तस्वीर इन्टरनेट पर है। प्रतीत होता है कि यह सफ़ेद संगमरमर की बनी है और उनके सिरहाने की तख़्ती का जो सिरा क़ब्र के बाहर की ओर है, उसपर उनका नाम रोमन लिपि में PERVEEN SHAKIR और उसके नीचे 24th NOV 1952-25th DEC 1994 लिखा हुआ है जिसके नीचे उर्दू लिपि में उनके ये शेर खुदे हुए हैं :

मर भी जाऊँ तो कहाँ लोग भुला ही देंगे
लफ़्ज़ मेरे मेरे होने की गवाही देंगे।।
अक्स+ए+खुशबू हूँ, बिखरने से न. रोके कोई
औ (र) बिखर जाऊँ तो मुझको न. समेटे कोई।।
बख़्त से कोई शिकायत है न. अफ़लाक से है

यही क्या कम है कि निस्बत मुझे इस ख़ाक से है।।
बज़्म+ए+अन्जुम में क़बा ख़ाक की पहनी मैंने
औ (र) मेरी सारी फ़ज़ीलत इसी पोशाक से है।।
रक्खा है हमको आँधियों ने ही कशीद.-सर
हम वह चिराग़ हैं जिन्हें निस्बत हवा से है।।

तथा इनके नीचे फिर रोमन लिपि में PLOT NO 57-GRAVE NO 44 अंकित है। तख़्ती का जो सिरा क़ब्र की ओर है, उसपर उर्दू लिपि में सब कुछ अंकित है। पहली दो पंक्तियाँ मैं नहीं पढ़ सका किन्तु उनके नीचे 'परवीन शाकिर', फिर उस के नीचे 'बिन्त सैयद शाकिर हुसैन' ('बिन्त' का मतलब है 'बेटी') लिखा है जिसके नीचे दो पंक्तियों में उनके जन्म और मृत्यु की तिथियाँ अंकित हैं। इसके नीचे परवीन शाकिर के ये दो शेर खुदे हैं:

या रब मेरे सुकूत को नग्मासराई दे
जख़्म+ए+हुनर को हौसला+ए+लबकुशाई दे।।
शह+ए+सुख़न से रूह को वह आशनाई दे
आँखें भी बन्द रक्खूँ तो रस्ता सुझाई दे।।

अगर इसके भी नीचे कुछ है तो तस्वीर में वह फूलों से ढँका हुआ है।

उनके अन्तिम संस्कार के समय उनके बेटे सैयद मुराद अली के अतिरिक्त शायद परिवार का कोई अन्य सदस्य नहीं उपस्थित हो सका था। वैसे, इस्लामाबाद के कई गण्यमान्य उपस्थित थे। किश्वर नाहीद और शबनम शकील द्वारा उनके पार्थिव शरीर पर विलाप का उल्लेख मिलता है और यह माना जा सकता है कि इस्लामाबाद में उस समय जो भी साहित्यकर्मी रहे होंगे उनकी मौजूदगी अस्पताल से लेकर शोकसभा तक रही होगी। निजता के स्तर पर शायद सबसे महत्वपूर्ण नाम परवीन क़ादिर आग़ा का है जो परवीन शाकिर की सहकर्मी और मित्र थीं तथा उनके पास अस्पताल में सबसे पहले पहुँची थीं। परवीन शाकिर ने अपनी आख़िरी क़िताब इनकार इन्हें ही समर्पित की थी। इन्होंने 'परवीन शाकिर ट्रस्ट' बनाया है जिसकी वे अध्यक्ष हैं और इस ट्रस्ट के माध्यम से इन्होंने परवीन शाकिर की स्मृति में अनेक आयोजन करने, छात्रवृत्तियाँ देने और पुरस्कार बाँटने तथा पुस्तकें छपाने के अतिरिक्त सैयद मुराद अली की पढ़ाई का भी ज़िम्मा उठाया जो उस समय १६ वर्ष के ही थे। परवीन क़ादिर आग़ा उनकी क़ानूनी तौर पर अभिभावक भी थीं और उनके पति आग़ा अफ़ज़ल हुसैन का भरपूर सहयोग उन्हें इन सब कामों में मिला। रिटायरमेन्ट के बाद से ये कई सार्वजनिक महत्वपूर्ण पदों पर रहती आयी हैं और सिन्ध विश्वविद्यालय की कुलपति भी रहीं।

उस समय उपस्थित लोगों में दो और नाम हैं जो सार्वजनिक क्षेत्र में जाने-पहचाने हैं। इनका उल्लेख शाहनवाज़ खर[२१] ने २०१४ में लिखे एक लेख में किया है। पहला नाम चौधरी एतिज़ाज़ अहसन

का है जो तत्कालीन बेनज़ीर भुट्टो की सरकार में मन्त्री थे। बाद में ये नवाज़ शरीफ़ की सरकार में पाकिस्तान सिनेट में विपक्ष के नेता थे और अकेले वकील हैं जिन्होंने पाकिस्तान के तीन प्रधान मन्त्रियों- बेनज़ीर भुट्टो, नवाज़ शरीफ़, और यूसुफ़ रज़ा गीलानी- की ओर से समय-समय पर मुक़दमा लड़ा है। दूसरा नाम सरताज अज़ीज़ का है जो नवाज़ शरीफ़ के विदेश-सलाहकार रहे हैं। परवीन की मृत्यु का समाचार तत्काल फैल गया और भारत तथा पाकिस्तान से गोपी चन्द नारंग, कुर्रतुल ऐन हैदर, अली सरदार ज़ाफ़री, अहमद नदीम क़ासिमी, अहमद फ़राज़, नूर जहाँ आदि अनेक कला-कर्मियों ने सार्वजनिक रूप से शोक व्यक्त किया। अली सरदार ज़ाफ़री ने एक लम्बी कविता परवीन शाकिर की मृत्यु पर लिखी है (जिसमें भूल से परवीन की कुल उम्र अड़तीस साल लिखी गयी है)।

पाकिस्तान में परवीन शाकिर की मृत्यु पर एक दिन का राष्ट्रीय शोक घोषित किया गया था।[२२] जिस सड़क पर उनकी कार दुर्घटनाग्रस्त हुई वह सड़क उनके नाम पर 'परवीन शाकिर रोड' कहलाती है।[२३] २०१३ में उनपर एक डाक-टिकट पाकिस्तान में जारी किया गया है। प्रतिवर्ष परवीन शाकिर ट्रस्ट, कस्टम्स डिपार्टमेन्ट और अन्य कई संगठन परवीन शाकिर की जन्मतिथि और मृत्यु-तिथि पर आयोजन करते हैं। २०१६ में उनके जन्मदिन पर गूगल ने भी अपना डूडल उन पर बनाया था।

परवीन शाकिर की कविताओं का Dr. Shabrina Lei द्वारा किया गया एक अनुवाद इटालियन में Soliloquio नाम से २०१२ में परवीन शाकिर ट्रस्ट द्वारा छापा गया। फ्रेन्च समेत अनेक अन्य भाषाओं में किये गये कुछ अनुवादों की भी सूचना मिलती है। अंगरेज़ी में चौधरी मुहम्मद नईम ने परवीन शाकिर पर एक लेख में कुछ कविताओं के अनुवाद छापे थे; फुटकर अनुवाद और भी कई लोगों ने किये हैं। पुस्तकाकार छपे अंगरेज़ी अनुवादों में मुझे चार की जानकारी हैः पहली पुस्तक है बेदार बख़्त का अनुवाद Talking to Oneself. Translation of Selected poems of Perveen Shakir. Translated by Baidar Bakht, Leslie Lavigne with extensive collaboration by Perveen Shakir; Islamabad, Lafz Log Publishers 1995, दूसरी पुस्तक है Sessions of Sweet Silent Thought by Mahamudul Hasani, Mirza A B Beg, Mirza Nihal Ahmed Beg, Arshia Publications, Delhi 2012, तीसरी पुस्तक है रेहान क़य्यूम की After Perveen Shakir जो २०१५ में छपी है, और चौथी पुस्तक है, नईमा रशीद द्वारा किया गया कुछ कविताओं का अनुवाद जो Defiance of The Rose नाम से पाकिस्तान के आक्सफ़ोर्ड प्रेस से २०१६ में छपी है।

परवीन शाकिर ने स्वयं भी कुछ अनुवाद किये हैं। अहमद नदीम क़ासिमी की कुछ कविताओं का अंगरेज़ी में उन्होंने अनुवाद किया था जो पुस्तकाकार छपा था। इसके अतिरिक्त एक भारतीय लड़की गीतांजलि की अंगरेज़ी में लिखी कुछ कविताओं का अनुवाद उन्होंने उर्दू में किया था जो उनकी मृत्यु के बाद १९९५ में छपा। ये कविताएँ उस लड़की ने किशोरावस्था में ही कैन्सर से जूझते हुए मृत्युशय्या पर लिखी थीं।

१.२ परवीन शाकिर की कविता का नेपथ्य

फ़ारसी-उर्दू कविता में कवि के स्व-यूथ्य 'अनल हक़' की प्रसिद्धि वाले मन्सूर हल्लाज हैं, इस्लाम का सार-तत्त्व कुफ़्र में ढूँढा जाता है, मुल्ला और मस्जिद का उपहास किया जाता है, ग़ैर-इस्लामी पूजा स्थलों और पूजा प्रतीकों की प्रशंसा की जाती है तथा शराब को केन्द्रीय प्रतिष्ठा दी गयी है। इन काव्य-रूढ़ियों का आत्म-कथात्मक पाठ करने वाले प्रायः फ़ारसी-उर्दू के प्रत्येक कवि के निजी विश्वासों को भी इस्लाम की परिपाटी के बाहर सर्व-पन्थ-समभाव और वैश्विक समरसता का पोषक मानते हैं यद्यपि सभी कवियों के बारे में निरपवाद रूप से यह बात नहीं कही जा सकती। यहाँ इस बहस में पड़ना ज़रूरी नहीं है और वैसे भी परवीन शाकिर की कविताओं में इन काव्य-रूढ़ियों का यथावत परिपालन नहीं हुआ है। कुछ अन्य साक्ष्यों के आधार पर उनके बारे में कुछ कहा जा सकता है।

१.२.१ देश के बाहर भी देस

अली सरदार जाफ़री ने अपने एक लेख नयी खुशबू[२४] में नवोदित कवि परवीन शाकिर का स्वागत करते हुए लिखा है कि वे १९७७ की अपनी पाकिस्तान यात्रा के दिनों में लाहौर में पाकिस्तान के प्रसिद्ध चित्रकार सादिक़ैन[२५] के स्टूडियो में फ़ैज़ अहमद फ़ैज़ के साथ बैठे थे जहाँ उनकी नज़र एक काव्य-संग्रह पर पड़ी जिसका मुखपृष्ठ सादिक़ैन ने तैयार किया था और जिसके कवि का नाम परवीन शाकिर था। कोई साढ़े तीन सौ पृष्ठ की इस पुस्तक को उठाकर फ़ैज़ साहब ने मुस्कराते हुए कहा कि इतनी कविताएँ तो मैंने जीवनभर में नहीं लिखीं। इस कटाक्ष[२६] पर सादिक़ैन ने कवि का पक्ष लेते हुए कहा कि परवीन अधिक कविताएँ लिखती हैं किन्तु अच्छा लिखती हैं। इस क़िताब का नाम खुशबू था और तब तक इसका लोकार्पण (जिसे पाकिस्तान में 'रू-नुमाई', अर्थात् 'मुँह पर से परदा हटाना' कहते हैं) नहीं हुआ था।

कुछ दिन बाद दिसम्बर १९७७ में लाहौर से कराची जाते हुए अली सरदार जाफ़री के साथ हवाई जहाज़ में अहमद नदीम क़ासिमी भी थे जो खुशबू के लोकार्पण के लिए ही जा रहे थे। कराची में यद्यपि सम्भवतः लोकार्पण के अवसर पर अली सरदार जाफ़री उपस्थित नहीं थे, वहाँ उनकी भेंट परवीन शाकिर से तीन बार हुई जिनमें से दो बार उन्होंने उनकी कविता भी सुनी- दूसरी बार तब जब सर सैयद कॉलेज (जहाँ की परवीन शाकिर छात्रा रह चुकी थीं) में अली सरदार जाफ़री के स्वागत के लिए आयोजित कार्यक्रम में परवीन शाकिर ने साग्रह लता मंगेशकर पर लिखी अपनी नज़्म यह कहकर सुनायी कि मैं इसे जाफ़री साहब की मौजूदगी में सुनाना चाहती हूँ। परवीन शाकिर की इस नज़्म का शीर्षक 'मुश्तरका दुश्मन की बेटी' है और इसमें वर्णित घटना यह है कि परवीन शाकिर अपनी कुछ सहकर्मियों के साथ एक चीनी रेस्तराँ में बैठी हुई थीं जहाँ उनकी सहकर्मी अध्यापिकाएँ भारत की बुराई कर रही थीं जिसमें रेस्तराँ के मालिक की पत्नी की भी भागीदारी थी (क्योंकि भारत दोनों देशों का 'मुश्तरका (= साझा) दुश्मन' है), तभी लता मंगेशकर की आवाज़ रेडियो पर सुनायी दी और

उसके सम्मोहन में सब चुप हो गयीं। परवीन शाकिर ने फिर अपनी नवप्रकाशित पुस्तक की एक प्रति अली सरदार जाफ़री को यह कहकर दी कि आप वापस जाकर मुश्तरका दुश्मन की बेटी को यह क़िताब दे दीजियेगा (इसके पहले वे अली सरदार जाफ़री के लिए एक प्रति उनसे पहली ही भेंट में दे चुकी थीं)। इससे हम यह तो मान ही सकते हैं कि परवीन शाकिर कला-कर्म को सार्वदेशिक मानती थीं।

इससे यह भ्रम नहीं होना चाहिए कि उनके 'देशप्रेम' में कोई क़सर थी। कवि के रूप में उनकी सार्वजनिक उपस्थिति का विधिवत् प्रारम्भ जिस कविता से हुआ था वह 'देशभक्ति' की ही कविता थी जिसे उनकी शिक्षिका इरफ़ाना अज़ीज़ ने उनसे पाकिस्तान के 'यौम+ए++दिफ़ाअ (= रक्षा-दिवस)'[२७] पर लिखवाया था; इस कविता को एक स्थानीय प्रतियोगिता में प्रथम पुरस्कार प्राप्त हुआ। इस कविता का शीर्षक था सुबह+ए+वतन और इसकी कुछ प्रारम्भिक पंक्तियाँ ये हैं:

दफ़अतन् नूर हुआ, आगे बढ़ा इक जिबरील
दिल में रौशन किये आज़ादी की नूरी इन्जील
अज़्म की आग थी, ईमाँ की हरारत दिल में
जुल्मतें पिघलीं, तरशने लगी इक सुबह+ए+जमील

यह कहा जा सकता है कि सोलह बरस की उम्र में लिखी गयी पहली कविता जो एक छात्र-प्रतियोगिता के लिए लिखी गयी थी और जिसे कवि ने अपने किसी संकलन में शामिल नहीं किया है, के आधार पर कुछ कहना ठीक नहीं है किन्तु हम देखते हैं कि परवीन ने चहार-सू में प्रकाशित अपने इन्टरव्यू में भी इसका उल्लेख किया है अतः यह तो माना ही जा सकता है कि उनमें इस कविता को अपना बताने में कोई हिचक नहीं थी। यद्यपि परवीन अपनी संग्रहीत कविताओं में अपनी नागरिक वफ़ादारियाँ साबित करने को उत्सुक नहीं रही हैं, कभी-कभार उनकी राष्ट्रीय प्रतिबद्धता की झलक परवर्ती कविताओं में भी दिख जाती है। उदाहरण के लिए :

तुहमत लगा के माँ प. जो दुश्मन से दाद ले
ऐसे सुख़नफ़रोश को मर जाना चाहिए।।

।। सुख़नफ़रोश = काव्य-विक्रेता ।।

स्पष्टतः फ़हमीदा रियाज़ की ओर संकेत है जो ज़िया उल हक़ के शासन-काल में जान बचाकर भारत भाग आयी थीं और जिनके बारे में हबीब जालिब समेत अनेक पाकिस्तानी कवियों का यह विचार था कि उन्हें पाकिस्तान में रहकर ही ज़िया उल हक़ का सामना करना चाहिए था।[२८]

१.२.२ आस्तिकता का मेरुदण्ड

परवीन शाकिर ने नज़ीर सिद्दीक़ी को लिखे एक पत्र में कहा है कि 'क़िताबों ने कभी धोखा नहीं दिया, कोई बुत नहीं तोड़े'। इस वाक्य के निहितार्थ स्पष्ट है। उनके दूसरे संग्रह सदबर्ग में एक

कविता है जो बेटी को विवाह के बाद ससुराल विदा करते हुए माँ-बाप की तरफ़ से लिखी गयी है। इसकी समापन-पंक्तियाँ हैं:

हम सब उसको याद करेंगे
और अपने अश्कों के सच्चे मोतियों से
सारी उम्र
एक ऐसा सूद उतारते जायेंगे
जिसका अस्ल भी हम पर क़र्ज़ नहीं था।

इस कविता का शीर्षक 'जिज़्या', अर्थात् मुस्लिम शासकों द्वारा शासित जनता के ग़ैर-मुस्लिमों से नियमित रूप से वसूला जाने वाला अर्थ-दण्ड है। इन दो उदाहरणों से इतना तो स्पष्ट है कि परवीन के मन में इस्लाम के सैनिक और साम्राज्यवादी इतिहास पर कोई गर्व-भाव नहीं था। यह छोटी बात नहीं है अगर हम इसकी बग़ल में हाली और इक़बाल जैसे कवियों को रखें जिनके लिए इस्लाम का कुल महत्व ही यही था कि वह विजेताओं का धर्म है।

परवीन के व्यक्तिगत धर्माचरण के विषय में यह कहा जाता है कि छात्रावस्था में वे बुर्क़ा पहनकर कॉलेज़ जाती थीं किन्तु उनकी सार्वजनिक उपस्थितियाँ इस कथन के विपरीत जाती हैं। उनके विवाह के बाद की पति के साथ खिंचवायी तस्वीर नेट पर मौजूद है जिसमें परदे के नाम पर साड़ी से सिर भी ढका हुआ नहीं है। बाद में उन्होंने आधुनिक वेषभूषा भी अपना ली थी और बाल कटवा लिये थे। वे परिवार-नियोजन की भी समर्थक थीं। यह ऊपर बताया जा चुका है कि वे रोज़ा वग़ैरह नहीं रखती थीं। वे यह स्पष्ट रूप से स्वीकार करती थीं कि संसार में एक से अधिक धर्म हैं और किसी को दूसरे के धर्म का तिरस्कार नहीं करना चाहिए। किन्तु इन सब से यह निष्कर्ष निकालना असंगत है कि उनका मन इस्लाम से उचट गया था भले ही उनकी इस्लाम की समझ बहुत से दूसरे लोगों से अलग रही हो। गुलज़ार जावेद को दिये गये एक साक्षात्कार[२६] में उन्होंने कहा है कि परदे के बारे में उनका विचार वही है जो उनके मज़हब का है, अर्थात् 'परदा आँख का होता है'। इसी साक्षात्कार में गुलज़ार जावेद का प्रश्न था कि पश्चिमी पद्धति के शिक्षा-संस्थानों से शिक्षित लोगों का मज़हब के प्रति कैसा विचार हो जाता है और परवीन शाकिर ने जवाब दिया है:

> दो तरह के रद्द+ए+अमल होते हैं- या आप अपने मज़हब से बहुत दूर हो जाते हैं या इतने क़रीब कि दूसरों के मज़ाहिब बुरे लगने लगते हैं। खुदा का शुक्र है कि मैं ऐसी किसी इन्तिहा तक नहीं पहुँची।

मेरी समझ में यह 'मध्यम मार्ग' ही परवीन शाकिर की वैचारिकता को सभी क्षेत्रों में परिभाषित करता है।

बाह्याचरण को छोड़ दिया जाय तो परवीन शाकिर धार्मिकता से उतनी ही और उसी हद तक

ओतप्रोत थीं जितना कोई आस्थावान् भारतीय शीआ होता है। उन्हें अपने सैयद होने, अर्थात् हज़रत मुहम्मद की वंश-परम्परा से होने का भी सहज अभिमान था :

हमें बहुत है य. सादात+ए+इश्क़ की निस्बत
कि. यह क़बील. कोई ऐसा कम-नसब भी नहीं।।

-खुदकलामी में पृ. १०३ पर 'चराग़ माँगते रहने का कुछ सबब भी नहीं।' से शुरू होती ग़ज़ल।

।।सादात+ए+इश्क = इमाम हुसैन के परिवार के लोग, जो 'इश्क़' (अर्थात् इस्लाम) के 'सादात' अर्थात् नेता हैं (श्लेष से 'सादात' का अर्थ 'सैयद लोग' भी है); निस्बत = सम्बन्ध : कम-नसब = निम्न-वंशीय।

शीआ अक़ीदे की नींव में कर्बला के मैदान में हुई इमाम हुसैन की शहादत है और इस पृष्ठभूमि की जानकारी के बिना न तो परवीन शाकिर को एक व्यक्ति के रूप में समझा जा सकता है और न ही उनकी कविताओं में पीड़ा की अभिव्यक्ति के सूक्ष्म संकेत समझे जा सकते हैं। इसलिए उसका एक अति संक्षिप्त विवरण सामने रखकर ही आगे बढ़ना ठीक होगा।

हज़रत मुहम्मद की बेटी हज़रत फ़ातिमा से ही उनका वंश चला है। इनका विवाह हज़रत अली से हुआ था जो हज़रत मुहम्मद के चचेरे भाई थे। शीआ अक़ीदा हज़रत अली को ही हज़रत मुहम्मद का वास्तविक उत्तराधिकारी मानता है किन्तु ऐतिहासिक घटनाक्रम इसके विपरीत गया और पहले ख़लीफ़ा हज़रत अबू बक्र हुए तथा हज़रत अली को अन्ततः चौथे ख़लीफ़ा के रूप में सत्ता मिली। शीआ 'ख़लीफ़ा' की जगह 'इमाम' शब्द का इस्तेमाल करते हैं और हज़रत अली को पहला इमाम मानते हैं। उनके देहावसान के बाद दूसरे इमाम उनके बड़े बेटे हज़रत हसन हैं जिनके बाद हज़रत अली के छोटे बेटे हज़रत हुसैन तीसरे इमाम हैं किन्तु राजनीतिक सत्ता यज़ीद के पास थी जिसने इराक़ स्थित कर्बला नामक स्थान पर उनके परिवार और अनुयायियों को घेर कर मार डाला। यह लड़ाई इस्लामी तिथिपत्र के पहले महीने 'मुहर्रम' के शुरुआती दस दिनों में हुई थी जिसमें होने वाले सामूहिक मातम से प्रत्येक भारतीय परिचित है।

किन्तु भारतीय शीआ समाज में प्रतिवर्ष दो महीने आठ दिन का मातम होता है, अर्थात् मुहर्रम और सफ़र के दो महीनों के बाद आठवीं रबी-उल-अव्वल तक जिस दिन ग्यारहवें इमाम की शहादत हुई थी। इस बीच भारतीय शीआ कोई भी पारिवारिक या सामाजिक मांगलिक आयोजन नहीं करते, और स्त्रियाँ चूड़ियाँ नहीं पहनतीं। इस समाज के लिए अपने तिथिपत्र में नवीं रबी-उल-अव्वल ही पहला दिन होता है जब वे खुशी मनाते हैं क्योंकि इसी दिन से बारहवें इमाम[३०] की इमामत प्रारम्भ होती है। मातम की इस दीर्घकालीन अवधि में कर्बला की लड़ाई और उसके बाद की हृदयविदारक कथा से सम्बद्ध प्रत्येक घटना पर शोक व्यक्त किया जाता है। सार्वजनिक शोक-सभाएँ होती हैं जो 'मजलिस' के नाम से जानी जाती हैं और इनमें इन्हीं घटनाओं पर आधारित प्रवचनों के अतिरिक्त मर्सिया, नौहा,

सोज़ आदि शोक-काव्य पढ़े जाते हैं; इन काव्यविधाओं में इन्हीं घटनाओं का मार्मिक वर्णन होता है। घरों में स्त्रियों के लिए अलग से भी मजलिस होती है जिसमें प्रवचन करने वाली स्त्रियों को 'ज़ाकिरा' कहते हैं। स्त्रियाँ इस शोक पर आधारित लोकगीत भी गाती हैं। यह सब कितना केन्द्रीय है इसे इसी से समझा जा सकता है कि अनेक शीआ परिवारों में विवाह जैसे अवसरों पर भी मर्सिये पढ़े जाते हैं। माना यह जाता है कि इन मातमों में बहाया गया हर आँसू इहलोक और परलोक में कल्याणकारी होता है।

परवीन शाकिर ने होश सँभालने के साथ ही इन मजलिसों में अपनी मौजूदगी पायी और ज़ाकिराओं को सुनने तथा उनकी नक़ल करने से भाषिक व्यवहार प्रारम्भ किया; इन ज़ाकिराओं में तत्कालीन कराची की ख्याति प्राप्त ज़ाकिरा बतूल तुराबी का नाम विशेष रूप से लिया जाता है। 'अनीस' और 'दबीर' के मर्सियों से उन्हें परिमार्जित उर्दू भाषा के साथ ही साहित्य की स्तरीयता भी सीखने को मिली। उनकी कविता की देह के श्वास-निःश्वास यही स्तरीयता और मार्मिकता हैं। यों तो उन्होंने एक सलाम[३१] भी लिखा है किन्तु उनकी कविता में कर्बला से सम्बद्ध जिस मुख्य घटना का सन्दर्भ बार-बार आता है वह यह है कि हज़रत हुसैन की शहादत के बाद यज़ीद की सेना ने उनकी बहन हज़रत ज़ैनब की चादर खींच कर उन्हें बेपर्द कर दिया। अपमान की इस पीड़ा से ही परवीन की कविता का 'स्त्री-वाद' बना है, जिस पर कुछ विस्तार से आगे बात करेंगे।

आधुनिक उर्दू कविता ने कर्बला की शहादत को कई सन्दर्भों में इस्तेमाल किया है। जोश मलीहाबादी से लेकर हफ़ीज जालन्धरी तक, फ़ैज़ अहमद फ़ैज़ से लेकर फ़हमीदा रियाज़ तक, सबने कर्बला के शहीदों में शौर्य और संघर्ष के तत्त्वों का गुणगान किया है। किन्तु पीड़ा का उन्मीलन जिस मार्मिक और अन्तःप्रवाही ढँग से परवीन शाकिर की कविता में मिलता है, उसका रिसाव कर्बला की कारुणिकता को इन मुखर अभिव्यक्तियों से अधिक समावेशी बनाता है।

१.२.३ लोक और शास्त्र का अवेक्षण

परवीन शाकिर का घर-परिवार अभी बिहार को भूला नहीं था और उनकी कविता में तमाम स्मृतियाँ तथा संवेदनाएँ उनकी उन जड़ों से आती हैं जो भारत में पीछे छूट गयी थीं। नज़ीर सिद्दीक़ी की पत्नी ने उनकी कविताओं से ही यह अनुमान लगा लिया था कि यह लड़की बिहार की है। इन गूँजों और अनुगूँजों का स्रोत घरेलू बातचीत से ही उभरता है और यह सिर्फ़ इस नाते नहीं है कि उन्होंने 'गोरी करत सिंघार'[३२] लिखा है या 'गंगा' और 'श्रीकृष्ण' पर कविताएँ लिखी हैं या अपनी कविता को मीराबाई की कविता से जोड़ा है। इस तरह की चेष्टाएँ उनकी पीढ़ी के आसपास और पहले के कई कवियों में मिल जाती हैं और पाकिस्तान तक अपने को सीमित रखें तो मीराज़ी और जमीलुद्दीन आली की रचनाओं में बहुत सा 'हिन्दी-पन' खोज़ा जा सकता है। 'देवमाला'[३३] में उनकी रुचि गहरी थी इसमें कोई सन्देह नहीं है और दस बरस की उम्र में की गयी अपनी वाराणसी-यात्रा में भी वे मानस-मन्दिर देखने गयी थीं किन्तु उनकी कविता में भारतीय मिथक-सम्पदा के उल्लेख एक

सीधे सम्बन्ध की हैसियत में आये हैं, अपने को या उर्दू को 'भारतीय' बताने के लिए आरोपित नहीं हैं। यहाँ मैं सिर्फ़ एक शेर देता हूँ जिससे कुछ अनुमान लग सकता है कि उनकी कविता में ऐसे तत्त्व किस तरह अपनी मौजूदगी दर्ज कराते हैं :

पावँ[३४] छूकर पुजारी अलग हो गये,
नीम-तारीक मन्दर की तन्हाई में
आग बनती हुई तन की नौखेज़ खुश-
-बू समेटे हुए देवियाँ रह गयीं।।

।। नीम-तारीक = हल्के अँधेरे वाला; मन्दर = मन्दिर; नौख़ेज़ = नयी उभरती हुई ।।

इसी की बग़ल में मैं इस ग़ज़ल का आख़िरी शेर रखना चाहता हूँ :

अजनबी शह की अव्वलीं शाम ढल-
ने लगी, पुरस. देने जो आये, गये
जलते ख़ेमों की बुझती हुई राख पर
बाल खोले हुए बीबियाँ रह गयीं।।

।। अव्वलीं = पहली; पुरस. देने = शोक व्यक्त करने; बीबियाँ = (सम्मानयोग्य) स्त्रियाँ ।।

उद्धृत दो शेरों में से पहला जिस उद्दाम यौनिकता की ओर संकेत करता है वह उसमें आये हुए समूचे धर्म-सांस्कृतिक सन्दर्भ को मानवीय देहिकता में अभिव्यक्त करता है। दूसरा उद्धृत शेर वस्तुतः कर्बला की लड़ाई के बाद की उस घटना की ओर संकेत करता है जब इमाम हुसैन के परिवार की स्त्रियों को यज़ीद की राजधानी में अपमानपूर्वक ले जाया गया था किन्तु यहाँ भी सारा धर्म-सांस्कृतिक सनदर्भ मानवीय पीड़ा में ही अभिव्यक्त हुआ है। दोनों मिथक-सम्पदाओं को बिना लपके-हथियाये एक सदा-प्राप्त प्रलेख की सहजता से देह और मन की अभिन्न इकाई की व्यथा के रूप में ही समतोल पढ़ा गया है और इस पाठ का विस्तार सम्पूर्ण जगत् तक है, किन्तु उसका संकोच भी जगत् तक ही है, उसमें पारलौकिकता तक जाल फेंकने की लालसा नहीं है।

उनकी रुचि वस्तुतः एक जिज्ञासु की थी जैसा कि नज़ीर सिद्दीक़ी को भेजे गये एक पत्र (जिस पर २३ जून १९७८ की तारीख़ पड़ी है) के इन वाक्यों से प्रकट है:

> हिन्दुओं ने ...ख़ैर+ओ+शर (= कल्याण और अकल्याण) को गोया ज़िन्दगी की जद्द+ओ-जहद (= संघर्ष) का मुहर्रिक (= चलाने वाला) बनाया।... तनासुख़ (= पुनर्जन्म) तक बात फैलायी गयी लेकिन बुनियादी बात वही रही कि नेकी का अन्जाम अच्छा और बदी का बुरा... नेकी अवतार बना देती है और बदी राक्षस। यही हाल यूनानी असातीर (= मिथक-सम्पदा) का है मगर ज़रा देखिए कि यह poetic justice भला ज़िन्दगी में होता कहाँ है? और बिलफ़र्ज़ (= मान लीजिए कि) अगर हो भी जाये

तो भी कै दिन की बहार? वही मिट्टी में मिलना चाहे किसू का सर पर गुरूर हो[३५]
या कोई object जानवरों की सतह पर गुज़ारने वाला महकूम (= शासित) क़ौम का
फ़र्द (= व्यक्ति)। और इस ultimate end के आगे सब कामरानियाँ (= सफलताएँ)
बे-हक़ीक़त नज़र आने लगती हैं। माँदगी (= शिथिलता) के इस वक़्फ़े (= अवकाश)[३६]
को लहर बनाने की क्या-क्या कोशिशें न हुईं मगर फ़राइन+ए+मिस्र (= प्राचीन मिस्र
के बादशाहों) की ममियों से आगे बात न बढ़ सकी।

यों तो इन वाक्यों में कुछ संकेत ज़िया उल हक़ के शासन के अधीन तत्कालीन पाकिस्तान का भी है किन्तु यहाँ मैं इस ओर ध्यान दिलाना चाहता हूँ कि संसार-चक्र की व्याख्या कर्मफलवाद से करना परवीन को सन्तुष्ट नहीं कर रहा है और उनकी चाहत इन सवालों के भँवर में कुछ और गहरे उतरने की है।

साथ ही, अंगरेज़ी साहित्य के गहरे अध्ययन ने उनमें पश्चिम से भी प्राप्त कुछ संवेदनाएँ जगायी हैं जो यहीं तक सीमित नहीं है कि उन्होंने कुछ अंगरेज़ी शब्दों का प्रयोग अपनी कविता में किया है और Wasteland तथा Leda and the Swan को विषयीकृत करते हुए कविताएँ लिखी हैं। उनकी कविताओं के इन सभी तत्त्वों को उनकी कविता पर चर्चा करते समय सामने लाने की चेष्टा करेंगे।

फ़िलहाल यहाँ सिर्फ़ एक बात की ओर ध्यान दिलाना चाहता हूँ। उर्दू के भाषा-ज्ञान की कसौटियों में दिल्ली या लखनऊ का रोज़मर्रा ही नहीं है, अरबी और फ़ारसी की शब्द-सम्पदा तथा छन्दःशास्त्र से गहरा परिचय भी है और इस कसौटी पर बड़े-बड़े कवियों की फ़ज़ीहत उर्दू आलोचना में प्रारम्भ से होती रही है। परवीन शाकिर का अरबी और फ़ारसी से कोई गहरा परिचय नहीं था, निजी स्वाध्याय और घर-परिवार के सुशिक्षित बुज़ुर्गों से जो कुछ सीखने को उन्हें मिला, उसी के बल पर उनकी कविता में इन भाषाओं का कुछ छौंक-बघार है। किन्तु इसका चरित्र क्या है, इसे मैं एक उदाहरण से स्पष्ट करता हूँ।

खुशबू में मौजूद एक ग़ज़ल है जिसमें क़ाफ़िये 'मुरतसिम', 'मुनक़सिम', आदि हैं। इस प्रकार इस ग़ज़ल में सचेष्ट होकर क़ाफ़िया कुछ अरबी शब्दों का चुना गया है। परवीन की ग़ज़लों में उस्तादी दिखाने की ऐसी प्रवृत्ति नहीं मिलती और यह स्पष्टतः एक प्रशिक्षु के उत्साह का परिणाम है। यहाँ जो बात जानने की है वह यह है कि इस ग़ज़ल का अन्तिम शेर यह है:

मेरी गली में कोई शहरयार आता है
मिला है हुक्म कि. लहजे को मुहतरिम कर लूँ।।

।। शहरयार = राजा; मुहतरिम = आदर करने वाला ।।

इस पर नज़ीर सिद्दीकी ने एक आपत्ति 'मुहतरिम' शब्द को लेकर की जिसे उन्होंने सम्भवतः सार्वजनिक नहीं किया किन्तु परवीन शाकिर को लिखकर भेजा। परवीन शाकिर ने इस विषय में उनको

जो उत्तर (अपने २३ जून १९७८ वाले पत्र में) दिया है वह यह है:

> अलबत्ता लफ़्ज़ 'मुहतरिम' के बारे में शायद मैं इतनी ग़लत नहीं कि अरबी में 'मुहतरम' के मानी वह जिसका एहतराम (= आदर) किया जाय और 'मुहतरिम' के मानी वह जो एहतराम करता है।

नज़ीर सिद्दीक़ी का पत्र सामने नहीं है किन्तु लगता यही है कि उनकी आपत्ति व्याकरण के सहारे थी और उन्होंने यह कहा होगा कि जब 'मुहतरिम' कर्ता है तो 'लहजे को मुहतरिम करना' सही वाक्य-प्रयोग नहीं है और 'लहजे को मुहतरम करना' सही होता क्योंकि 'मुहतरम' कर्म है। बाद के कुछ पत्रों में भी इस विवाद का सन्दर्भ मौजूद है और लगता है कि यह मुक़द्दमा कुछ और विद्वानों के पास गया। जो मैं कहना चाहता हूँ वह यह है कि नज़ीर सिद्दीक़ी की वरिष्ठता, विद्वत्ता और परवीन शाकिर पर वत्सलता जताते रहने की निरन्तर चाहत के बावजूद परवीन शाकिर झुकी नहीं और आज भी यह शेर उसी तरह मिलता है। रहा यह कि क्या होना चाहिए, तो मैं समझता हूँ कि कोई भी इस बात से सहमत होगा कि कवि को जो कहना है उसकी अभिव्यक्ति तो 'मुहतरिम' कहने से ही होती है और अगर व्याकरण का कोई नियम खण्डित भी हुआ है तो यहाँ खटकता नहीं।

१.२.४ परवीन का 'स्त्री-वाद' और उनकी 'राजनीति'

रुख़साना अहमद द्वारा प्रणीत[३७] में पाकिस्तान की कुछ 'स्त्री-वादी' कवियों की कुछ रचनाओं का सानुवाद संकलन है। इनमें परवीन शाकिर को उन्होंने शामिल नहीं किया है, और जैसा कि भूमिका में उन्होंने स्पष्ट किया है, इसका कारण यह नहीं है कि परवीन शाकिर की कविता अच्छी नहीं है, इसका कारण यह है कि परवीन शाकिर ने 'सेक्सिस्ट' मूल्यों को स्वीकार कर लिया है।

परवीन शाकिर की कविता पर विचार करते समय मैं इस कथन के निहितार्थ से अपनी असहमति दर्ज करूँगा किन्तु परवीन शाकिर को 'अ-विद्रोही' मानने पर उनके पाठकों में आम सहमति है। यहाँ मैं ऐसी मान्यता के पीछे के उन तर्कों को सामने लाना चाहता हूँ जिनके आधार पर ऐसा बिना परवीन शाकिर की कविता को पढ़े भी माना जा सकता है।

सबसे पहले तो हम यह देखते हैं कि आपने निजी दुःखों का सार्वभौम प्रक्षेपण करते हुए उन्होंने कोई आक्रामक दर्शन नहीं तैयार किया। मैं गुलज़ार जावेद द्वारा लिये गये उपरिचर्चित साक्षात्कार से एक उदाहरण देता हूँ :

> **प्रश्नः** पहले बाप, फिर शौहर, औरत की शिनाख़्त के यह हवाले तौहीन+ए+निसवाँ के जुमरे में नहीं आते?
>
> **उत्तरः** यह तो बहुत खूबसूरत रिश्ते हैं, इनमें तौहीन का पहलू कहाँ से नज़र आया?

कुछ और तथ्य भी इस उद्धरण की बग़ल में रखे जा सकते हैं। जब वे चीन गयी थीं तो उनके

साथ-साथ प्रतिनिधिमण्डल में अता उल हक़ क़ासिमी भी थे जिन्हें परवीन शाकिर 'भाई' कहती थीं (शायद इसलिए कि ये भी अहमद नदीम क़ासिमी के स्नेहभाजनों में से थे)। वहाँ अता उल हक़ क़ासिमी अपनी कमीज़ प्रेस कर रहे थे तो परवीन ने उनसे कमीज़ ले ली और यह कहते हुए कि 'बहन के होते हुए भाई यह करते अच्छे नहीं लगते', खुद प्रेस करने लगीं। वे अपने बेटे मुराद को बड़ा होते हुए देखकर प्रायः यह कहती थीं कि 'एक लड़का जब जवान होता है तो उसकी माँ मज़बूत होती है'। अपने पिता के देहान्त के समय वे अमरीका में थीं और उन्होंने अहमद नदीम क़ासिमी को लिखा था कि चूँकि उनका कोई भाई नहीं है, इसलिए अब घर की देखभाल उन्हें ही करनी है और वे ही Man of the House हैं। उनकी मित्र रफ़ाक़त जावेद ने लिखा है कि उन्हें कभी-कभार पछतावा होता था कि उनका शेरोशाइरी का शौक़ शादी के बाद से आगे नहीं बढ़ सका और परवीन का जवाब होता था कि 'तुम मुझसे अच्छी हो क्योंकि तुम एक खुशहाल घरेलू ज़िन्दगी बिता रही हो'। रफ़ाक़त उनके लिए ईद के जोड़े भी खरीदती थीं जिस पर परवीन का कहना था कि 'ईद के नये जोड़े पहने सुहागिनें अच्छी लगती हैं, जो मैं नहीं हूँ'। इन सारी बातों से यह पता चलता है कि उन्हें बहन, बेटी, माँ, या पत्नी के रूप में अपने को पहचनवाने में कोई आपत्ति नहीं थी और शायद ऐसे परिचय को वे अन्य स्त्रियों के लिए भी अ-काम्य नहीं मानती थीं।

उनका अपना चुना हुआ परिचय ऐसे परिचयों से अलग रहा है किन्तु जैसा ऊपर की बातों से प्रकट है, उनका आग्रह अपने चुनाव को दूसरी स्त्रियों के लिए अनुकरणीय मनवाने का नहीं था। यहाँ यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि जिसे मैं परवीन शाकिर का 'चुनाव' कह रहा हूँ वह उस 'प्रयोजन' से भिन्न है जो उन्होंने अपने जीवन का नज़ीर सिद्दीक़ी को एक पत्र में बताया है, अर्थात् यह कि खुदा ने उन्हें कविता लिखने के लिए ही सिरजा था और इसलिए उन्हें सभी दुःख झेलते हुए भी कविता लिखनी ही है।

परिभाषा और व्याख्या के भीतर किसी परिणाम के पीछे की प्रक्रिया को पकड़ने के प्रयास में एक अनिश्चितता-सिद्धान्त काम करता हैः जितना ही आप उसको अपनी समझ के भीतर घेरने की कोशिश करते हैं, उसकी वास्तविकता उतनी ही बदलती जाती है। फिर भी बिना शब्द-व्यवहार के काम नहीं चलता अतः मैं अपने द्वारा प्रयुक्त 'चुनाव' शब्द का तात्पर्य बताने का प्रयास करता हूँ और इस ख़तरे से भी वाक़िफ़ हूँ कि जिस अनिश्चितता की बात मैंने अभी की है उस पर इस प्रसंग में 'मर्द-समझावन (=mansplaining)' की अपनी परत भी स्वतः पड़ जायेगी। 'चुनाव' से मेरा मतलब उस सविनय अवज्ञा से है जिसका उल्लेख उन्होंने खुशबू की भूमिका में किया है और जिसके उद्धरण से मैंने इस अध्याय का प्रारम्भ किया है, अर्थात् सिर को न झुकाते हुए भी पलकों को भीगने की आज़ादी देने का चुनाव। सामान्यतः कोई भी 'वाद' उठे हुए सिर को दृढ़ता का और भीगी पलकों को दुर्बलता का पर्याय मानता है तथा इन दोनों के सहसमुच्चय को वैसे ही अस्वीकार्य मानता है जैसे प्रकाश के साथ अन्धकार की मौजूदगी को। हम यह सुनना पसन्द करते हैं कि वीर अपने सिद्धान्तों के लिए

हँसते-हँसते प्राण त्याग देते हैं, यह नहीं मान सकते कि अपनी बात पर अड़े रहने वाले को पछतावा न करते हुए भी अपने अड़ियलपने के लिए मरते समय कष्ट भी हो सकता है।

यहाँ मैं थोड़ा हटकर एक उदाहरण देना चाहता हूँ। जैसा कि सुविदित है, बेनज़ीर भुट्टो से आसिफ़ ज़रदारी का विवाह प्रेम-विवाह नहीं था, दो परिवारों के बीच पारम्परिक ढँग से तय किया गया विवाह था जिसमें बेनज़ीर के लिए आसिफ़ अली ज़रदारी का प्रस्ताव बेनज़ीर की बुआ ने किया था यद्यपि लन्दन में पाँच दिन तक चली इस बातचीत में भावी वर-वधू परस्पर मिले थे और इस प्रकार अपरिचित नहीं रह गये थे। बेनज़ीर के अनुसार[३८] 'पाँचवें दिन तक़दीर ने एक मधुमक्खी की शक्ल में फ़ैसला कर दिया।' हुआ यह कि चौथे दिन बेनज़ीर एक पार्क में घूमने गयी थीं जहाँ मधुमक्खी ने उनके हाथ में काट लिया जिसके नाते घर लौटने तक उनका हाथ काफ़ी सूज आया था और उन्हें बहुत दर्द हो रहा था। आसिफ़ अली ज़रदारी ने तुरन्त एक कार से उन्हें हठपूर्वक डॉक्टर के पास भिजवाया। इस घटना पर बेनज़ीर की टिप्पणी है: 'पहली बार ऐसा हुआ कि नेतृत्व मेरे हाथ में नहीं था'।

तो कभी ऐसा भी हो सकता है कि आप खुदमुख़्तारी की यकताई से ऊब कर खुदसिपुर्दगी के लिए एक शरीक चाहें- हमारे अपने समय में BDSD (= Bondage, Discipline, Submission, Dominance) की स्त्रीवाद के भीतर स्वीकार्यता इसका एक अतिरेकी उदाहरण है किन्तु बहुत पहले कामसूत्र में 'भोक्ता का अभिमान' और 'भोग्या का अभिमान'[३९] की समतोल सत्ताएँ स्वीकार की गयी थीं। मेरा कहना सिर्फ़ इतना है कि स्वतन्त्रता का कोई एक ही अर्थ सबके लिए सब समय समान नहीं हो सकता और अन्तर्वैयक्तिक गतिकी को भेड़चाल में ढालने का हठ भी गुलामी थोपना है। समर्पण और दासता पर्यायवाची नहीं हैं।

पाकिस्तान में स्त्री-वाद के सन्दर्भ में कुछ बातें यहाँ प्रासंगिक हैं। ०८ मार्च २०१८ को अन्तर-राष्ट्रीय महिला दिवस पर पाकिस्तान के कई शहरों में 'औरत मार्च' के नाम से एक जुलूस निकला और इसका आयोजन प्रतिवर्ष करने का संकल्प भी लिया गया। २०१६ के औरत मार्च में कई पोस्टर और नारे ऐसे थे जिनको लेकर पूरे पाकिस्तान में उग्र प्रतिक्रियाएँ सामने आयीं। इनमें से अधिकतर प्रतिक्रियाएँ इस आधार पर थीं कि ऐसे पोस्टर पाकिस्तान की स्वीकृत 'इस्लामी संस्कृति' के विरुद्ध हैं और इस सुपरिचित तर्क के भरोसे थीं कि 'स्त्रियों को सर्वाधिक अधिकार इस्लाम ने ही दिये हैं'। २०२० के औरत मार्च के पहले यह बहस फिर भड़की जिसमें दो लड़कियों द्वारा बनाये जा रहे एक चित्रशिल्प को लाल मस्जिद के लोगों द्वारा नष्ट करने और टीवी पर एक चर्चित लेखक और फ़िल्म डायरेक्टर ख़लीलुर्रहमान क़मर द्वारा एक्टिविस्ट मार्वी सरमद को फूहड़ गालियाँ बकने से लेकर ०८ मार्च को हुए औरत मार्च पर इस्लामाबाद में पथराव तक शामिल हैं। २०१६ के मार्च में एक नारा था 'मेरा जिस्म, मेरी मर्ज़ी', जिसके प्रत्युत्तर में 'मेरा जिस्म, अल्लाह की मर्ज़ी' के नारे के साथ एक 'हया मार्च' भी २०२० में निकाला गया जिसमें स्त्रियाँ बुर्क़ा पहने मार्च कर रही थीं।

इस प्रत्याशित और परिचित घटनाक्रम में से यहाँ दो बातें प्रासंगिक हैं। पहली यह कि २०२०

के औरत मार्च को रोकने के लिए एक मुक़द्दमा दायर हुआ था जिसके फ़ैसले में अदालत ने मार्च पर रोक लगाने से तो इनकार किया किन्तु अनुज्ञा इस शर्त पर दी कि कोई ऐसे नारे या पोस्टर मार्च में न हों जो नैतिकता या इस्लाम के विरोधी हों। इस सप्रतिबन्ध अनुज्ञा का मार्च के समर्थकों ने अपनी विजय मानने से इनकार किया है। दूसरी उल्लेखनीय बात यह है कि पाकिस्तान में स्त्रीवादी आन्दोलन की सबसे मशहूर आवाज़ किश्वर नाहीद ने भी २०१६ के नारों में से कई पर आपत्ति की थी और यह सलाह दी थी कि औरत मार्च के आयोजकों को अपनी 'संस्कृति और परम्परा' का सम्मान करते हुए अपने नारों और पोस्टरों का चुनाव करना चाहिए। 'इस्लामी' विशेषण हटा देने के बाद यह वही आपत्ति थी जो मौलवी और इस्लाम का नाम लेने से बचने वाले मर्दवादी प्रगतिशील अपने को औरतों का हिमायती बताते हुए कर रहे थे। इसे ठीक से समझने के लिए एक पोस्टर पर चर्चा करते हैं जिस पर अन्य अनेक लोगों के साथ किश्वर नाहीद को भी आपत्ति थी।

यह पोस्टर कराची के हबीब विश्वविद्यालय की दो छात्राओं, रुमिसा लखानी और रशीदा शब्बीर हुसैन ने बनाया था। इसमें एक लड़की जाँघे फैलाकर एक पहलवान की तरह ताल ठोंकती हुई बैठी है और इसका शीर्षक है 'लो बैठ गयी सही से'। यह उन प्रतिबन्धों के प्रतिपक्ष में था जो स्त्रियों के बैठने-उठने पर लगते रहते हैं और जिनकी कोई आवश्यकता पुरुषों के लिए नहीं समझी जाती। किन्तु किश्वर नाहीद समेत अनेक को इसमें केवल यौनिक आमन्त्रण दिखायी दिया जिसे उन्होंने अश्लील माना।

स्वभाविक है कि इन प्रतिक्रियाओं पर भी प्रतिक्रियाएँ आयीं और किश्वर नाहीद को भी सोशल मीडिया पर कुछ बुरा-भला कहा गया। यहाँ समझने की बात यह है कि पाकिस्तान शायद संसार का अकेला देश है जहाँ दो 'महिला दिवस' होते हैं: एक ०८ मार्च वाला 'अन्तर-राष्ट्रीय' और दूसरा १२ फ़रवरी वाला 'पाकिस्तानी' जो ज़िया उल हक़ के समय में १२ फ़रवरी १९८३ को शरिया क़ानून के कुछ प्रावधानों को लागू करने के विरोध में अस्मा जहाँगीर समेत अनेक महिलाओं द्वारा लाहौर में निकाले गये मार्च की स्मृति में मनाया जाता है। इस १२ फ़रवरी १९८३ वाले मार्च पर पुलिस द्वारा किये गये लाठीचार्ज में किश्वर नाहीद को भी चोटें आयी थीं। स्वभाविक है कि २०१६ वाले औरत मार्च के नारों से किश्वर नाहीद के मतभेद को 'पीढ़ियों के अन्तर' के रूप में देखा गया है।

यदि हम पाकिस्तान में आज के 'हया मार्च' और 'औरत मार्च' को देखें तो इतना तो साफ़ ही है कि 'हया मार्च' आदेशात्मक है क्योंकि वह सभी स्त्रियों को हिजाब में देखना चाहता है जबकि 'औरत मार्च' आदेशात्मक नहीं है क्योंकि वह सभी स्त्रियों को जाँघे फैलाकर बैठने को नहीं कहता, वह सिर्फ़ यह पूछता है कि स्त्रियों के बैठने के लिए पाबन्दियाँ क्यों हैं। इस नाते मुझे लगता है कि 'औरत मार्च' मानवीय हित में है और 'हया मार्च' मानवीय अहित में। किन्तु मैं यह भी जोड़ना चाहता हूँ कि किश्वर नाहीद का भी सुझाव 'औरत मार्च' को आदेशात्मक बना देने का ही है।

मैं उन मर्दों की जमात में शामिल नहीं होना चाहता जो स्त्रियों को यह समझाना चाहते हैं कि

अपनी बात कहने के लिए उनके द्वारा अपनाये जाने वाले तरीक़ों में से कौन सा तरीक़ा 'उचित' है। मेरा अपना मानना यह है कि अभिव्यक्ति के तरीक़े अलग हो सकते हैं और उनके बीच तारतम्य को औचित्य की मापनी पर नापना ग़लत है; साथ ही, समय की मापनी पर चढ़ाकर 'पीढ़ियों के बीच अन्तर' करना भी ग़लत है। नैतिक और अनैतिक की बहस से दूर, मैं यह मानता हूँ कि वास्तविक अन्तर एक ही विद्रोह की मुखरता के मन्द्र, मध्यम, या तार स्वरों में अभिव्यक्त होने का होता है और तीनों तरह के लोग एक ही समय में वर्तमान रह सकते हैं; साथ ही शाब्दिक अभिव्यक्ति के अनुवाद जीवन की घटनाओं में करने की प्रवृत्ति भी भ्रमोत्पादक है।

इस सन्दर्भ में हम देखते हैं कि पाकिस्तान में एक ही समय में वर्तमान तीन स्त्री-कवियों में से जीवन के स्तर पर किश्वर नाहीद के जीवन में किसी असहजता की उपस्थिति का पता नहीं चलता, परवीन शाकिर को अफ़वाहों का सामना भी करना पड़ा और अकेली ज़िन्दगी गुज़ारने का फ़ैसला भी लेना पड़ा और सारा शगुफ़्ता को मानसिक तथा दैहिक शोषण का लगातार शिकार होते हुए अन्ततः आत्महत्या करनी पड़ी जबकि कविता में विद्रोही स्त्री-वाद का सर्वाधिक स्वीकृत निनाद किश्वर नाहीद का है, सर्वाधिक परेशानकुन आवाज़ सारा शगुफ़्ता की है और सर्वाधिक नरम आहंग परवीन शाकिर का है यद्यपि तीनों कवियों में उसकी मौजूदगी न केवल असन्दिग्ध है अपितु समतोल भी है।

परवीन शाकिर की कविता में राजनीतिक मुखरता का भी अभाव देखा गया है। इसकी भी परीक्षा उनकी कविता पर बात करते समय ही उचित होगी और यहाँ फिर केवल उन्हीं आँकड़ों तक अपने को सीमित रखते हैं जिनके आधार पर बिना उनकी कविता पढ़े कुछ कहा जा सकता है। वैसे तो १६ जुलाई १६६० को उनके चौथे काव्य-संग्रह इनकार के लोकार्पण के समय पढ़े गये अपने निबन्ध उर्दू शाइरी की रानी झाँसी में सैयद ज़मीर जाफ़री ने इस संग्रह में संगृहीत अनेक कविताओं को ज़िया उल हक़ के शासन के विरुद्ध 'कलाश्निकोव' से तुलनीय बताया है किन्तु यह अपने आप में कोई प्रमाण नहीं है और कोई यह भी कह सकता है कि इस समय ऐसा कहना सुरक्षित था क्योंकि उस समय सरकार बेनज़ीर भुट्टो की थी और इस लोकार्पण के मुख्य अतिथि भी बेनज़ीर की पार्टी के एक बड़े नेता चौधरी एतिज़ाज़ अहसन थे किन्तु ऐसे सतहीपन से बचते हुए हमें कुछ आँकड़ों पर नज़र डालनी चाहिए।

२ अगस्त १६७८ को लिखे गये जिस पत्र का उल्लेख ऊपर आ चुका है (जिसमें उन्होंने अपने द्वारा कलीम आजिज़ साहब की उपेक्षा के आरोप का जवाब दिया है) उसमें परवीन शाकिर ने नज़ीर सिद्दीक़ी को अपनी एक ताज़ा नज़्म मैकबेथ भेजी है जो नज़ीर सिद्दीक़ी को शायद पसन्द नहीं आयी और इसलिए परवीन शाकिर ने अपने १४ अगस्त १६७८ के पत्र में उनसे यह अनुरोध किया है कि वे पाकिस्तान के तत्कालीन राजनीतिक सन्दर्भ में इस नज़्म को देखें और यह समझें कि 'मैकबेथ' कौन है। हमें यहाँ यह स्मरण रखना होगा कि जनरल ज़िया उल हक़ ने ५ जुलाई १६७७ को जुलफ़क़ार अली भुट्टो की सरकार को हटाकर चीफ़ मार्शल ला ऐडमिनिस्ट्रेटर के रूप में पाकिस्तान का शासन

सँभाल लिया था जबकि भुट्टो ने ही उन्हें सात वरिष्ठ जनरलों की उपेक्षा करके सेनाध्यक्ष बनाया था- तब हमें 'मैकबेथ = ज़िया उल हक़' का समीकरण बिलकुल प्रत्यक्ष हो जाता है। इसके आसपास के कुछ पत्रों में परवीन शाकिर ने स्पष्टतया नज़ीर सिद्दीक़ी को यह बताया है कि वे भुट्टो की समर्थक हैं और आश्चर्य न केवल परवीन शाकिर के साहस पर होता है अपितु नज़ीर सिद्दीक़ी की अति-जिज्ञासा पर भी जिन्होंने उस माहौल में इस विषय पर एक लिखित प्रश्नोत्तर की उम्मीद की।

भारत में प्रायः यह प्रचारित किया जाता है कि कम-अज़-कम सैनिक शासनों का तो सभी पाकिस्तानी बुद्धिजीवी विरोध करते ही रहे हैं। यह बात सच नहीं है; अयूब ख़ान के समय भी कुदरतउल्लाह शिहाब और जमीलुद्दीन आली जैसे लोग उनके साथ थे और हफ़ीज़ जालन्धरी तो ख़ैर उनके सलाहकार ही थे, फ़ैज़ को भी कुछ दिन क़ैद में रखने के बाद उन्होंने सरकारी नौकरी में ले लिया था। परवेज़ मुशर्रफ़ के समय भी फ़हमीदा रियाज़ समेत कई बुद्धिजीवियों का यह मानना था कि वे एक 'अच्छे शासक' थे। ज़िया उल हक़ के समय में भी कई बुद्धिजीवी उनके समर्थक थे जिनमें परवीन शाकिर के 'अभिभावक' अहमद नदीम क़ासिमी का भी नाम है।

अस्तु, ज़िया उल हक़ के दौर की लिखी हुई परवीन शाकिर की अपनी कविताओं में बहुत सारा आक्रोश व्यक्त है जिसकी प्रत्यक्ष राजनीतिक व्याख्या सम्भव है, यद्यपि यह सच है कि वे सरकारी नौकरी करती रहीं, सरकारी टेलीविज़न पर प्रोग्राम देती रहीं और सरकार के विरुद्ध किसी प्रदर्शन में भाग नहीं लिया। उनके सम्बन्ध शायद ज़िया उल हक़ के मीडिया प्रबन्धक ब्रिगेडियर सिद्दीक़ सालिक से भी अच्छे ही रहे होंगे जिनकी मृत्यु पर उन्होंने एक कविता लिखी थी।[४०]

किन्तु हम इस ओर ध्यान दे सकते हैं कि सरदार जाफ़री के जिस नयी खुशबू शीर्षक लेख की बात ऊपर आयी है, उसमें उन्होंने यह बताया है कि कराची विश्वविद्यालय के उर्दू विभाग में आयोजित गोष्ठी में परवीन शाकिर ने दो कविताएँ पढ़ी थीं: एक तो ख़ाक-म ब-दहन[४१] शीर्षक नज़्म और दूसरी वह ग़ज़ल जिसका पहला शेर है:

पा-ब.गिल सब हैं रिहाई की करे तदबीर कौन
दस्त-बस्त. शह में खोले मेरी ज़न्जीर कौन।।

।। पा-ब.गिल = ज़मीन में धँसे हुए पैरों वाले; दस्त-बस्त. = बँधे हुए हाथों वाले ।।

यदि हम यह ध्यान में रखें कि इस गोष्ठी के समय ज़िया उल हक़ का शासन आ चुका था तो हम इन कविताओं में व्यक्त क्षोभ के राजनीतिक चरित्र को तत्काल पहचान सकते हैं। यह ग़ज़ल उन्होंने ११ मार्च १९७८ वाले मुशाइरे में दिल्ली में भी पढ़ी थी जहाँ भी इसका राजनीतिक चरित्र स्पष्ट था। सुना जाता है कि इस मुशाइरे में फ़िराक़ साहब भी मौजूद थे जिन्होंने इस ग़ज़ल को सुनकर मंच से ही अपने ख़ास अन्दाज़ में यह कहा, 'वाह परवीन साहिबा, क्या मरदानी ग़ज़ल पढ़ी है। जी चाहता है कि चूड़ियाँ पहन लें'।

परवीन शाकिर में राजनीतिक साहस खोजते समय हमारे लिए यह ध्यान में रखना भी ज़रूरी है कि वे कवि के रूप में चाहे जितनी प्रशंसित क्यों न हों, वे एक मध्यवित्तीय परिवार से आती थीं और उनकी पहुँच सत्ता अथवा प्रतिपक्ष के उन आलीशान ड्राइंग-रूमों तक न थी जिनमें फ़ैज़ और फ़राज़ के लिए हमेशा कुर्सी मौजूद रही। राजनीति में सक्रिय भाग उन्होंने अपने छात्र-जीवन में भी नहीं लिया था। वे कविता के अतिरिक्त किसी और तरह से अपनी बात रख ही नहीं सकती थीं और उन्होंने ऐसा ही किया है। उनकी 'राजनीतिक' कविताएँ हबीब जालिब की कविताओं जैसी प्रत्यक्ष नहीं हैं किन्तु फ़ैज़ की कविताओं से अधिक परोक्ष भी नहीं है। कहीं-कहीं उनका कटाक्ष बहुत ही सूक्ष्म है- जैसे

फ़स्ल बरवक़्त न. कटती जो सरों की परवीन
आसमानों ने ज़मीनों को निगल जाना था।।
-सदबर्ग में पृ. २६३ पर 'आतश+ए+जाँ से क़फ़स आप ही जल जाना था' से शुरू होती ग़ज़ल।

।। बरवक़्त = समय पर ।।

यह ज़िया-उल-हक़ के सैनिक शासन के पक्ष में दी गयी 'अनिवार्यता का सिद्धान्त'[४२] की दलील पर व्यंग्य है और इसकी उर्दू में 'ने' की घुसपैठ ने जिस प्रकार पाकिस्तान के राजतन्त्र में ज़िया उल हक़ की घुसपैठ को उभारा है वह कविता में ही सम्भव है।

फिर भी, इन सब बातों के साथ यह सच है कि परवीन शाकिर को खुशबू की कवि के रूप में ही जाना गया और जैसा कि नज़ीर सिद्दीक़ी ने उपरिचर्चित पत्र संग्रह की भूमिका में स्वीकार किया है, खुशबू के बाद के उनके किसी संग्रह पर लिखने की उनकी कोई इच्छा नहीं हुई। इस समझ के कारण का कुछ संकेत इस उदाहरण से मिल सकता है: २ अगस्त १९७८ वाले पूर्वोल्लिखित पत्र में परवीन शाकिर ने नज़ीर सिद्दीक़ी को यह लिखा है कि वे अपने दूसरे काव्य-संग्रह का नाम 'हवा-बुर्द (= हवा के द्वारा उड़ा दिया गया)' रखना चाहती हैं[४३] और इसके पीछे यह शेर है:

आँसू रुके तो आँख में भरने लगी है रेत
दर्या से बच गये तो हवा-बुर्द हो गये।।

नज़ीर सिद्दीक़ी साहब को यह नाम नहीं पसन्द आया और इस सन्दर्भ में परवीन शाकिर ने उन्हें अपने १४ अगस्त १९७८ वाले पत्र में लिखा:

> मुझे पता था कि आपको मेरी नयी क़िताब का नाम पसन्द नहीं आयेगा। आप लोगों ने मेरे साथ softness को इतना वाबस्ता किया हुआ है कि ज़रा भी खुरदुरापन बरदाश्त नहीं। मगर सारा प्राब्लम यह है कि मेरी अगली क़िताब का मिज़ाज खुशबू से बड़ी हद तक मुख़्तलिफ़ है और हवाबुर्द (जैसा कि अपने बिलकुल दुरुस्त अन्दाज़ा लगाया- मेरी अपनी है) इस मिज़ाज को बहुत अच्छी तरह depict करती है।

लेकिन मेरा विचार है कि softness और 'खुरदुरापन' जैसे शब्दों की आड़ में कुछ और बातें छिपी हुई हैं- जब खुशबू में यह शेर पढ़ने को मिलता है:

वह आग है कि मेरी पोर-पोर जलती है
मेरे बदन को मिला है चिनार का मौसिम।।

।। चिनार = प्रमुखतः काश्मीर में पाया जाने वाला एक वृक्ष जिसकी पत्तियाँ अक्टूबर-नवम्बर में रंग बदलकर लाल हो जाती हैं और फिर गिरने लगती हैं; इसके नाते यह कविसमय है कि उससे चिनगारियाँ झड़ती हैं। ।।

तो चूँकि सबको मालूम है कि यह शेर एक कमसिन और खूबसूरत लड़की का लिखा हुआ है इसलिए इसे तुरन्त काव्यजगत से निकाल कर कवि के बायोडाटा में उतार दिया जाता है जिसके चलते इस मर्दवादी सिद्धान्त के तहत कि 'औरत का बदन से ज़ियादा कोई वतन नहीं होता'[४४] एक ऐसी गुदगुदी की उम्मीद की जाती है जो, उदाहरण के लिए, परवीन शाकिर के वरिष्ठ समकालीन ज़फ़र इक़बाल के इस शेर से नहीं प्राप्त होती:

लौ दे उठीं फिसलती हुई उँगलियाँ ज़फ़र
वह आग थी खुले हुए रेशम के थान में।।

मैं इस 'बायोडाटावादी आलोचना' को ही परवीन शाकिर को 'खुशबू की कवि' के रूप में परिसीमित करने का उत्तरदायी मानता हूँ और आगे उनकी कविता पर बात करते हुए मैं यह दिखाने की चेष्टा करूँगा कि किस प्रकार इस आलोचना के दबाव के चलते परवीन शाकिर की कविताओं का पठन एकांगी रह गया है।

१. अनेक जगहों पर 'रिज़वी' की जगह 'ज़ैदी' लिखा मिलता है; यह ठीक नहीं है। सैयद शाकिर हुसैन भी अपनी छात्रावस्था में 'साक़िब' उपनाम से कविता करते थे और इसके नाते कुछ लोगों ने उनका नाम भूल से 'साक़िब हुसैन' भी लिख दिया है तथा 'शाकिर' को उनका उपनाम बताया है; यह भी ग़लत है।

२. इस नाम के नाते परवीन शाकिर के आइडेन्टिटी-कार्ड में उनका नाम Perveen B. Shakir मिलता है जिसके फलस्वरूप कुछ लोगों ने उनका नाम 'परवीन बेगम शाकिर' भी लिख दिया है। बचपन में उनके चंचल स्वभाव के नाते उन्हें घर में 'पारा' कहकर बुलाया जाता था, जिसका एक विरूपण 'पारो' भी प्रचलित था- यह बाद में भी पारिवारिक स्तर पर प्रचलित रहा।

३. पाकिस्तानी टी वी चैनल 'मेट्रो वन' का एक विडियो यू ट्यूब पर है जिसमें प्रस्तोता शमीम जावेद ने बताया है कि परवीन शाकिर का परिवार मूलतः बिहार में गया ज़िले के हुसैनाबाद क़स्बे का था। ऐसी कई सूचनाएँ अर्धसत्य हैं। मैंने मुख्यतः डॉ. ताहिरा सैयद के शोध-प्रबन्ध परवीन शाकिर और उनकी शाइरी पर भरोसा किया है जो श्रीनगर स्थित काश्मीर विश्वविद्यालय के उर्दू विभाग में पी.एच.डी. उपाधि के लिए २०१२ में जमा किया गया था और इन्टरनेट पर उपलब्ध है। डॉ. रूबीना शबनम की पुस्तक उर्दू ग़ज़ल की माह+ए+तमाम परवीन शाकिर से भी कुछ सहायता मिली है जो 'रेख़्ता' की वेबसाइट पर एक ई-बुक के रूप में उपलब्ध है।

४. इन पत्रों का संग्रह 'रेख़्ता' की वेबसाइट पर एक ई-बुक के रूप में उपलब्ध है।

५. ये प्रसिद्ध उर्दू लेखक मुहम्मद हसन 'अस्करी' से भिन्न हैं जिनके नाम में 'अस्करी' चुना हुआ लेखकीय उपनाम था और इस चुनाव के नाते कुछ लोग जिनके बारे में यह अनुमान करते हैं कि ये शीआ रुजहान के थे यद्यपि ये देवबन्द के प्रसिद्ध मौलाना अशरफ़ अली थानवी के अनुयायी थे और इस नाते यह सम्भव नहीं लगता। यहाँ यह जान लेना ठीक रहेगा कि शीआ इमामों में ग्यारहवें इमाम का नाम 'हसन अस्करी' है और यह नाम शीआ परिवारों में एक बहु-प्रचलित नाम है।

६. इन लेखों का संग्रह गोशा+ए+चश्म नाम से प्रकाशित हो चुका है।

७. यदि ऐसा ही है तो शायद यह अहमद नदीम क़ासिमी की सिफ़ारिश से हुआ होगा जिनका संरक्षण परवीन को प्रारम्भ से प्राप्त था और जो ज़िया उल हक़ के शासनकाल के समय उसके निकटवर्ती माने जाते थे।

८. यह मुशाइरा दिल्ली में ११ मार्च १९७८ को आयोजित शंकर-शाद मुशाइरा है जिसमें परवीन शाकिर आमन्त्रित थीं और जिसमें उनकी भेंट अनेक भारतीय शाइरों से हुई थी।

९. यह कलीम आजिज़ साहब के प्रथम काव्य-संग्रह का नाम है जो १९७६ में छपा था।

१०. छपे हुए पत्र में यहाँ कुछ बिन्दियाँ ही दी गयी हैं।

११. मेरा ख़याल है इसके आगे 'साहब' होगा जो छपने से रह गया है।

१२. देखिए thewire.in पर २१ फ़रवरी २०२० को प्रीति गुलाटी का लिखा लेख Charged by the Police in Five States, But Who Indeed is Sharjeel Imam? शीर्षक लेख।

१३. नाम से ऐसा प्रतीत होता है कि यह पत्रिका स्त्रियों के लिए थी। इस साक्षात्कार से उद्धरण मैंने सैयद एहतशाम हुसैन टाँडवी की पुस्तक परवीन शाकिर ग़ज़ल के आइने में से लिए हैं।

१४. 'समाहार-द्वन्द्व' उस द्वन्द्व समास को कहते हैं जिसमें समास बनाने वाले दोनों अवयव अपनी इयत्ताओं को अस्फुट रखते हैं; इसके विपरीत 'इतरेतर-द्वन्द्व' वह समास होता है जिसमें दोनों अवयवों की इयत्ताएँ स्फुट रहती हैं।

१५. अलमदारी (= झण्डा उठाना; इस शब्द का शीआ सन्दर्भ में विशेष महत्व है क्योंकि सातवीं मुहर्रम के जुलूस में हज़रत अब्बास के शौर्य की स्मृति में अलम लेकर चला जाता है।

१६. प्रायः यह बताया जाता है कि नसीर अली फ़ौज में ही डॉक्टर थे किन्तु परवीन द्वारा नज़ीर सिद्दीक़ी को लिखे गये पत्रों से यह स्पष्ट है कि यह नौकरी सिर्फ़ एक साल की थी तथा फिर कराची ही लौटना हुआ जहाँ नसीर अली ने प्राइवेट प्रैक्टिस प्रारम्भ की।

१७. इस घटना का उल्लेख डॉ. ताहिरा सैयद ने किया है। तनवीर अली इन्जीनियर थे और कोयले की खान में हुई एक दुर्घटना में मारे गये थे। आश्चर्य है कि नज़ीर सिद्दीक़ी को लिखे पत्रों में परवीन ने इसका उल्लेख नहीं किया जबकि अपनी ख़ाला की मौत का किया है।

१८. मुझे लगता है यह वाक्य ग़लत छप गया है फिर भी मैंने इसे जस-का-तस उद्धृत कर दिया है। तात्पर्य को प्रसंग से समझने में कोई कठिनाई नहीं होनी चाहिए।

१९. यह उद्धरण मैंने (पाकिस्तानी उर्दू के 'ने' सहित) जस-का-तस डॉ. ताहिरा सैयद की पूर्वोल्लिखित थीसिस के पृष्ठ ५३ से लिया है। अगर अहमद फ़राज के शब्द यही है तो हम कल्पना कर सकते हैं कि जब चालीस से ऊपर की उम्र में परवीन शाकिर को अपने लिए 'अधखिली कली' सुनना पड़ता था तो उन्होंने किन मुश्किलों को झेलते हुए अपना साहित्यिक जीवन इन शाइरों के बीच गुज़ारा होगा।

२०. यह इशारा इफ़्तिख़ार आरिफ़ के इस शेर की तरफ़ है:

घर की वहशत से लरज़ता हूँ मगर जाने क्यूँ
शाम होती है तो घर जाने को जी चाहता है।।

२१. ये पाकिस्तान की पूर्व विदेश-मन्त्री हिना रब्बानी ख़र के चचेरे भाई हैं।

२२. यह सूचना Khawar Mumtaz, Yameemaa Mitha, Bilquis Tahira की क़िताब Pakistan: Tradition and Change 2003 के पृष्ठ १६ पर दी गयी है। इसका सत्यापन मैं और कहीं से नहीं कर सका हूँ।

२३. पाकिस्तानी अख़बार The News के मंगलवार जनवरी २२, २००८ को प्रकाशित Parveen Shakir remembered शीर्षक समाचार के अनुसार परवीन शाकिर की चौदहवीं बरसी पर आयोजित एक शोक सभा में इस्लामाबाद के तत्कालीन Capital Development Authority के चेयरपरसन कामरान लाशारी ने परवीन शाकिर रोड का नामकरण घोषित किया। सूचना के अनुसार यह एक निजी आयोजन था और सीमा ख़ान के घर पर हुआ था।

२४. यह पाकिस्तान की पत्रिका चहार-सू के परवीन शाकिर विशेषांक में छपा था जो रेख़्ता की वेबसाइट पर मौजूद है।

२५. सैयद सादिक़ैन अहमद नक़वी (३० जून १९२३-१० फ़रवरी १९८७) का जन्म उत्तर प्रदेश के अमरोहा में हुआ था और ये विभाजन के बाद पाकिस्तान चले गये थे। ये पाकिस्तान के सर्वाधिक प्रसिद्ध चित्रकर्मी थे और एक अच्छे कवि के रूप में भी इनकी ख्याति है।

२६. फ़ैज़ अहमद फ़ैज़ जैसे वरिष्ठ और सुप्रतिष्ठित कवि की एक सर्वथा नयी कवि के प्रथम काव्य-संग्रह को लेकर ऐसी व्यंग्योक्ति कुछ आश्चर्य जगा सकती है। इसके पीछे परवीन शाकिर के उदय से फ़ैज़ की ख्याति के कुछ मलिन होने का भय नहीं था, बात कुल इतनी है कि परवीन शाकिर को आगे बढ़ाने वाले अहमद नदीम क़ासिमी थे और यद्यपि दोनों ही प्रगतिशील थे, फ़ैज़ का ख़ेमा और क़ासिमी का ख़ेमा परस्पर प्रतिद्वन्द्वी थे।

२७. पाकिस्तान में सरकारी तौर पर यह माना जाता है कि १९६५ की लड़ाई में पाकिस्तान ने भारत के ऊपर विजय प्राप्त की थी। इस उपलब्ध में वहाँ प्रतिवर्ष ६ सितम्बर को 'रक्षा-दिवस' मनाया जाता है; ६ सितम्बर १९६५ को भारतीय सेना लाहौर में घुसी थी और उसकी वापसी का श्रेय पाकिस्तान अन्तर-राष्ट्रीय प्रयासों को न देकर अपनी सेना की 'बहादुरी' को देता है। इस दिन जो आयोजन वहाँ होते हैं उनमें 'देशभक्ति की कविता' की भी एक प्रमुख भूमिका होती है और इस सिलसिले में विद्यार्थियों के लिए भी काव्य-प्रतियोगिताएँ आयोजित होती हैं।

२८. फ़हमीदा रियाज़ द्वारा सम्पादित पत्रिका आवाज़ पर ज़िया उल हक़ की सरकार ने चौदह मुक़दमे ठोंके थे जिनमें से एक मुक़दमे में मौत की सज़ा भी मुमकिन थी; वे ज़मानत पर थीं और फ़रार होकर भारत भाग आयी थीं (देखिए रुखसाना अहमद द्वारा प्रणीत We Sinful Women की भूमिका में फ़हमीदा रियाज़ का परिचय)। यह आश्चर्य का विषय है कि ज़िया उल हक़ के समय में फ़ैज़ अहमद फ़ैज़ द्वारा कुछ समय के लिए सोवियत यूनियन द्वारा प्रायोजित अन्तर्राष्ट्रीय पत्रिका Lotus का सम्पादन सँभालने के लिए लेबनान चले जाने को एडवर्ड सईद जैसे चिन्तकों द्वारा फ़ैज़ का 'निर्वासन' बताया जाता है और पाकिस्तानी तथा भारतीय बुद्धिजीवी भी ऐसा जताते हैं जैसे फ़ैज़ साहब ने यह नौकरी पकड़ कर कोई बहुत बहादुरी का काम किया हो। प्रगतिशील प्रचारतन्त्र की कीमियागरी के उदाहरणों की अन्तहीन सूची में एक प्रविष्टि यह भी है।

२९. यह भी बहार-सू के उसी विशेषांक में है जिसका उल्लेख ऊपर आया है।

३०. बारहवें इमाम अन्तिम इमाम हैं। ये अभी अज्ञातवास में माने जाते हैं और उनकी प्रकट उपस्थिति भविष्य के गर्भ में है।

३१. फ़ारसी-उर्दू साहित्य में हज़रत मुहम्मद की स्तुति में लिखी गयी कविता को 'नअ़त (जिसका उच्चारण 'नात'

होता है)', हज़रत अली की स्तुति में लिखी गयी कविता को 'मन्क़बत', और अन्य इमामों की स्तुति में लिखी गयी कविता को 'सलाम' कहते हैं।

३२. इस शीर्षक से परवीन शाकिर ने एक नज़्म लिखी है जो उन्होंने अमीर खुसरो को समर्पित की है। 'सिंघार' वस्तुतः 'सिंगार (= श्रृंगार)' है और परवीन शाकिर की कविता में सर्वत्र इसी वर्तनी में मिलता है।

३३. यह शब्द उर्दू में हिन्दू पौराणिक मिथक-सम्पदा के लिए प्रयुक्त होता है।

३४. यद्यपि ग़ालिब ने 'पाँव' ही लिखा है, अब उर्दू वाले 'पावँ' ही लिखते हैं।

३५. यह इशारा मीर तक़ी मीर के इस शेर की तरफ़ है:

जिस सर को ग़ुरूर आज है याँ ताज-वरी का
कल उस प. यहाँ शोर है फिर नौहागरी का।।

३६. मैं डॉ. बलराम शुक्ल का आभारी हूँ जिन्होंने इस लेख की कई त्रुटियों को सुधारने के अतिरिक्त मेरा ध्यान इस ओर दिलाया कि यह इशारा मीर तक़ी मीर के इस शेर की तरफ़ है:

मर्ग इक माँदगी का वक़्फ़ है
यअ़नी आगे चलेंगे दम ले कर।।

३७. यह शीर्षक किश्वर नाहीद की प्रसिद्ध कविता 'हम गुनहगार औरतें' से प्रेरित है।

३८. देखिए The New Yorker के २६ सितम्बर १९९३ वाले अंक में Bhutto's Fateful Moment शीर्षक से Marie Anne Weaver का लेख। यह इन्टरनेट पर मौजूद है।

३९. यहाँ 'अभिमान' से 'घमण्ड' न समझना चाहिए: इसे 'मैं-पन' समझना अधिक उचित होगा।

४०. यह कविता परवीन शाकिर के किसी संकलन में नहीं है और मैं इसे अन्यत्र भी कहीं से नहीं पा सका। ब्रिगेडियर सिद्दीक़ सालिक एक उपन्यासकार, व्यंग्य-कार, और संस्मरण-लेखक के रूप में जाने जाते हैं। ये उस सेना में मौजूद थे जिसने १९७१ में भारतीय सेना के आगे ढाका में समर्पण किया था और इनकी पुस्तक Witness to Surrender उस लड़ाई का एक प्रामाणिक दस्तावेज़ मानी जाती है। ये १७ अगस्त १९८८ को उसी विमान-दुर्घटना में मारे गये थे जिसमें ज़िया उल हक़ समेत कई पाकिस्तानी सैन्य अधिकारी मारे गये थे।

४१. 'ख़ाक-म ब-दहन = मेरे मुँह में ख़ाक' उस समय कहा जाता है जब किसी अपने से उच्च पद पर आसीन व्यक्ति से औद्धत्य-पूर्वक बात करने की विवशता आ गयी हो।

४२. पाकिस्तान में सैनिक शासनों को न्यायालय में वैध ठहराने के लिए Doctrine of Necessity का तर्क दिया जाता रहा है। ज़िया उल हक़ के शासन तक की कहानी को विस्तार से समझने के लिए देखिए १९८३ में Mark M. Stavsky का Cornell International Law Journal में छपा लेख The Doctrine of State Necessity in Pakistan; यह लेख इन्टरनेट पर उपलब्ध है। मोटे तौर पर इस सिद्धान्त का अर्थ यह होता है कि आवश्यकता पड़ने पर राज्य को ग़ैर-क़ानूनी क़दम उठाने का भी अधिकार है।

४३. यह संग्रह बाद में सदबर्ग नाम से छपा।

४४. सारा शगुफ़्ता पर अमृता प्रीतम की पुस्तक एक थी सारा (जिसका उर्दू संस्करण रेख़्ता ई-बुक के रूप में उपलब्ध है) में एक प्रश्न है: 'क्या औरत का बदन से ज़ियादा कोई वतन नहीं होता?' मेरा अनुमान है कि यह सारा शगुफ़्ता की किसी नज़्म से लिया गया है किन्तु मैं ठीक-ठीक पता नहीं लगा सका।

हवा में गाँठ
मणि साहब के साथ बिताये कुछ दिन

अमित दत्ता

मणि साहब की एक फ़िल्म का नाम है 'Monkey's Raincoat' (बन्दर की बरसाती), उसमें कहीं एक बच्चा बोल उठता है- There is no other! दूसरा न कोई अगर कृष्ण बलदेव वैद साहब के शब्दों में कहूँ या फिर कहें कि सब एक से ही निकले हैं, नाम अलग हो सकते हैं, यह दार्शनिक विचार है जो उनकी डच पत्नी से हुई सन्तान ने एक फ़िल्म के दौरान ऐसे ही सहज रूप से बोल दिया था। मणि साहब ने उस वाक्य के पीछे छिपे फ़लसफ़े को पहचाना जो वह उस फ़िल्म का मर्म बन गया। यह बात उन्होंने मुझे खुशी से बतायी थी। 'दूसरा खुद से होता है' अगर इसका यह अर्थ निकाला जाए तो मैं अपनी बात को अलग तरह से रखने की कोशिश करता हूँ। गोया दूसरा होता ही नहीं है। एक ज़ेन कहावत है- यह कौन परबत के पास जा रहा है? तुम या तुम्हारा मन? मेरे लिए मणि कौल इस कहावत के परबत थे।

किसी के बारे में लिखने से पहले खुद को फरोलना पड़ता है। यह इस कार्य की पहली शर्त है। दूसरे के बहाने हम खुद की बात भी सुना देते हैं। सुनने वाला सहृदय मिले तो ठीक वरना अपनी बात अपनी ही आत्मा के कान में डालने में भी रस है। मणि साहब को सीधे गन्तव्य की ओर भागती फ़िल्मों और एक ख़ास नतीजे के लिए की गयी बातचीत से गुरेज़ था इसलिए मुझे इस लेख में बार-बार विषय से भटकने से परहेज़ नहीं। पहले एक बात साफ़ कर दूँ- मैं मणि साहब की फ़िल्मों का तो हमेशा से मुरीद था पर उनकी अन्तरंग मित्र-मण्डली का हिस्सा नहीं था, बस संयोग से कुछ ऐसी परिस्थिति बनी कि मुझ जैसा एक अजनबी उनके जीवन की सबसे मुश्किल, महत्वपूर्ण और नाज़ुक घड़ी में उनके साथ था। पर फिर जैसा मणि साहब ने खुद ही बोला था, 'There is no other'। इसका मतलब यह भी तो निकाला जा सकता है- कोई अजनबी नहीं।

मणि साहब मूलतः कश्मीरी पण्डित थे पर उनको न कश्मीरी भाषा आती थी और न ही उनका रूप-रंग, चाल-ढाल, बोल-चाल कश्मीरियों की तरह थी। वे राजस्थान से थे और वहीं के लगते थे। एक बार मैंने उनसे इसके बारे में पूछा तो उन्होंने बताया कि वह 'बास' यानी बासी काशमिरी हैं।

कश्मीर घाटी से पण्डितों के पलायन की कई लहरें हैं। उनका पलायन पुराना है, शायद औरंगजेब के ज़माने का। जो कश्मीरी घाटी से बाद में आये उन लोगों को 'ताज़' कश्मीरी कहा जाता है, उनको भाषा आती है। 'बास' कश्मीरियों ने लाहौर में कांफ्रेंस की थी जिसमें कहा गया था कि चूँकि हम बाहर आ गये हैं, अब हमें अपनी भाषा त्याग कर उर्दू और फ़ारसी अपना लेनी चाहिए; इसी भाषा में हमें नौकरियाँ मिलेंगी। मणि साहब के पूर्वज भी राजस्थान के रजवाड़ों के यहाँ दीवान या ऐसे ही कोई काम करते रहे थे। उनके पिता जी को फ़ारसी आती थी। एक दिन उन्होंने मुझे हँसते हुए बताया कि पिताजी फ़ारसी बोलने के बड़े शौक़ीन थे, हम भी समझते थे उनको खूब फ़ारसी आती है। 'एक दिन कुछ ईरानी हमारे घर आये तो पिताजी ने उनसे फ़ारसी में बात करनी शुरू कर दी, तमाम कोशिशों के बाद भी वे बेचारे कुछ भी समझ नहीं पा रहे थे', ऐसा कहकर मणि साहब बड़े ज़ोर से हँसे। यह भी कमाल की बात थी कि इस नयी-नयी सीखी ज़बान में यानी उर्दू, फ़ारसी में कविता करने वाले कई कश्मीरी पण्डित बड़े जल्द ही प्रसिद्ध हुए जिनमें दया शंकर कौल नसीम (१८११-१८४५), त्रिभुवन नाथ सप्रू हिज्र (१८५३-१८६२), ब्रिज मोहन दत्तात्रे (१८६६-१६५५), ब्रिज नारायण चकबस्त (१८८२-१६२६) प्रमुख हैं। दया शंकर कौल नसीम को अमजद अली शाह की फ़ौज में 'बख़्शीगरी' का पद मिला था। इनकी मसनवी 'गुलज़ार-ए-नसीम' इतनी प्रसिद्ध हुई कि एक मौलाना साहब को शक हो गया यह नौसिखिए इतनी अच्छी उर्दू में ऐसी शायरी कैसे कर रहे हैं? पक्का कुछ गड़बड़ है। उन्होंने उन पर इल्ज़ाम लगा दिया, जिसका बचाव एक और कश्मीरी पण्डित ब्रिज नारायण चकबस्त ने बखूबी किया, यह बहस इतनी मक़बूल हुई की अपने समय में ही एक पुस्तक का विषय बन गयी। मणि साहब के सन्दर्भ में यहाँ पर इनके कुछ शेर पेश करने का मन हुआ है:

पहले दयाशंकर कौल नसीम के कुछ शेर :

समझा है हक़ को अपने ही जानिब हर एक शख़्स
ये चाँद उस के साथ चला जो जिधर गया

चला दुख़्तर-ए-रज़ को ले कर जो साक़ी
फ़रिश्ता हुए साथ घर देखने को

ब्रिज नारायण चकबस्त के लेखन के कुछ नायाब नमूने (उन्होंने रामायण के कई दृश्य भी नज़्म किये थे) :

रामायण का एक सीन:

रुख़्सत हुआ वो बाप से ले कर खुदा का नाम
राह-ए-वफ़ा की मंज़िल-ए-अव्वल हुई तमाम

मंज़ूर था जो माँ की ज़ियारत का इन्तिज़ाम
दामन से अश्क पौंछ के दिल से किया कलाम

ये कुछ ख़ास शेर देखिए :

फ़िदा वतन पे जो हो, आदमी दिलेर है वह
जो यह नहीं तो फ़क़्त हड्डियों का ढेर है वह

- - - - - - - - - - - - - - -

कश्ती-ए-फ़िक्र बही जाती है जमुना की तरफ
दिल मेरा खीच रहा है मुझे मथुरा की तरफ

- - - - - - - - - - - - - - -

ये आबरू तो हजारों बरस में पायी है
न यूँ लुटाओ, कि ऋषियों की यह कमाई है

जो चुप रहे तो हवा क़ौम की बिगड़ती है
जो सर उठाये तो कोड़ों की मार पड़ती है

इन शेरों का कुछ असर मणि साहब पर भी पड़ा था । वे बार-बार कहते थे कि वे कश्मीर घाटी से सदियों से होते इस पलायन पर एक फ़िल्म बनाना चाहते हैं। पहले पलायन से लेकर आख़िरी यानी ८९-९० के पलायन तक, जब लगभग सारे ही कश्मीरी पण्डित भाग कर पूरे हिन्दुस्तान के अलग-अलग हिस्सों में जा बसे थे। जब यह आखिरी पलायन हुआ था तब मैं ११-१२ साल का था। ग़रीब कश्मीरी पण्डितों का एक शरणार्थी शिविर शहर के बाहर लगा था जो मेरे स्कूल से पास ही था। कई कश्मीरी लड़के और लड़कियाँ मेरी कक्षा में पढ़ने लगे थे। यह लोग पढ़ने में तेज़ होते थे। मेरी कक्षा में मेरे साथ पढ़ती एक कश्मीरी पंडित लड़की ही मुझे अंग्रेज़ी के दुर्लभ उपन्यास व इतिहास की क़िताबें उपलब्ध करवाती थी । जम्मू में इनको ज़्यादातर इनके गुणों के कारण प्रशंसा व आदर की दृष्टि से ही देखा जाता था पर कभी-कभी कुछ लोग 'ओये काशमिरी लोले' कह कर इनका अपमान कर दिया करते थे-इसका मतलब होता था घाटी से डर कर भाग आये, डरपोक और कमज़ोर लोग। पर मणि साहब वैसे नहीं थे, उनका शरीर बलिष्ठ, आवाज़ रौबदार थी। हमारे एक अध्यापक भी कश्मीरी थेः ठुस्सु सर। वे हमें गणित पढ़ाते थे। हमने सुन रखा था कि वे गणित के बहुत बड़े विद्वान हैं। उनको बाहर के देशों में बहुत माना जाता है। ठुस्सु सर सेवानिवृत्त हो चुके थे, काफ़ी बूढ़े थे पर चूँकि पलायन के बाद उनको पैसों की ज़रूरत थी इसलिए इस छोटे से स्कूल में हम जैसे छोटी कक्षाओं के बच्चों को पढ़ाने आते थे। ठुस्सु सर बहुत गुस्सैल थे, छोटी-छोटी बात पर बिगड़ जाते थे। वे भुलक्कड़ किस्म के थे, इसलिए बच्चे उन्हें बड़ा तंग करते थे। वे बच्चों की शरारतों से जल्द ही चिढ़

जाते और अपनी बेल्ट खोल कर इधर-उधर मारने लगते। बच्चे उनकी इस हरकत पर और ज़ोर-ज़ोर से हँसने लगते। न ही हमें कभी उनकी बेल्ट लगती थी और न ही हमें उनसे डर लगता था। ठुस्सु सर का ज़िक्र मैं यहाँ इसलिए लाया क्योंकि उनकी शक्ल मणि साहब से मिलती थी पर मणि कौल से आपको डर लग सकता था।

मणि साहब बिस्तर पर लेट कर पुरानी ब्रज की क़िताबें पढ़ते थे। एक दिन मुझे पास बुला कर पूछते हैं, क्या तुम्हें यह भाषा समझ में आती है? इसके बाद उन्होंने क़िताब से कुछ पंक्तियाँ पढ़ीं। मुझे कुछ भी समझ में नहीं आया। मणि साहब हँसे और उन पंक्तियों का मतलब समझाया। इसके अलावा वे कश्मीरी कवयित्री लल्ल-द्यद के कविताओं को बहुत पसन्द करते थे और अक्सर उनका पाठ करते थे, ख़ास कर घड़ा टूटने वाली घटना का वर्णन; जब लल्ल-द्यद के पति ने उनके घड़े पर लाठी से वार किया और पानी घड़े के आकार में ज्यों का त्यों रहा। बचा हुआ पानी लल्ल ने फेंक दिया; उससे एक जल-कुण्ड बना जो ललत्राग के नाम से जाना गया। इस वक़्त मेरे दिमाग में लल्ल की वह कविता आ रही है जो उन्होंने मुझे पहली बार सुनायी थी :

परुन स्व लभ पालुन द् वर्रलभ,
सहज गारुन् सिखिम त क्रूठ।
अभ्यासकि गनिरै शास्त्र मोठुम्,
चीतन आनन्द निश्च्य गोम्।।

जया कौल ने इसका अनुवाद इस तरह किया है :

'पढ़ना सुलभ है, पर उसका पालन करना दुर्लभ, स्वात्म की खोज सूक्ष्म और कठिन है। अभ्यास के घनेरे में सब शास्त्र भूल बैठी। दृढ़-निष्ठा के बल पर फिर भी मुझे चेतन-आनन्द की प्राप्ति हुई।'

मणि साहब का सपना था कि वह लल्ल पर फ़िल्म बनाएँगे। शायद उन्होंने स्क्रिप्ट भी लिख रखी थी। मणि साहब हमेशा खुद की खोज करने को कहते थे, पहले अपने आपको जानो फिर अपने स्वभाव को जानो। आपकी ग़लतियों में ही आपका स्वभाव छुपा हुआ है। एक दिन बातों-बातों में मणि साहब ने पूछा, 'क्या तुम जम्मू के दत्त, मोहयाल हो?' मैंने जब हाँ में सिर हिलाया तो उन्होंने बताया, 'औरंगज़ेब के ज़माने में कश्मीरी पण्डितों का एक जो जत्था इस्तिखार खान से परेशान होकर फ़रियाद लेकर गुरु तेग़ बहादुर जी के पास आया था, उस जत्थे की अगुआई करने वाला और वो अर्ज़ी लाने वाला किरपा राम दत्ता बाद में वह किरपा सिंह बनकर चमकौर की लड़ाई में शहीद हुआ। उनकी बही भी मैंने देखी है।' मुझे उनकी ये सब बातें सुनकर अपने बारे में भी जिज्ञासा हुई। 'हमारी कहानी अजीब है; हम लोग हुसैनी ब्राह्मण भी कहलाते हैं, मेरे परदादा केशधारी सिख थे जो अंग्रेज़ों के ज़माने में

काँगड़ा घाटी में स्टेशन-मास्टर थे', मैंने जोश में थोड़ी अपनी कही। मैं कौन हूँ? जम्मू से ही हूँ कि कहीं और से? सच कहूँ तो मुझे अपने बारे में ज़्यादा कुछ नहीं पता था। मैंने घर पर थोड़ी पूछताछ की तो पता चला कि हम भी कई बार विस्थापित हुए थे- ४७ में जफ़्फरवाल सियालकोट से, जो डुग्गर प्रदेश की पुरानी हद मानी जाती है, वहाँ से मनावर (जम्मू) में आये जहाँ मेरी दादी के पिता रहते थे। ६५ की लड़ाई में भाग कर जम्मू आए, फिर वापिस गये और ७१ की लड़ाई में मनावर का पूरा इलाक़ा ही पाकिस्तान में चला गया, जो आज भी उनके पास है, और उनके आज़ाद कश्मीर का हिस्सा है। हमें जम्मू से ३० किलोमीटर दूर बजपुर नामक कण्डी इलाके में कुछ एक मरले जगह तिरपाल के तम्बू लगाने के लिए दे दी गयी और फिर बाद में उसी जगह पर हमारे पक्के मकान बने। हमारी कालोनी का नाम 'रफ़ूजी कालोनी' था। कुछ सालों बाद वहीं पर मेरा जन्म हुआ और पुणे के फ़िल्म संस्थान आने तक मैं वहीं पर अपने उसी एक कमरे के मकान में रहा। गाँव में हमारी कक्षा में तीन सोनू थे, एक गुड़ा नामक जगह का - गु'ड़े आला सोनू', एक बाड़े का 'बाड़े आला सोनू' और मैं चूँकि टेण्ट से आता था मुझे कहा जाता था 'टेंटें आला सोनू'। टेण्ट मेरे शरणार्थी होने का सूचक था। वहीं पर पढ़ाई करते हुए, दूरदर्शन पर संयोग से एफ.टी.आई.आई. की डिप्लोमा फ़िल्में देखने के बाद फ़िल्म संस्थान के बारे में पहली बार पता चला था। स्कूल के बाद मैंने जम्मू के प्रसिद्ध गाँधी मेमोरियल साइंस कॉलेज में दाखिला पाया था। वहाँ पहले मैंने जीव-विज्ञान पढ़ने की कोशिश की फिर इलेक्ट्रॉनिक्स वैसे शतरंज, नाटक, संगीत, यह सब सीखते-सिखाते वहाँ दिन निकलते थे। यह वही कॉलेज था जो पहले प्रिंस ऑफ़ वेल्ज़ के नाम से जाना जाता था और यहीं पर ३६ भाषाओं के ज्ञाता, पहली पहाड़ी डिक्शनरी बनाने वाले सिद्धेश्वर वर्मा ने भी कभी पढ़ाया था। मुझे उनका पता वासुदेव शरण अग्रवाल जी के चालीस के दशक के एक पत्र से चला था जिसमें उन्होंने लिखा था कि उन्हें अपनी जनपदीय मुहिम का एक साथी, महान विद्वान जम्मू में मिला है जिसका नाम सिद्धेश्वर वर्मा है। साइंस कॉलेज में कई कमाल के दोस्त मिले जिनमें मोहित और शब्बीर मेरे क़रीब थे। इनके घर पर कई बार ठहरा। दोनों जम्मू के बाहर पढ़ने के सपने देखते थे। बाद में मोहित का चण्डीगढ़ के नाटक विभाग में चयन हो गया। साइंस कॉलेज में पढ़ते हुए हम तरह-तरह की परीक्षाओं की तैयारी करते थे। एक दिन मैं उसके तिकोने कमरे में बैठा सोच रहा था, क्या करूँ कि वह बोला, 'आज फ्रेंच कांसुलेट में एक फ़िल्म लगी है जाकर देख आ, मेरी तो आज क्लास है, नहीं जा पाऊँगा। मेरी प्रोफ़सर बोल रही थी कि गोदार्द नाम का फ़िल्मकार है, वह कह रहीं थी कि उसकी फ़िल्म देखो तो ऐसा लगता है किसी ने दर्शकों बीच बम फेंक दिया हो। मेरा मन तो बहुत था जाने का पर जा नहीं पाऊँगा पर तू ज़रूर जा, तुम एफ.टी.आई.आई. जाने की सोच रहे हो, तुम्हें यह सब देखना चाहिए।' उसकी यह सब बातें सुनकर तीव्र जिज्ञासा हुई और हिम्मत करके वहाँ चला गया। रास्ते का पता नहीं था। चण्डीगढ़ वैसे भी ख़ाली-ख़ाली सा शहर है। किसी से पूछने में भी बहुत दिक्कत होती थी। ख़ैर पहुँचने में थोड़ी देर हो

गयी। बाहर बहुत भीड़ थी कुछ लोहे के गोले वाले 'पिताक' नामक फ्रेंच खेल, खेल रहे थे। अन्दर भागता हुआ पहुँचा कि शायद सीट न मिले। सिनेमा हॉल के बाहर एक आदमी अपनी कमर पर हाथ धरे खड़ा था। मैंने हाँफ़ते हुए थोड़ी हिचकिचाहट से पूछा कि क्या फ़िल्म शुरू हो गयी है?

उसने वापिस पूछा- 'कर दूँ?'

'यानी?'

'एक भी दर्शक नहीं आया है। अब तुम आये हो तो चला देता हूँ।' तब मैंने अपने जीवन में पहली बार गोदार्द की कोई फ़िल्म देखी। उस फ़िल्म का नाम 'अल्फ़ाविल' था। कमाल की फ़िल्म थी। बेहतरीन सोलह मिलीमीटर का प्रिन्ट। मैंने वापिस होस्टल में जाकर इसकी खूब तारीफ़ की। और मोहित को बोला कि यार उसने तो वाक़ई दर्शक-दीर्घा में बम फेंक दिया। बस फ़र्क़ इतना ही है कि दर्शक-दीर्घा में मैं ही अकेला बैठा हुआ था। मोहित हँसा और बोला कि प्रोफ़ेसर ने एक और फ़िल्मकार के बारे में बताया था- मणि कौल, मैंने उनकी कोई फ़िल्म नहीं देखी है पर वह कह रहीं थी कि अगर गोदार्द की फ़िल्म बम है तो इनकी स्लीपिंग गैस-सारे दर्शक सो जाते हैं। बात आयी गयी हो गयी, संस्थान जाने से पहले मैं मणि साहब के बारे में बस इतना ही जानता था। मोहित ने ही मुझे पुणे के फ़िल्म संस्थान का परिचय-पत्र लाकर दिया था और फिर किसी वजह से पहली ही कोशिश में मेरा दाखिला भी हो गया। जब मेरा दाखिला हुआ, मैंने ख़ुशी-ख़ुशी में अपने एक दोस्त को बताया जो कॉलेज में अक्सर मेरे साथ शतरंज खेलता था। पता नहीं इस ख़बर से उसको इतना गुस्सा क्यों आया, बोला क्या इतना ख़ुश हो रहा है, वहाँ तुम्हें असरानी पढ़ाएगा-तुम्हारा प्रोफ़ेसर असरानी होगा, ऐसा कहकर उसने उसकी 'शोले' फ़िल्म का कोई डायलॉग बोला और उसके आस-पास के लोग ज़ोर-ज़ोर से हँसने लगे। वैसे यह भी मज़ेदार संयोग है कि असरानी मणि साहब के सहपाठी थे और जयपुर से ही थे। मणि साहब ने मुझे बताया था कि जब वे एफ.टी.आई.आई. से निकल कर बम्बई गये थे तो कुछ दिन असरानी के साथ ठहरे थे।

मणि साहब से मिलने से पहले मैं उनकी फ़िल्मों से मिला। पुणे के फ़िल्म संस्थान में दाख़िला लेने के बाद कई महीनों तक उनकी कोई फ़िल्म नहीं दिखायी गयी। वैसे मैं भी मणि साहब के बारे में लगभग भूल ही गया था। वही कोर्स की फ़िल्में थीं। अभी हाल में ही संस्थान ने मुझे संस्थान के अपने संस्मरण लिखने को बोला था, उसमें मैंने इसके बारे में लिखा है :

'पता नहीं किन कारणों से, उम्मीद के बिलकुल विपरीत मेरा दाख़िला हो ही गया और कुछ ही महीनों बाद मैं संस्थान के गेट के बाहर अपना सामान लेकर खड़ा था। अन्दर मेन-थिएटर के बाहर छायांकन का एक छात्र किसी सैनिक की तरह लकड़ी का ट्राइपॉड कंधे पर लादकर खड़ा था और उसके पीछे काले बोर्ड पर यह सूचना सफ़ेद खड़िया से अंकित थी-कल रॉबेट ब्रेसाँ गुज़र गये। पहले ही हफ़्ते

में प्रोफ़ेसर सुरेश छाबरिया जी की 'फ़िल्म एप्रीसिएशन' विषय पर क्लास हुई। पर यह क्या? छाबरिया जी तो फ़िल्मों के बजाय अपने स्लाइड-शो में चित्रकला का इतिहास बताने लगे! पहले पश्चिम, फिर जापानी-चीनी और अन्ततः भारतीय। मैं चौंक गया! यह क्या कनेक्शन बिठा दिया जनाब ने? उस स्लाइड-शो में एक तस्वीर नैनसुख की भी थी। छाबरिया साहब ने अपनी मेज़ के सामने एक बोर्ड पर मणि कौल की फ़िल्म 'सिद्धेश्वरी' के कुछ फ़्रेम बड़े सुन्दर तरीके से प्रिंट करवा कर लगा रखे थे। वे फ़्रेम ऐसे थे कि किसी ने चलती रील से उतार लिये हों। उनसे पूछा तो उन्होंने सिद्धेश्वरी और संगीत और चित्रकला पर कुछ कहा और मेरी उत्सुकता देखकर आश्वासन दिया कि चूँकि फ़िल्म आर्काइव के पास मणि साहब की फ़िल्मों के बहुत ही सुन्दर प्रिंट हैं, वे इसी हफ़्ते यह फ़िल्म दिखाएँगे और साथ में 'माटी मानस' भी। जब मैंने पहली बार यह दोनों फ़िल्में देखीं, उनमें हिन्दुस्तानी शास्त्रीय संगीत, लोकगीत, लोककथाएँ, चित्रकला, मिट्टी और सिनेमा पर विशुद्ध भारतीय तरीक़े का विचार देखकर तो जैसे दिमाग को एक झटका-सा लगाः क्या ऐसे भी फ़िल्में बनायी जा सकती हैं?'

इसके बाद मणि साहब की फ़िल्में देखने का अवसर न हुआ। फ़िल्में आती जा रही थीं और हमें उनकी और फ़िल्में देखने का बहुत मन हो रहा था तभी मेरे एक दोस्त को किसी तरह से पता चला कि राष्ट्रीय फ़िल्म आर्काइव जो संस्थान से कुछ ही दूरी पर था-वहाँ आप कुछ पैसे देकर किसी भी फ़िल्म की वी.एच.एस. कॉपी को किराए पर लेकर वहीं उनके बूथ में बैठकर देख सकते हैं। हम दोनों ने फैसला किया कि आधे-आधे पैसे डालकर मणि साहब की पहली फ़िल्म 'उसकी रोटी' देख ली जाए। उस फ़िल्म को देखने के दौरान क्या हुआ, उसको बाद में बताता हूँ, पहले मेरे दोस्त के बारे में कुछ सुन लीजिए। दोस्त फ़िल्म को लेकर बहुत ज़्यादा संजीदा था और अपनी प्रज्ञा को लेकर भी। रोज़ शाम को नहाता, खूब टेलकम पाउडर लगाकर सार्त्र की सबसे मोटी क़िताब- 'बीइंग एंड नथिंगनेस' उठाकर बाहर हॉस्टल की बालकनी में बैठ जाता। यही दोस्त बूथ में मेरे साथ बैठा और फ़िल्म शुरू हुई। मणि साहब तो समय के साथ खेलने लगे-एक लड़की ने पेड़ पर पत्थर मारा और पत्थर जब नीचे गिरना चाहिए, उससे कुछ देर बाद गिरा। लड़की का हाथ नीचे इन्तज़ार कर रहा है, और फिर कुछ रुककर अचानक अमरूद गिरा। यह देखकर मेरे दोस्त के सब्र का बाँध टूट गया। वह चिल्लाया, अरे यार यह तो एडिटिंग ही नहीं कर रहा है, हमारी फ़िल्म-मेकिंग को ख़राब कर देगा, रहने दे बन्द कर दे, यह तो फ़्लैश-फ़्रेम भी रख रहा है यार, बन्द कर दे। मैंने थोड़ी-बहुत गुज़ारिश की कि यार इतने पैसे दिये हैं, पर वो इतनी तैश में था कि मैंने उससे और बहस नहीं की। हम फ़िल्म बन्द करके वापिस आ गये। वैसे ठीक ही किया, वी.एच.एस. प्रिंट इतना खराब था कि उस पर यह फ़िल्म देखना एक पाप ही होता, खासकर छायांकन के हिसाब से। के.के. महाजन की शानदार श्वेत-श्याम फोटोग्राफ़ी को जब हमने बाद में सेल्युलाइड पर देखा तो उसकी बात और ही थी। उस दौरान मणि साहब की जिस एक फ़िल्म ने मुझ पर सबसे ज़्यादा प्रभाव डाला वो थी 'बीफ़ोर माई

आइज़', कश्मीर पर्यटन के लिए बनायी हुई फ़िल्म, जिसमें मुझे लगा कि मणि साहब कश्मीर के शैव परम्परा के अति सूक्ष्म ग्रन्थ 'विज्ञानभैरव' के सब रहस्यमयी सूत्र सिनेमा में ले आये हैं और उनका जापान की हाइकु परम्परा के साथ सुन्दर मिश्रण हो गया है। बाद में वह ख़ुद एफ.टी.आई.आई. जब पढ़ाने आये थे (दूसरे साल के छात्रों को) उनके साथ फ़िल्म देखने के बाद हम बाहर ढाबे पर खाना खाने गये थे। सब लोग टिशू-पेपर से एक साथ अपनी-अपनी थालियाँ साफ करने लगे थे। मणि साहब हँसे और बोले की ऐसा लग रहा है कि यहाँ पर कोई तान्त्रिक क्रिया चल रही है। संस्थान का एक छात्र (जिस कक्षा को मणि साहब पढ़ा रहे थे) मेरे कान में फुसफुसाया, कौल कश्मीरी तान्त्रिकों का कुल है-अभिनवगुप्त पढ़ता हूँ मैं, मणि साहब मेरे गुरु हैं। मुझे उसकी बात दिलचस्प लगी। तब एक और मज़ेदार घटना हुई। उन दिनों मणि साहब अपनी फ़िल्म 'सिद्देश्वरी' का एक डायलॉग बहुत सुनाते थे-उसमें जब सिद्धेश्वरी को उनके गाने के बारे में कोई प्रश्न पूछा जाता है तो वे जवाब में, 'हम नहीं जानते कौन गा रहा है' कहती हैं। उनकी कक्षा के छात्रों ने इस एक दार्शनिक उक्ति को कण्ठस्थ कर लिया था और मौके-बेमौके उसे इस्तेमाल करते थे। इस छात्र से (जो उस वक़्त अपने मन में जो अभिनवगुप्त के सानिध्य में बैठा शराब पी रहा था और बहकने लगा था) वहाँ बैठे प्रोफ़ेसर छाबरिया ने यह पूछने की ग़लती कर ली कि वह आजकल किस असायन्मेंट पर काम कर रहा है, क्या बना रहा है, विषय क्या है? लड़के ने पहले तो उनकी तरफ टेढ़ी आँखों से देखा, मुस्कुराया, फिर मणि साहब की ओर मुखातिब होते हुए ज़ोर से लड़खड़ाती आवाज़ में बोला, 'मणि साहब, हम नहीं जानते कौन फ़िल्म बना रहा है?' सब लोग हँसने लगे। इतने में उसका एक सहपाठी दूसरे के कान में फुसफुसाया, 'कल जब इसकी शराब उतरेगी, इसे अपने नम्बरों की चिन्ता होगी क्योंकि नम्बर तो इसी प्रोफ़ेसर को देने हैं'। मणि साहब गाहे-बगाहे ऐसी उक्तियों और अभिनवगुप्त की कई पंक्तियों से छात्रों को नवाज़ते रहते थे। इसलिए संस्थान में अभिनवगुप्त को पढ़ने का रिवाज़ चल पड़ा। मेरा भी मन हुआ अब यह मुसीबत आन खड़ी हुई है तो उसे पढ़ें तो किस भाषा में? मूल संस्कृत में है, जो आती नहीं। उसका हिन्दी अनुवाद पढ़ो तो हिन्दी वालों ने उस हिन्दी को संस्कृत से भी मुश्किल भाषा और फ़ॉर्मैट में लिख रखा है। मेरी अपनी मातृभाषा डोगरी है, मेरी दादी को सिर्फ़ उर्दू ही आती थी, उनके पिता जी फ़ारसी बोलते थे, मेरे फूफा उर्दू के शायर थे, डोगरी वाले पंजाबी तो समझते ही हैं, पंजाबी भी समझ लेता था पर इस सबसे अभिनवगुप्त पढ़ना सम्भव नहीं। तब पता चला कि अभिनवगुप्त को समझने का सबसे आसान तरीक़ा मणि साहब को सुनना ही है। उन दिनों मेरा एक अमेरिकी दोस्त बना था जो हॉर्वर्ड में पढ़ता था। वह शूटिंग के सिलसिले में भारत आया था और मुझ से थोड़ी मदद माँगी थी। मैंने मदद कर दी तो ख़ुशी से फ़ीस के बारे में पूछने लगा। मैंने बोला की पैसे तो मैं क्या ही लूँगा, तुम हॉर्वर्ड से अभिनवगुप्त की क़िताबें भेज दो। सुना है पाँच या छह हज़ार की क़िताब है। उसने कहा, 'ख़ुशी से!' हॉर्वर्ड से उसने जो क़िताबें भेजी, उनमें से मैंने थोड़ा बहुत पढ़ा

है। वह मणि साहब को भी जानता था। मणि साहब कुछ दिन हॉर्वर्ड में पढ़ाते रहे थे और संयोग से मेरा यह दोस्त उनका सबसे क़रीबी शागिर्द हुआ। वे जब फ़िल्म संस्थान आये तो उसने कहा कि अगर हो सके तो वहाँ मेरे दोस्त अमित से ज़रूर मिलिएगा। अभिनवगुप्त की वे कई पंक्तियाँ मणि साहब और इन क़िताबों के संयोग से मेरे मन में अभी भी बैठी हुई हैं। उनके अनुसार कौल गुरुओं ने अपने शास्त्रों के प्रसारण के उद्घाटन और रखरखाव में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी थी। इसमें मौखिक शिक्षण (गुरुमुख) पर ज़ोर था। मुझे याद है कि एक बार मणि साहब ने मुझ से थोड़ा ख़फ़ा होकर कहा था कि अमित तुमने ज्ञान सिर्फ़ पढ़ा ही है, सुना नहीं है।

मणि साहब बहुत सालों बाद विदेश से लौटे थे। मेरी पढ़ाई लगभग समाप्त हो चुकी थी। उन दिनों उनके साथ काम कर चुके वरिष्ठ फ़िल्मकार कमल स्वरूप भी आये हुए थे। उन्होंने मेरी डिप्लोमा फ़िल्म देखी थी जो उनको थोड़ी-बहुत पसन्द आयी थी। मुझे किसी ने बताया कि वे अचानक एक दिन मणि साहब की कक्षा में जाकर खड़े हो गये और ज़ोर से बोले अमित की डिप्लोमा फ़िल्म देखो। मणि साहब मुस्कुराए और बोले, ठीक है आज दोपहर को ही देखते हैं। मुझे सन्देशा आया कि दोपहर के बाद कमल स्वरूप और मणि कौल तुम्हारी फ़िल्म देखेंगे-इन्तज़ाम करो। मैंने जो भी फ़िल्में बनायी थी, उनके प्रिण्ट लेकर संस्थान के मेन-थियटर पहुँच गया। और फिर वो ऐतिहासिक घड़ी भी आ गयी जब मणि कौल और कमल स्वरूप ने एक साथ बैठकर मेरी फ़िल्म देखी। फ़िल्म खत्म होने के बाद मणि साहब ने ज़्यादा कुछ नहीं बोला, थोड़ा मुस्कुराए और फिर उठ कर चले गये। थोड़ी देर बाद मुझे एक और सन्देश आया कि कल एक बार फिर देखेंगे; छात्रों के साथ। फिर से फ़िल्में देखी गयीं। इस बार उन पर थोड़ी बहुत विवेचना भी हुई पर सच कहूँ तो उनकी प्रतिक्रिया उतनी उत्साहवर्धक नहीं थी। मसलन मणि साहब बोले कि एक तरफ तो कमर्शियल सिनेमा है और दूसरी तरफ़ तुम एकदम इक्स्ट्रीम में चले गये हो। मेरी पहली मुलाक़ात इतनी ही थी। दो-एक साल बीत गये। एक दिन मेरे हॉर्वर्ड के दोस्त ने मुझे यह ईमेल भेजाः

Amit! Please find attached a compliment of the highest order. S told me Mani Sahib saw your film so I asked him about it (since he had told me once that he would never return there)... Apparently, he really liked it, and your film changed his own opinion of the school.

So, how are you? I look forward to seeing this fabled diploma film. More urgently, do let me know what else is going on over there. Keep in touch, my friend,

Cassim

----------Forwarded message----------

From: Mani Kaul <mkaul@wanadoo.nl>

Date: Fri, 24 Dec 2004 00:59:17 +0100

Subject: Re: ---

To:

Cc: Mani Kaul <mkaul@wanadoo.nl>

My dear Cassim,

The students at FTII were wonderful. Extraordinary environment of an insatiable quest. And passion for cinema- I should like to return for a longer period next year. Amit Dutta's diploma film was a revealing experience. Suddenly there is such a sense of hope for FTII. For some time now I had been fed with awfully prejudiced stories about the campus. Quite untrue!

Hope you are doing films and I should really like to receive you in LA.

Best

Mani

***

एफ.टी.आई.आई. में पढ़ाई खत्म करने के बाद मैं अहमदाबाद एन.आई.डी. में पढ़ाने चला गया। मैं जो दूसरी डिप्लोमा फ़िल्म 'क्रमशः' बना रहा था, वहीं पर ख़त्म हुई थी। वहीं रहते मुम्बई अन्तर्राष्ट्रीय फ़िल्म फ़ेस्टिवल में उसका चयन हुआ और फ़िल्म को दो पुरस्कार मिले। मुझे इनाम में ढाई लाख रुपये मिले और डेढ़ लाख रुपये फ़िल्म संस्थान को। एक-आध महीने बाद मुम्बई जाना हुआ। एक दोस्त ने खाने पर बुलाया तो वहाँ पर संयोग से मणि साहब भी थे। वे विदेश से वापिस आकर वरसोवा में एक छोटे से फ़्लैट में रह रहे थे। मणि साहब मुझे देखते ही बोले, 'अरे आप उस अवॉर्ड के पैसों का क्या कर रहे हो?' मैं यह सुन कर थोड़ा हैरान हुआ । 'अभी कुछ सोचा नहीं है मणि साहब', मैंने उत्तर दिया। 'आप एक रुद्र वीणा ले लीजिए। इसके लिए हर महीने ५,००० रुपये अलग से रख लीजिए।' तब उन्होंने मुझे बताया कि वे भी मुम्बई फ़ेस्टिवल की ज्यूरी में थे जिसने मुझे वह इनाम दिया था। वे बोले कि फ़िल्म तो सबको पसन्द आयी थी पर उसकी प्रशस्ति क्या लिखें, किसी को समझ में नहीं आ रहा था। तब उन्होंने मणि साहब को ही वह लिखने को बोला था।

In the manner music keeps you quietly enthralled with a resonating sense of things without a need to necessarily reduce the experience to a verbalization of meanings, Kramasha offers a world of images and sounds that makes us smell and touch the lush of nature amid a mysterious index of hallucinations. Like a

dream that we may fail to understand but that reaches deep recesses of our unconscious and touches familiar chords, Amit Dutta's Kramasha weaves a powerful narrative that blends legends, myths and nostalgia into a film that allows us to recall our own early experiences.

मैं बचपन से थोड़ा-बहुत गिटार बजा लेता था। जम्मू में सीखने का शौक़ हुआ था। बाद में मैं खुद से और पुणे के कुछ दोस्तों जो ब्लूज़, जैज़ के बड़े उम्दा के प्लेयर थे, की सोहबत में थोड़ा बहुत जैज़, ब्लूज़ जैसा कुछ सीख लिया था। और अब रुद्रवीणा? इस वीणा की धीर-गम्भीर आवाज़ मन की गहराइयों में उतर जाती है। उसे सुनने का मज़ा बहुत आता था खासकर मणि साहब की फ़िल्म 'ध्रुपद' में। 'आप केवल वीणा के पैसे दे दीजिए बाक़ी कलकत्ता से उसे मंगवाना इत्यादि मैं करवा दूँगा। वहाँ पर मंगला प्रसाद हैं जो दुनिया की सबसे बेहतरीन वीणा बनाते हैं। एक वीणा बनाने में उनको ६-७ महीने लगते हैं। आज हाँ कहोगे तो छह महीने बाद मिलेगी।'

'मणि साहब मन तो बहुत हो रहा है पर मैं उसका करूँगा क्या? मुझे तो बजानी भी नहीं आती'

'अरे आप हमसे सीखिए, बबलू (बहाउद्दीन) को भी बुला लेंगे'

यह सुनकर मैं खुशी-खुशी राज़ी हो गया। कुछ ही दिनों में मैंने एन.आई.डी. छोड़ दिया और अपनी पहली फीचर फ़िल्म (नैनसुख) बनाने जम्मू चला गया। ४-५ महीने बाद मुझे मणि साहब का का ईमेल आया, 'तुम्हारी वीणा तैयार है, आ जाओ। इससे पहले फ़िल्म संस्थान के अभिनय के छात्रों के लिए आपने जो फ़िल्म बनायी है उसकी डीवीडी भिजवा दें।'

मैंने पूछा तो उन्होंने बताया कि वे मुम्बई छोड़ कर दिल्ली आ चुके हैं और आजकल गुड़गाँव में एक किराये के मकान में रह रहे हैं। दिल्ली में ओसीयान नाम का एक फ़िल्म फ़ेस्टिवल होता था, वे उसके नये डायरेक्टर थे। उन्होंने यह भी लिखा कि मैं उनके साथ २-४ दिन रहूँ। मंगला प्रसाद खुद वीणा लेकर आ रहे हैं, उनके टिकट के पैसे उन्होंने दे दिये हैं। बहाउद्दीन डागर भी आ जाएँगे। सब साथ में कुछ दिन गुज़ारेंगे।

मैंने उत्तर दिया :

आदरणीय मणि जी,

मेरी फ़िल्म की डीवीडी कुछ ही दिनों में तैयार हो जाएगी। दरअसल टेलीसीने ट्रान्सफर में कुछ गड़बड़ हो गयी थी। आज दुबारा की है। एक हफ़्ते के भीतर मैं आपको डीवीडी भिजवा दूँगा। अभी मैं पास्कल और बाशो में अपना ध्यान लगा रहा हूँ और नैनसुख की तैयारी।

आपका,

अमित

***

प्रिय अमित,

दो दिन हुए लौट आया।

एक नम्बर जो मेरे फ़ोन में आपके नाम दर्ज रहा है गणेश (एफ.टी.आई.आई. के वरिष्ठ विद्यार्थी) के पास पहुँच जाता है। पहले भी एक बार ऐसा हुआ था - नाम बदलना भूल गया। गणेश कह रहे थे कि आपकी फ़िल्म की डीवीडी बनाने में कई एक लोग जुटे हुए हैं। लगता है तीन चार दिनों में दिल्ली पहुँचा भी देंगे। जैसा होगा इत्तला करता रहूँगा।

पास्कल, ब्रेसाँ और बाशो तो जैसे एक ही घराने के सदस्य हैं। स्वभाव तीनों का अलग है लेकिन मन्त्र एक ही सुना था, ऐसा लगता है। आज ही कोलकता से मंगल प्रसाद शर्मा का फ़ोन आया - वे आपके लिए रुद्र-वीणा बना रहे हैं। कह रहे थे अगले महीने के मध्य या अन्त तक तैयार कर देंगे। उनके यहाँ पहुँचने के १५ या २० दिन पहले आपको ख़बर भेज दूँगा।

आपका शुभचिन्तक -

मणि कौल

***

आदरणीय मणि जी,

बहुत दिनों से आपको लिखने की सोच रहा था। आशा है आप सकुशल होंगे। इधर नैनसुख फ़िल्म बनाने में बड़ी ही दिक्कतें आ रही हैं। मैं एक प्रोफ़ेशनल की तरह व्यवहार ही नहीं कर पा रहा हूँ! इस कारण कुछ लोगों से मनमुटाव तक हो गया है। मुझे लगता है कि फ़िल्म बनाना बम्बई पर इस तरह निर्भर है कि अगर आप उनके तौर तरीकों से अभ्यस्त नहीं हैं तो आप फ़िल्मकार ही नहीं हैं। इसका ज्ञान मुझे एक प्रोडक्शन मैनेजर ने अच्छी तरह से करवा दिया। मैंने उसको ना ही बोल दी। सबसे बड़ी मुश्किल यह है कि वो मुझे या फिर जिस तरह की फ़िल्म मैं बनाना चाहता हूँ उसको उतनी गम्भीरता से नहीं लेते हैं जितना कि बम्बई की एक फ़िल्म को लेते हैं, चाहे मैं पैसे उतने ही दूँ! आपने इस तरह के वातावरण में किस तरह फ़िल्में बना लीं? इसी पर आज विचार कर रहा था। पहली फ़िल्म भी इंस्टिट्यूट में अटकी हुई है। अभी भी ध्वनि पर काम करना बाकी है। मैंने एक डीवीडी उदयन जी को भी भेज दी थी। उन्हें फ़िल्म देखकर बड़ी प्रसन्नता हुई। विनोद कुमार शुक्ल जी भी फ़िल्म देखकर बड़े ही खुश हुए। उनको डीवीडी की एक प्रति भेज दी थी। कल ही मैनें उनसे फ़ोन पर बात की - खुश थे। अब शायद फ़िल्म बन ही जाये। उन्होंने मुझे एक पत्र भेजा है, जिसमें उन्होंने यह कहा है:

''फ़िल्मों में ज़्यादातर दृश्य टुकड़ों-टुकड़ों में एक कलात्मक स्वरूप बनाते हैं। इसकी फोटोग्राफी,

रंगों और प्रकाश के संयोजन की जो दृष्टि है, वो मेरी दृष्टि से मेल खाती है और यह मुझे अपनी कहानी होने के कारण नहीं, आपके प्रयास के कारण है। अभिनय का ठेठपन भी मुझे अच्छा लगा। अपनी कहानी को एक कविता की तरह कुछ देखा। मैंने आपको और आपके साथियों को फ़ोन में बधाई दी थी, इस पत्र के द्वारा फिर से सराहना कर रहा हूँ" - विनोद कुमार शुक्ल'

इस बीच अगर वीणा आ जाती है तो मैं दिल्ली आ जाऊँगा। आप बस कुछ दिन पहले मुझे सूचित कर दें। आपसे मिलने का भी मन है।

सादर प्रणाम!

अमित

यहाँ 'आदमी की औरत और अन्य कहानियाँ' फ़िल्म की बात हो रही है। हम विनोद जी से उनकी कहानियों को फ़िल्माने की इजाज़त लेना भूल गये थे। पहले तो वह थोड़ा नाराज़ हुए पर जब मैंने उनसे क्षमा माँग कर यह बताया कि फ़िल्म संस्थान की फ़िल्म है और अभिनय के छात्रों के लिए बनायी है तो फ़िल्म देखने के लिए मान गये। फ़िल्म देखने के बाद उन्होंने पत्र भेजा था ।

***

प्रिय अमित,

क्योंकि आपने कहा था आपकी भेजी डीवीडी न देखूँ, नयी डीवीडी का इन्तज़ार करूँ, मैंने आपकी फ़िल्म नहीं देखी। अब हम फाईनल सिलेक्शन करने वाले हैं - क्या मैं रुकूँ या जो डीवीडी आपने भेजी हुई है दूसरे सदस्यों के साथ देख लूँ। ध्वनि पर काम कब तक पूरा हो जायेगा, लिखियेगा।

अगर चाहें तो गुरुदास पाई से आपकी प्रोडक्शन की तकलीफों के बाबत सलाह ले लें। उन्होंने मेरे साथ ही फ़िल्मों में काम करना शुरू किया था। बहुत से मित्रों के साथ भी काम किया। आप जानते ही होंगे उन्हें। जहाँ तक मैं समझता हूँ वे फ़िल्म बनाने के तरीके में किसी किस्म का दखल नहीं देते। यदि फ़्री नहीं होंगे तो शायद किसी का नाम सज्जेस्ट कर दें।

आपकी वीणा १५ अगस्त तक तैयार हो जानी चाहिए - एक या दो दिन में फ़ोन करूँगा फिर से। १५ अगस्त से ५ सितम्बर तक हिन्दुस्तान से बाहर रहूँगा।

आपका शुभचिन्तक

मणि कौल

***

आदरणीय मणि जी,

गुरुशरण पाई जी का फ़ोन आया था। उन्होंने नैनसुख के बारे में जानकारी माँगी है।

एक दो दिनों में उनको मैं सब जानकारी भेज दूँगा। अब मैंने सोचा है कि दिल्ली १० सितम्बर के आस-पास ही आऊँगा। तब मेरे पास गाड़ी भी होगी और वीणा ले जाने में सुविधा भी। क्या आपको फ़िल्म की डीवीडी मिल गयी है?

प्रणाम

अमित

***

प्रिय अमित,

फ़िल्म की डीवीडी मिल गयी है। चार पाँच दिन में देख पाऊँगा - मुम्बई जा रहा हूँ।

आप दस सितम्बर के आस पास ही आयें, ठीक रहेगा। तब तक आपकी वीणा दिल्ली पहुँच जायेगी।

आपका

मणि कौल

***

ग्यारह या बारह सितम्बर को जब मैं गुड़गाँव पहुँचा तो मणि साहब बाहर बरामदे में खड़े होकर अपने मोबाइल से फ़ोटो खींच रहे थे। गेट पर एक बड़ा सा बल्ब था जिस पर एक छिपकली चिपकी हुई थी। वे बड़े ध्यान से उसका फ़ोटो ले रहे थे। मोबाईल पर छिपकली का फोटो दिखाया फिर बोले 'चलो अन्दर चलते हैं।' इससे पहले के हम बैठते, उन्होंने खाना बनाने की तैयारी शुरू कर दी। 'आइए रसोई में ही आइए वहीं बात करते हैं।' उनकी रसोई में मसाले ऐसे रखे हुए थे जैसे कोई चित्रकार अपने रंग रखता है। वे अपनी ऐनक खोल कर सब्ज़ी के एकदम पास ले जाते और कड़शी घुमाते। वहाँ रहने के दौरान उन्होंने खाने में ऐसे प्रयोग किये जो मैंने और कहीं नहीं देखे। वो मसालों को रेसिपी के अनुसार नहीं मूड के अनुसार इस्तेमाल करते, जिसका रंग अच्छा लगा, कुछ महसूस हुआ तो डाल दिया। 'अभी खाना ज़ल्दी बनाना है थोड़ी देर में, मंगला प्रसाद आने वाले हैं और कल सुबह बबलू (मणि साहब बहाउद्दीन जी को इसी नाम से पुकारते थे)। कैथरीन बाहर गयी हुई है कुछ ही देर में आती होगी।' शाम को दोनों आ गये। खाना सही समय पर पक कर एकदम तैयार था। वैसे मणि साहब के यहाँ एक बंगलादेशी औरत काम करती थी जो उनके लिए दोपहर का खाना बनाती थी। उन दिनों मणि साहब उसको हिन्दी और अंग्रेज़ी पढ़ा रहे थे। एक दिन वे बड़े हैरानी से मुझे बोले इसको गमला बोलने में बहुत समस्या होती है, ग...म ...ला... जबकि हमारे लिए यह कितना सादा शब्द है। मणि

जब भी खाना बनाते, उसे बड़े ही, सुरुचिपूर्ण ढँग से परोसा जाता। मंगला प्रसाद जी को मणि साहब का खाना कुछ ज़्यादा ही अच्छा लगता था। जिस दिन भी वे खाना बनाते मंगला प्रसाद जी सबसे पहले टेबल पर आकर बैठ जाते और उनकी आँखें रसोई से खाने की टेबिल तक खाने का पीछा करते रहतीं। अगले दिन बहाउद्दीन भी आ गये, अब घर पर तीन संगीतकार थे। मणि साहब का बहाउद्दीन को बुलाने का मक़सद नयी वीणा की खुशी मनाना, उसको देखना परखना, तार लगाना, उनको बताना, थोड़ा बजाना और संगीत के सिद्धान्तों पर जम कर चर्चा करना था। इस दौरान घर पर हमेशा खाना बनता रहता था, कभी कैथरीन अपना वीओला लेकर आ जातीं तो कभी मणि साहब उसके ट्यूनिंग डिवाइस पर अपनी गा गा कर आवाज़ के नोट्स चेक करने लगते। अजीब माहौल था। मेरी बहाउद्दीन, कैथरीन और मंगला प्रसाद से दोस्ती हो गयी। मंगला प्रसाद भी कमाल के आदमी थे। उनकी साज़ की समझ और कारीगरी भी कमाल की थी। वो थोड़ा बहुत सितार बजा लेते थे, उन्हें संगीतकार न बन पाने का मलाल था, कई मशहूर संगीतकारों को वो जानते थे और उनकी व्यक्तिगत और संगीत की ग़लतियों पर चर्चा करते रहते थे। एक दिन उन्होंने मेरे लिए बनाई वीणा को भी बजाया जिसे वह सितार की तरह पकड़ कर बजा रहे थे। जब बहाउद्दीन जी ने वीणा के तार मिला कर कुछ बजाना शुरू किया तो मंगला प्रसाद जी चुपके से मेरे पास आए और हल्के से कोहनी मार कर कान में बड़ी शिद्दत से फुसफुसाए- सीख लो, सीख लो, यह लोग ऐसे कुछ बताते नहीं हैं। इस तरह एक हफ़्ता बीत गया। और हमारे सबके जाने का समय आ गया। पहले मंगला प्रसाद जी गये फिर बहाउद्दीन जी, कैथरीन को अभी रुकना था, मैंने भी अपना बोरिया-बिस्तर बाँध लिया और इतनी बड़ी वीणा को कौन-सी टैक्सी से लेकर जाऊँ इस पर विचार करने लगा। मुझे विचारमग्न देखकर मणि साहब मेरे पास आये और बोले कि अभी आप दो-चार दिन और रुक जाइए। मैं दो दिन और रुक गया, इसके बाद जब भी जाने की बात होती, मणि साहब मुझे दो दिन और रुकने को कह देते। इस दौरान रोज़ की चर्या कुछ इस प्रकार की थी : सुबह उठकर मणि साहब मेथी के बीजों से बनी हरी चाय पीते थे, उनके अनुसार वह सेहत के लिए बहुत अच्छी थी। चाय पीते हुए अख़बार पढ़ते। एक बार अख़बार में भयानक किस्म की ख़बर थी- कहीं बम ब्लास्ट में कई लोग मारे गये थे, मणि साहब ने अख़बार मेरी ओर बढ़ाते हुए कहा, 'ये लोग संगीत क्यों नहीं सुनते?' चाय पीने के बाद वह नहा-धो कर अपने म्यूज़िक-रूम में आ जाते जहाँ पर उनकी अपनी रुद्रवीणा और मिरज के तानपुरे और पखावज वगैरह रखे हुए थे। वहाँ बैठकर थोड़ी देर अभ्यास करते, नाश्ता करते और फिर नहा-धो कर ओसीआन के दफ़्तर चले जाते। कैथरीन और मैं पीछे रहते और इस दौरान वह वीओला पर अपनी बनाई हुई धुनें सुनाती। वह बर्कली कॉलेज से संगीत सीखी थी। उसकी प्रयोगात्मक संगीत में रुचि थी। शाम को मणि साहब दफ़्तर से वापिस आ जाते और फिर तुरन्त ही कहीं बाहर जाने की बात होती, अब घर पर खाना कभी-कभार ही बनता था। उनका एक और शागिर्द था जो हॉलैण्ड से

था- दिलीप, उसने भी पास ही में एक घर किराये पर ले लिया था। वह मणि साहब से संगीत की शिक्षा ले रहा था। कैथरीन और दिलीप मणि साहब से संगीत की शिक्षा लेने ही आये थे। ज़्यादा बात संगीत की ही होती। वैसे फ़िल्म के अलावा मणि हर विषय पर बात करते थे, मेरी हमेशा कोशिश रहती थी कि थोड़ी बहुत बात फ़िल्म पर हो जाए। मणि साहब अपनी फ़िल्म देखना तो छोड़, उस पर बात करना तक पसन्द नहीं करते थे। एक दिन मेरे आग्रह पर वे उनकी फ़िल्म 'ध्रुपद' देखने को राजी हो गये। उसमें एक दृश्य है यहाँ किसी महल की छत पर उस्ताद वीणा बजा रहे हैं और कैमरा दूर से उन्हें देख रहा है। शॉट काफ़ी लम्बा चला जो मुझे बहुत पसन्द आ रहा था। मैंने ध्यान दिया कि जैसे-जैसे शॉट चलता जा रहा है, मणि साहब असहज होते जा रहे हैं। वे अपने-आप से कुछ बुदबुदा रहे थे, मेरे कान में बस उनके कुछ शब्द ही पड़े 'यही प्रॉब्लम है लम्बे टेक में !' ऐसा कहकर उन्होंने फ़िल्म बन्द कर दी। जब मणि साहब अपनी किसी फ़िल्म की बात भी करते थे तो उसका मज़ाक़ उड़ाते। एक बार मुझे बता रहे थे कि जब उन्होंने 'उसकी रोटी' बनायी थी तो बम्बई के प्रसिद्ध कश्मीरी पण्डित अभिनेता राजकुमार ने उनसे कहा कि क्या उसकी रोटी बना रहे हो, हमारे साथ आओ, 'अपना हलवा' बनाते हैं। और जब यही फ़िल्म उनके पिताजी ने देखी तो चुपके से उनके पास आये और बोले, शाबाश बेटा बन्दूक हमेशा भरी रखो, न चले तो बेहतर। यह सब बातें मणि साहब बार-बार सुनाते और हँसते थे। (याद रहे कि भारतीय इतिहास की यह सबसे अलग, विलक्षण फ़िल्म बनाते वक़्त मणि साहब की उम्र महज़ २५ साल थी)। बातों ही बातों में उन्होंने एक दिन बताया कि मशहूर फ़िल्म डॉयरेक्टर महेश कौल उनके चाचा थे। उन्होंने कई बार महेश कौल और हिन्दी के प्रसिद्ध साहित्यकार अमृत लाल नागर की दोस्ती के बारे में बात की। अमृत लाल नागर तो बचपन से मेरे प्रिय साहित्यकार थे इसलिए मुझे उनके बारे में और जानने की बहुत इच्छा थी पर मणि साहब इस पर ज़्यादा खुलकर बात नहीं करना चाहते थे, टुकड़ों-टुकड़ों में बस यही पता चला कि संस्थान से पास होने के बाद मणि कुछ दिन अपने महेश अंकल के यहाँ रुके और फिर कुछ मनमुटाव होने के कारण अचानक वहाँ से चले आये थे।

उनकी एक आदत जिससे मैं थोड़ा परेशान था और हमेशा संकोच में पड़ जाता था, वह थी उनकी रोज़ बाहर खाना खाने की आदत, और वो भी कहीं बड़े महँगे रेस्तराँ में। मुझे भी साथ चलने को कहते। मेरे पास उतने पैसे नहीं थे कि रोज़ हज़ार-दो हज़ार का खाना खा सकूँ, कभी पैसे मणि साहब दे देते थे और कभी दिलीप, कभी-कभार मैं भी एक-दो सौ रुपये खिसका देता या जेब में हाथ मारने का अभिनय करता पर मणि साहब हाथ के इशारे से मुझे रोक देते थे। मैंने कई बार बीमार होने का बहाना भी लगाया कि मेरा पेट खराब है, घर पर खिचड़ी ही खा लूँगा, पर मणि साहब हमेशा इसरार करके ले ही जाते थे। गुड़गाँव एक अजीब सी जगह थी, रेस्तराँ किसी मॉल में होते थे, बाहर से सब दुकानें एक जैसी लगती थीं, अन्दर सबने अपनी-अपनी तरह से विचित्र डेकोर बना रखा थे।

एक बार हमने ट्रेन के डिब्बे में खाना बनाया, दूसरे दिन एक समुद्री जहाज के केबिन में और तीसरे दिन खाने के टेबल के पीछे लाइव ग़ज़ल चल रही थी। अजीब माहौल था, खाना खाते हुए मणि साहब ध्रुपद की बारीकियों पर गहन विचार रख रहे हैं, 'संगीत समयसार', 'क़िताब-ए-नवरस' और 'मानकुतूहल' जैसे विलक्षण क़िताबों की बातें हो रही है और पीछे एक फ़िल्मी ग़ज़ल गायी जा रही है। पर उन्हें इस सबसे कुछ फ़र्क़ नहीं पड़ता था वे अपनी बात में मगन थे। जिस दिन छुट्टी होती, वे सारा दिन अपने डबल-बेड पर तिरछे लेटकर पढ़ते रहते। उन्होंने मुझे बताया कि उन्हें ऐसे पढ़ने में बहुत मज़ा आता है। उनकी क़िताब के बुकमार्क कुछ फ़ोटोग्राफ़ होते थे। एक दिन वे बेड पर बैठे एक मोटी सी क़िताब पढ़ रहे थे-साधु राम प्रसाद जी निरंजनी कृत श्री योगवाशिष्ठ भाषा। उस पुस्तक की भूमिका का यह अंश मुझे बहुत दिलचस्प लगा था जिसमें फिर से एक कश्मीरी का दखल है :

'अनुमानता डेढ़ सौ वर्ष व्यतीत हुए कि पटियाला नगर नरेश श्रीयुत राजा साहबसिंहजी वीरेश की दो बहनें विधवा हो गयी थीं इसलिए उन्होंने साधु रामप्रसाद जी निरंजनी से कहा कि योगवाशिष्ठ जो अति ज्ञानामृत है सुनाओ तो अच्छी बात हो। निदान उन्होंने योगवाशिष्ठ की कथा सुनाना स्वीकार किया और उन दोनों बहिनों ने दो गुप्त लेखक बैठा दिये। ज्यों-ज्यों पण्डितजी कहते थे वे प्रत्यक्षर लिखते जाते थे। जब इसी तरह कुछ समय में कथा पूर्ण हुई तो यह ग्रन्थ भी तैयार हो गया। इसमें कथा की रीति थी, कुछ उल्थे का प्रकार न था और पंजाबी शब्द मिले हुए थे। प्रथम यह ग्रन्थ ऐसा ही बम्बई नगर में अघन संवत १६२२ में छपा। जब इसका इस भाँति प्रचार हुआ और ज्ञानियों को कुछ इसका सुख प्राप्त हुआ तो चारों ओर से यह इच्छा हुई कि यदि पंजाबी-बोलियों और इबारत सुधारकर यह पुस्तक छापी जावे तो अति उत्तम हो। तथाच श्रीमान मुंशी नवलकिशोरजी ने बैकुण्ठवासी पण्डित प्यारे लाल रग्गु कश्मीरी को आज्ञा दी और उन्होंने बोलियाँ बदलकर और जहाँ-तहाँ की इबारत सुधारकर उनकी आज्ञा का पालन किया।'

बाद में मणि साहब ने पुस्तक में से मुझे दम, व्याल और कट की कहानी सुनायी जो अत्यन्त दिलचस्प थी। कहानी सुनाकर उन्होंने पन्ने पर बुकमार्क के रूप में एक फोटो रख दी, मुझे उस फोटो को ध्यान से देखते हुए मणि साहब मुस्कुराए और बोले यह मेरे गुरु हैं-पिता जी। मेरे जीवन में तीन गुरु हुए-रूहानी गुरु 'पिताजी', सिनेमा के गुरु ऋत्विक घटक और संगीत के गुरु बहाउद्दीन के पिता ज़िया मोहिउद्दीन डागर। वे बोले, मैं ज़िन्दगी में कभी नहीं रोया, केवल अपने गुरु ज़िया मोहिउद्दीन डागर के गुज़रने पर एक बार रोया था, न्यूयॉर्क में। तब उन्होंने एक दूसरी क़िताब से उनके चित्र निकाल कर दिखाये, जो वे हमेशा अपने साथ रखते थे। मैंने बोला कि मणि साहब मैं इन दोनों के बारे में तो जानता हूँ पर 'पिताजी' के बारे में कभी नहीं सुना। तब उन्होंने अपने गुरु जिन्हें वो 'पिताजी' कहते

थे के बारे में अजीब कहानी सुनायी। बोले कि मैं गुरुओं पर विश्वास करने वाला व्यक्ति नहीं था। एक दिन कोई मुझे पिता जी के पास ले गया। मुझे देखते ही पिता जी बोले, 'तो तुम आ ही गये' सच कहूँ तो मुझे बहुत गुस्सा आया। मैंने कहा, कैसा फ्रॉड आदमी है और वहाँ से उठ कर चला आया। फिर कई दिनों बाद मैं ऐसे ही ऑटो में जा रहा था कि मेरे मन में तीव्र इच्छा हुई कि उनसे मिलूँ। पता नहीं किस शक्ति के वश में मैं उनके यहाँ चला गया। मुझे देखते ही वे फिर से मुस्कुराए। इसके बाद मेरा साथ उनके गुज़रने तक रहा। वे ही मुझे कोई ख़ास क़िताब पढ़ने को कहते थे। वे कहते नहीं तो मैं पढ़ता नहीं, हाथ तक न लगाता। मेरा योगवाशिष्ठ पढ़ने का बहुत मन था पर चार-पाँच साल तक उन्होंने मुझे इसकी अनुमति नहीं दी, कहते रहे, अभी आप उस पुस्तक के लिए तैयार नहीं हैं। फिर एक दिन मैं ऐसे ही उनके पास बैठा था कि वे अचानक बोले, 'अब आप योगवाशिष्ठ पढ़ लीजिए, मेरी खुशी का तो ठिकाना नहीं रहा। आज तक उसे पढ़ रहा हूँ। पिता जी पंजाबी थे, दिल्ली के बॉर्डर पर रहते थे। देखने में, बात करने में एकदम साधारण पर कुछ ऐसी बात थी उनमें जिसे बताना बड़ा मुश्किल है', ऐसा कहकर मणि साहब ने अपनी बात ख़त्म की। इस सबके दौरान मणि साहब अपनी अगली फ़िल्म बनाने की तैयारी भी कर रहे थे। तब उनके मन में तीन-चार कहानियाँ चल रहीं थी। एक थी-रॉसेलिनी की कहानी उसका भारत आना और सत्यजीत रे के दोस्त हरीसाधन दासगुप्ता की पत्नी को भगा कर ले जाना। मणि साहब हरीसाधन का शोनाली के वियोग में उसके कपड़े पहन कर पार्टियों में आ जाने के क़िस्से से बड़े प्रभावित थे और उससे अपनी फ़िल्म का अन्त करना चाहते थे। इस फ़िल्म के सिलसिले में वे इटली जाने की तैयारी कर रहे थे। वहाँ का कोई बड़ा अभिनेता रॉसेलिनी का रोल करने वाला था। दूसरा प्रोजेक्ट विनोद कुमार शुक्ल की 'खिलेगा तो देखेंगे' के एक अंश पर फ़िल्म बनाने का था जिसका नाम उन्होंने 'थाना' रखा हुआ था। वे बताते थे कि उन्होंने विनोद जी से पूरे उपन्यास में से बस इन पचास पन्नों के अधिकार ही खरीदे हैं। एक बार मैंने हिम्मत करके कह दिया कि मणि साहब 'थाना' तो किसी बम्बईया फ़िल्म का नाम लगता है, 'खिलेगा तो देखेंगे' बेहतर है। मणि साहब को मेरी सलाह पसन्द नहीं आयी थी और वो ज़रा उखड़ से गये थे। तीसरा उनका प्रोजेक्ट था विनोद जी का एक अन्य उपन्यास 'दीवार में एक खिड़की रहती थी'। एक और प्रोजेक्ट को लेकर मणि साहब उन दिनों बड़े उत्साहित थे-महाभारत में पाण्डवों और कौरवों के बीच जुआ खेलने वाले प्रसंग पर एक पूरी फ़ीचर फ़िल्म। उनके अनुसार उस एक प्रसंग पर ही कमाल की फ़िल्म बन सकती हैं। वैसे मणि साहब के मन में और भी प्रोजेक्ट चलते रहते थे और वे हर बार इतने दृढ़ विश्वास से बात करते थे कि बस अब काम हुआ ही समझो। इन मंसूबों में फ़िल्मों के अलावा एक रेस्तरां खोलना, उत्तराखण्ड में एक पहाड़ी लेकर उस पर आयुर्वेदिक दवाईयों का उत्पादन करना, एक फ़िल्म स्कूल खोलना जिसके केन्द्र में रसोईघर होगा, शामिल थे। उस दौरान मेरी संस्थान के अभिनय के छात्रों के लिए बनाई हुई एक डिप्लोमा फ़िल्म भी बनकर आ गयी। उन दिनों मुझे अभिनेता के शरीर का कैमरे के लेंस के साथ सम्बन्ध जैसे सिद्धान्तों में रुचि थी। दूसरा कॉम्पोज़िशन और यह

चिन्ता कि एक्टर ग्रेसफुली इस सीन से निकल जाए, वैसे अगर आप इन दो तीन चीज़ों का ध्यान रखों तो शायद मणि कौल और ब्रेसाँ के अभिनय सिद्धान्तों के क़रीब पहुँच जाते हैं। ऊपर से फ़िल्म ३५ मिलीमीटर स्टॉक पर १:१ अनुपात में बनी थी। इसका मतलब यह हुआ कि आप रीटेक नहीं कर सकते थे। अभिनेता खुद को बन्धा हुआ महसूस कर रहे थे। इन सब समस्याओं पर मणि साहब से इस्लाह लेने की सोच मैंने उनको यह फ़िल्म दिखाने की सोची। जैसे ही मैंने उनके सामने यह इच्छा रखी, वह मुझे अपने दफ़्तर ले गये और उनके प्रीव्यू रूम में फ़िल्म लगा दी। मैं उनके विचार जानने को सचमुच बहुत उत्सुक था पर मणि साहब तो फ़िल्म शुरू होने के दस मिनट पर ही सो गये और अन्त में उठे। कुछ नहीं बोले, संकोचवश मैंने भी नहीं पूछा, उन्होंने कमरे से बाहर जाते हुए बस इतना कहा कि इस फ़िल्म की डीवीडी यहीं छोड़ जाना। कुछ हफ़्तों बाद मुझे उनके दफ़्तर से ख़बर मिली के मणि साहब को फ़िल्म अच्छी लगी है और उन्होंने उसे अपने फ़िल्म फ़ेस्टिवल के प्रमुख सेक्शन के लिए चुन लिया है।

फ़िल्म बनाना बड़े पचड़े का काम है। पहले आपको फ़िल्म बनाना सीखना है, महँगा शौक़ है, आपको प्रतिभाशाली होने के साथ-साथ एक अच्छे व्यापारी और आढ़ती के गुण भी चाहिए। प्रोड्यूसर को प्रभावित करना, उससे पैसे निकलवाना और फिर अपने अनुसार एक पैसे डुबाने वाली कला फ़िल्म बनाना। प्रोड्यूसर को ऐसा सम्मोहित करना कि वह पैसे उड़ाते हुए भी बेहद खुश और गौरवान्वित महसूस करे। इस सब के साथ-साथ दुनिया भर के सौन्दर्य सिद्धान्त का ज्ञान, पश्चिमी और पूर्वी कलाओं का गहरा अध्ययन, संगीत, चित्रकला, वास्तुकला, पाक कला, परिधान, साहित्य सब जानना पढ़ना समझना-इतने सारे गुण एक ही आदमी में मिलना असम्भव है। मणि साहब अकेले वो आदमी थे जिनमें मैंने यह सब गुण देखे। उन दिनों वे एक व्यावसायिक फ़िल्मकार की बहुत तारीफ़ कर रहे होते थे। मुझे बड़ी हैरानी होती। मणि साहब ने शायद मेरे चेहरे की हैरानी पढ़ ली थी। शाम को उन्होंने कहा चलो आज ब्रिटेन की महारानी जो शराब पीती हैं वह पीते हैं। ऐसा कह कर उन्होंने एक नीले रंग की शराब निकाल ली और उसे पीने लगे। थोड़ा पीने के बाद उन्होंने मुझे पास बुलाया और कहा कि मैं जानता हूँ कि आप क्या सोच रहे हैं। पर आजकल मेरे पास एक भी पैसा नहीं है, सिर पर बहुत उधार है, इस उम्र में यह नौकरी करनी पड़ रही है। वह आदमी शायद मेरी अगली फ़िल्म पर पैसा लगाने की कह रहा है। मैंने इस बात को आगे बढ़ाना उचित नहीं समझा। इसके बाद वह योगवाशिष्ठ की एक कहानी सुनाने लगे :

'दम, व्याल और कट को धर्म और कर्म का अभाव था, क्योंकि पूर्व वासना कर्म उनको न था और निर्विकल्प चिन्मात्र उनका स्वरूप था। वे अपने स्थूल शरीर की स्वभावसत्ता में स्थित न थे और अनात्म भाव को भी नहीं प्राप्त भये थे। एक स्पन्दमात्र कर्मरूप चेतना उनमें थी। वही कर्म का बीज चित्तकलना स्पन्दरूप हुई थी। वे मननात्मक

शस्त्र प्रहार को रचे थे और उसी को करते, परन्तु हृदय में स्पष्ट वासना उनको कोई न फुरती थी। केवल अवकाशमात्र स्वभाव से उनकी क्रिया हो। जैसे अर्धसुप्त बालक अपने अंग को स्वभाविक हिलाता है वैसे ही वह वासना बिना चेष्टा करें। वे गिरना और गुर्राना कुछ न जानते थे और न यही जानते थे कि हम किसी को मारते हैं अथवा हमीं मरते हैं। वे न भागना जाने और न जानें कि हम जीते हैं व मरते हैं। जीत हार को वह कुछ न जानें केवल शस्त्र का प्रहार करें। जैसे यन्त्री की पुतली तागे से चेष्टा बिना संवेदन करती है तैसी ही दम, व्याल और कट चेष्टा करें।'

मणि साहब बेशक उम्र में हमसे ३०-४० साल बढ़े थे। असल में वे मेरे पिता जी से भी दो साल बड़े हुए। मेरे ताया की उम्र के हुए पर उनके अन्दर एक २०-२५ साल के जवान फ़िल्मकार जैसा जज़्बा था। उनके म्यूज़िक रूम में बस्तर छत्तीसगढ़ के गोंड जाति की सुलुर हवाई बाँसुरी थी जिसे हवा में तेज़-तेज़ लहराने से कमाल का संगीत पैदा होता था। एक दिन मैंने उसे हाथ में लेकर घूमाना शुरू किया और उसके संगीत का आनन्द लेने लगा। उसकी आवाज़ सुनते ही मणि साहब तेज़-तेज़ चलते हुए कमरे में आए और बोले कि अमित आप इस बात का ध्यान रखिएगा कि मैं इस ध्वनि को अपनी अगली फ़िल्म में इस्तेमाल कर रहा हूँ। मुझे यह सुनकर हैरानी भी हुई और अच्छा भी लगा कि मणि साहब अपनी फ़िल्मों को लेकर इतने सतर्क और सटीक हैं। ऐसे दो-एक हफ़्ते और गुज़र गये; मैं जब भी जाने की बात करता, मणि साहब रुकने को कहते। एक दिन सुबह-सुबह ही वे बोले कि आज वे चित्र बनाएँगे। ओसियान ने गुलज़ार को अवॉर्ड देने का सोचा है और दफ़्तर वालों का मानना है कि मणि साहब की पेंटिंग ही वो अवॉर्ड होगा। मणि साहब नयी मिली इस असायन्मेंट को लेकर बड़े उत्साहित थे और दो-तीन दिन बाद वे चार-पाँच कमाल के चित्र लेकर कमरे से निकले। मुझे और कैथरीन को बुलाकर पूछने लगे, इनमें से कौन-सा अच्छा है? हमने अपनी-अपनी राय रखी और वे उनमें से एक को लेकर दफ़्तर चले गये। उसी दिन शाम को विख्यात रुद्रवीणा वादक असद अली खान साहब का कॉन्सर्ट था और यह योजना बनी कि दिलीप, मैं और कैथरीन साथ में वहाँ जाएँगे और वापसी में मणि साहब को उनके दफ़्तर से लेते आएँगे। उस प्रोग्राम में भी कुछ अजीब हुआ -असद अली खान वज्रासन में बैठकर वीणा वादन करते थे। पहले वो एक ख़ास पैनी नज़रे से सारे दर्शकों को देखते हैं, फिर वीणा की तारों पर एक ख़ास अन्दाज़ से हाथ फिरा कर उसे झटके से उठाते हैं और कन्धे पर रखते हैं, यह स्टाइल डागरों से बिलकुल मुख़्तलिफ़ थी (वे वीणा एक तुम्बे को जांघ पर रख कर बजाते हैं), इन दोनों घरानों में प्रतिस्पर्धा की भावना भी बहुत थी; मणि साहब ने एक बड़ा मज़ेदार किस्सा सुनाया : बड़े उस्ताद यानी ज़िया मोहिउद्दीन के यहाँ एक पंजाबी भी ध्रुपद सीखने आने लगा था। उसका ट्रांसपोर्ट का काम था। एक बार असद अली खान के वादन की बात चली तो उसके गुण-दोष की समीक्षा उन्होंने कुछ इस प्रकार से की, 'अरे उस्ताद उनका वादन तो पुरानी

एम्बेसेडर कार जैसा है और आपका बिलकुल नयी मरसडीज़ जैसा।' सच कहूँ तो मुझे असद अली खान का वादन भी बड़ा प्रभावशाली लगा था-वे एक नोट को बजा कर हाथ से उस नोट का पीछा करते थे। पीछे उनका एक विदेशी शागिर्द तानपुरे पर था। उस दिन उनका वादन कमाल का था। एक ख़ास गहरा सुर जब उन्होंने लगाया तो एक श्रोता खुशी से चहक उठा- वाह! ऐसा सुनते ही खान साहब ने वीणा नीचे ज़मीन पर रख दी और उसकी तरफ उंगली करके बड़ी तेज़ आवाज़ में बोले- 'दस साल। इस सुर को यहाँ पहुँचाने में मुझे दस साल लगे हैं', उनकी आवाज़ बड़ी बुलन्द थी। फिर वीणा झटके से उठायी, कंधे पर रखी और बजाना शुरू कर दिया।

वापसी में हम लोग टैक्सी से मणि साहब के ऑफ़िस गये। वे बाहर ही खड़े थे। कार मैं बैठते ही उन्होंने बताया कि आज मुझे पीठ और छाती के आसपास बहुत तेज़ दर्द हुआ। दफ़्तर में सब लोग चिन्तित हो गये हैं, चेक-अप करवाना पड़ेगा। उनके अनुसार उन्होंने पिछले दिनों जो ज़मीन पर बैठकर चित्रकारी की है, उसकी वजह से ही यह दर्द हुआ है। अगले दिन उनका ब्लड-टेस्ट करने के लिए घर पर एक आदमी आया। भला सा आदमी था -जब वह वापिस जा रहा था तो मणि साहब उससे बोले, अरे साहब हम तो जाने के लिए तैयार बैठे हैं। ब्लड टेस्ट वाला घबरा गया बोला, सर ऐसा मत बोलिए सब ठीक होगा। अगले ही दिन रिपोर्ट आ गयी-बहुत ही ज़्यादा चिन्ता की बात थी-प्रास्टेट कर्क रोग का अन्देशा था। उस रात हम में से कोई नहीं सो पाया। मणि साहब सारी रात अन्दर बेड पर लेटे हुए फ़ोन पर अपनी डच (पूर्व) पत्नी से बात करते रहे। थोड़ी देर के लिए बाहर आए और कैथरीन और मुझे डाइनिंग-टेबल पर बैठा देख मुस्कुराए और फिर संस्कृत में मृत्यु और जीवन को लेकर कोई श्लोक पढ़ा जो इस वक़्त मुझे याद नहीं है। अगले दिन हमें डॉक्टर के क्लीनिक जाना था, मणि साहब और मैं साथ गये। जैसे ही क्लीनिक पहुँचे, वहाँ की एक नर्स इतनी बदतमीज़ी से बात की कि मैं सन्न रह गया। हमारे देश में मरीज को एक अपराधी समझा जाता है, इस अहसास से बेहद गुस्सा आया। उधर मणि साहब जिनके उस नर्स की बदतमीज़ी से गुस्सा होने के बजाय हैरान होकर हँसने ले। इसके बाद वे अन्दर डॉक्टर से मिलने चले गये और मैं बैठा बाहर इन्तज़ार करता रहा। थोड़ी देर बाद मणि साहब बाहर आये बेहद खुश थे बोले कि यह डॉक्टर तो बहुत ही अच्छा निकला। उसने मुझसे ऐसे बात की जैसे मैं अपने छात्रों से करता हूँ। मैं भी खुश हुआ पर फिर बातों ही बातों में पता चला कि दरअसल न तो डॉक्टर ने कोई अच्छी ख़बर दी थी और न ही कोई सान्त्वना। उसने केवल यही कहा था कि कर्क रोग तो है ही और मैलिग्नेन्ट भी हो सकता है, बस हमें इसके इलाज की तैयारी करनी है।

फिर उन्होंने उदयन जी से सलाह ली। वे मणि साहब के प्रिय शिष्य और दोस्त हैं। उन्होंने यह सलाह दी कि मणि तुरन्त भोपाल उनके घर आ जाएँ, वहाँ पर तफ़सील से पड़ताल की जाएगी। अगले ही दिन उनका जाने का प्रोग्राम बना था और मैं भी टैक्सी से जम्मू चला आया।

इस तरह मणि साहब के साथ मेरा तक़रीबन एक महीना लम्बा प्रवास पूरा हुआ। इसके बाद मैं उनसे केवल एक बार मिला, कुछ ही घण्टो के लिए। इस दौरान फ़ोन पर बात ज़रूर होती रही। एक बार फ़ोन करके बोले कि मैं जानता हूँ तुम अपने काम से काम रखते हो, ज़्यादा मिलते-जुलते नहीं हो फिर भी मैंने तुम्हारा नम्बर मुम्बई के एक फ़िल्म निर्माता को दे दिया है, शायद तुम्हें फ़ोन करे। मैं उनकी बात सुनकर बहुत हैरान हुआ, उनको मेरे बारे ऐसा क्यों लगा? मैं ठहरा एक संघर्षरत नौसिखिया। मैं तो उत्साहित होकर उस फ़ोन का इन्तज़ार करता रहा। फ़ोन आया भी पर बात नहीं बनी। इस दौरान मैंने फ़िल्म 'नैनसुख' का रफ़ कट कर लिया था जो मैंने उन्हें पोस्ट से भेज दिया था। उन्होंने रफ़-कट देखकर तक़रीबन एक घण्टा फ़ोन पर बात की और ध्वनि के लिए अद्‌भुत सुझाव दिये; मसलन वे बोले कि जब 'नैनसुख' के चलने की फोली करो और मान लो अगर वो सूखे पत्तों पर चल रहा है तो सूखे पत्तों से ही फोली की आवाज़ न बनाकर एक काग़ज़ को मुचड़ कर उससे बनाना, उससे जो काग़ज़ का टेक्स्चर हैं जिस पर वो चित्र बनता है, ध्वनि के जरिए फ़िल्म में दाखिल हो जाएगा। यही रफ़ कट उन्होंने वेनिस फ़िल्म फ़ेस्टीवल के प्रमुख मार्को मूलर को भी दिखाया और फिर उन दोनों ने मुझे फ़ोन पर सूचना दी कि मेरी फ़िल्म वहाँ दिखायी जाएगी। बाद में मणि साहब ने ही वेनिस जाने के लिए मेरी टिकटों का इन्तज़ाम किया था। मेरी फ़िल्म तो वेनिस में दिखायी गयी पर किन्हीं कारणों से मैं वेनिस जा नहीं पाया। मेरे इस निर्णय से मणि साहब थोड़े निराश हुए थे।

इस दौरान उनका लगातार इलाज चल रहा था। कुछ महीनों के उपचार के बाद एक दिन उनके टेस्ट एकदम अच्छे आ गये। उन्होंने उदयन जी से कहा कि अमित को फ़ोन लगाओ; तब मैंने उदयन जी और मणि साहब से बड़ी लम्बी बात की। उनका मूड बहुत अच्छा था। इसके कुछ महीनों बाद पता चला की उनकी हालत फिर से नाज़ुक हो गयी है। उदयन जी का फ़ोन आया कि मुझे उनसे एक बार मिलने आना चाहिए। तकरीबन एक साल बाद मैं उन्हें वहीं उसी घर पर मिलने गया। घर सूना-सूना और बिखर सा गया लगता था। मणि साहब बाहर सोफ़े पर अकेले बैठे हुए थे। थोड़ी देर के लिए तो मैं उन्हें पहचान ही ना पाया था-एकदम कमज़ोर हो गये थे। मुझे देखकर मुस्कुराए और बोले, चलो अन्दर चलते हैं, थोड़ा लेटूँगा। अन्दर जाकर वो बिस्तर पर लेटने से पहले थोड़ा ठिठके और बोले, 'अमित मुझे बहुत तेज़ दर्द है-तुमसे बात करते हुए मैं शायद ज़ोर-ज़ोर से कराहूँगा, तुम घबराना मत और डॉक्टर वग़ैरह को बुलाने की कोशिश मत करना-कराहने से आराम मिलता है। इसके बाद वो लेट गये और बोले, अगर तुमने कोई फ़िल्म का प्रोजेक्ट तैयार किया है तो मुझे बताना, मैंने तुम्हारे बारे में एक दो लोगों से बात की है- अच्छा हो तुम्हें फ़िल्म बनाने को मिल जाए। मैंने कहा कि मणि साहब फ़िल्म की चिन्ता छोड़िए अपना ध्यान रखिए। मणि मुस्कुराए और बोले, आपने कभी गधे के नाखून देखे हैं? 'जी नहीं', मैंने कहा। तभी उन्होंने अपना पैर ऊपर किया, 'यह देखो!'। उनके नाखून एकदम सख़्त और बड़े-बड़े थे; कई दिनों से न काटने की वजह से मुड़कर उनकी पैर

की चमड़ी में घुस गये थे। 'मेरे में हिम्मत नहीं है, सुबह से इन्हें काटने की कोशिश कर रहा हूँ-क्या तुम मेरे नाखून काट सकते हो?' मैंने कहा यह भी कोई पूछने की बात है भला, हुकुम कीजिए और जैसे ही मैंने उनके नाखून काटने शुरू किये दरवाज़े की घण्टी बजी। मणि एकदम घबरा गये और डर कर ज़ोर से बोले कि जो भी हो उसे बोल देना, मेरे पास पैसे नहीं है। मैंने पूछा, 'किसको पैसे देने है?'

'आजकल एक ऑर्गेनिक सब्ज़ी वाला रोज़ आता है- एफ.टी.आई.आई. का एक छात्र मेरे साथ रुका हुआ है, ऑर्गेनिक सब्ज़ियाँ खरीदता रहता है, वेगन है, मुझे दही भी नहीं खाने देता, बोलता है दूध पर पहला हक़ बछड़े का है। ऑर्गेनिक सब्ज़ियाँ तो बहुत महँगी हैं और पूरा फ्रिज, किचन इन सब्ज़ियों से भर चुका है। इस हालत में तो मैं कुछ खा ही नहीं पाता हूँ। फिर यह हर दिन सब्ज़ियाँ खरीदने की क्या ज़रूरत है ? तुम उसे सख़्ती से बोल दो, मेरे पास पैसे नहीं है।' मैंने दरवाज़ा खोला तो वहाँ डाकिया था, जो कुछ डाक देने आया था। मैंने जब उनको बताया कि ऑर्गेनिक सब्ज़ी वाला नहीं है तो उनकी जान में जान आयी, बोले, 'वैसे लड़का है भला, जब भी मुझे तेज़ दर्द रहता है तो यहीं मेरे कमरे में फ़र्श पर सो जाता है'। इसके बाद मैंने उनके नाखून काटे। नाखून काटने के कुछ देर बाद उनको एकदम तेज़ दर्द शुरू हो गया। वह ज़ोर-ज़ोर से कराहने लगे थे। मैं घबरा कर उठ गया तो उन्होंने हाथ से इशारा करके बैठने को कहा, बोले, 'मुझे हिप-बाथ से आराम मिलेगा। अब घर पर कोई है नहीं।' मैंने उनसे कहा कि अगर वो मुझे बता दें तो मैं बाथ तैयार कर सकता हूँ। उन्होंने अचानक मेरी ओर देखा और पूछा, 'क्या आप कर पाएँगे?' 'जी ज़रूर', मैंने कहा। उन्होंने बाथरूम में जाकर उनके लिए गरम पानी की हौदी भरने को कहा। जब मैंने भर दिया तो बोले कि 'अब सबसे मुश्किल काम है। मैं चलकर टब में नहीं बैठ पाऊँगा, आपकी मदद चाहिए होगी।' बेशक मणि साहब बीमारी से कमज़ोर हो चुके थे पर अब भी उनको उठाकर टब तक ले जाना मेरे बस की बात नहीं थी। फिर भी हम दोनों ने हिम्मत की। बिस्तर से नीचे आते ही मणि साहब बैठ से गये थे। मैंने मज़बूती से उनको पीछे कन्धों से पकड़ा और बाथरूम की ओर ले जाना शुरू किया। बाथरूम उनके कमरे से जुड़ा हुआ था और कुछ ही फ़ीट की दूरी पर था। पर उस वक़्त फ़ीट मीलों में बदल गये थे। किसी तरह बेहद जद्दोजहद के बाद मैं उनको टब तक पहुँचाने में कामयाब हुआ और उनके पास ही बाथटब की सिल पर बैठ गया। कुछ देर मणि साहब वहाँ बैठे तो उनको आराम हुआ। थोड़ी देर चुप रहने के बाद अचानक बोले, 'कल एक फ़ेस्टिवल वाले आ गये थे-एक ट्रॉफी दे गये हैं-लाइफ़ टाइम अचीवमेंट अवॉर्ड। मैं बहुत गुस्सा हुआ और उनको बोला कि यह मत सोचना कि मैं इतनी ज़ल्दी मर जाऊँगा। पूरी ज़िन्दगी इतने सुख से काटी अब दुःख मिल रहा है, बस। ठीक हो जाऊँ तो सिनेमा और संगीत के सम्बन्ध पर मेरे मन में कुछ विचार आये हैं, उन्हें लिखना है'। कुछ देर बातें करने के बाद मणि साहब ने वापिस जाने की इच्छा जताई। वापिस ले जाना और भी मुश्किल था। बेशक

मैं उनके शरीर को कई बार तौलिए से पोंछ चुका था, फिर भी उनका शरीर गीला था और मेरे हाथ बार-बार फिसल रहे थे। मुझे आसानी से रोना नहीं आता। बचपन से ही इतना कम रोता था कि एक बार मेरी माँ मुझे डॉक्टर के पास ले गयी थी कि इसके आँसू नहीं आते हैं। तब डॉक्टर ने शायद बताया था कि यह इसकी ग्रन्थियों का स्वभाव है-आँसू कम बनते हैं। पर मुझे याद है कि मणि साहब को वापिस पलंग पर लिटाते वक़्त मेरी आँखें नम हो चुकी थीं। इसके बाद मैंने उनसे भारी मन से विदा ली। कुछ ही दिनों में उनके गुज़र जाने की ख़बर आ गयी। आख़िरी समय में वे एकदम अकेले थे। बस कुछ एक छात्र और मित्र ही आख़िरी समय में उनके साथ थे, जिनकी फ़िल्मों और बातों में मणि साहब हमेशा ज़िन्दा रहेंगे। मणि साहब के गुज़रने के कुछ वर्षों बाद कैथरीन को बालक हुआ तो उसने मुझे बर्लिन से ईमेल किया-उसने अपने बच्चे का मध्य नाम मणि रखा था, उसका मेल पढ़ते हुए मेरे मन में अहमद नदीम क़ासिमी की दो पँक्तियाँ गूँज उठीं :

कौन कहता है कि मौत आयी तो मर जाऊँगा
मैं तो दरिया हूँ समन्दर में उतर जाऊँगा

मनुष्य

एक शोध निबन्ध

अमृता भारती

Man is the individual human being and yet he is all mankind, the universal man acting in the individual as a human personality. He is all and yet he is himself and unique. He is what he is, but he is also the past of all that he was and the potentiality of all that he is not.

Sri Aurobindo

What a piece of work is a man! how noble in reason! how infinite in faculty! in form, in moving, how express and admirable! in action how like a god! the beauty of the world! the paragon of animals!

Shakespeare

मनुष्य

मनुष्य सुन्दर कृति है, देवों का आयतन।[१]
ईश्वर ने मनुष्य को अपनी ही प्रतिरूपता में बनाया।[२]
मनुष्य समस्त प्राणियों का मधु है।[३]
मनुष्य अपनी वास्तविक प्रकृति में आत्मा है।[४]
मनुष्य ईश्वर का अविनाशी अंश है।[५]
प्राण मनुष्य हैं।[६]

हे मानवजन, मैं तुम्हें एक रहस्यमय सत्य बताता हूँ-,
'मनुष्यत्व से श्रेष्ठतर अन्य कुछ नहीं है।'[७]

कैसी कृति है यह मनुष्य? बुद्धि में कितना उदात्त! मनः शक्ति में कितना असीम! रूप में, संचरण में कितना अभिव्यक्त और प्रशंसनीय! कार्य में एक देवदूत के सदृश! ग्रहणशीलता में मानो ईश्वर! संसार का सौन्दर्य! समस्त जीवों का प्रतिमान![८]

---

१. **पुरुषो वाव सुकृतम्। ...आयतनं ...।** ऐत.उप., १.२.३
सुकृतं बत ते कृतम्। भा.पु., ३.२०.५१
पुरुषायतनं महत्। क्षुरिक उप., १०
अथालोच्य वपुर्ब्रह्मा कान्तमात्मीयमुत्तमम्। यो.वा., स्थि. प्र., ४४.४२

२. **तादृग्रूपो हि पुरुषः।** मुक्ति उप., २.५६
पुरुषाकृतित्वात् पुरुषः। शंकर भाष्य, बृहद. उप., १.१५.१
ओल्ड टेस्टामेण्ट, जेनोसिस, द न्यू वर्ल्ड ऑर्डर, ६

३. **इदं मानुषं सर्वेषां भूतानां मधु।**
अस्य मानुषस्य सर्वाणि भूतानि मधु।। बृहद. उप., २.५.१३

४. श्री अरविन्द, दि सिन्थेसिस ऑफ़ योग, वाल्यू. २१, पृ. ५६८

५. **ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।** गीता, १५.७
जीवः शिवः शिवो जीवः।
स जीवः केवलः शिवः।। स्कन्द उप., ६
ईश्वर अंस जीव अबिनासी। तुलसी, रा.च.मा., उत्तर काण्ड

६. **प्राणो मनुष्याः।** बृहद. उप., १.५.६

७. **न हि मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किंचित्।** वेदव्यास

८. शेक्सपियर, हैमलेट, अंक २, दृश्य २

मनुष्य में या व्यक्ति-सत्ता में प्राण की स्थिति, शक्ति, क्रिया और परिणामों का विशद विवरण प्रस्तुत करने के लिए यह शोध अध्ययन है। मनुष्य अपने ही अनेक व्यक्तियों, आयामों एवं स्तरों में क्रियाशील एक व्यक्ति सत्ता है। वह पार्थिवता का सर्वोत्कृष्ट सुन्दरतम रूप है जो दिव्यता के प्रति उन्मुख और अग्रसर है।

श्री अरविन्द के शब्दों में- ''इस भौतिक जगत् में मनुष्य परम 'इच्छा शक्ति' की सर्वोच्च अभिव्यक्ति है। जिस शक्ति ने लोकों का निर्माण किया, मनुष्य में वह उस 'वस्तु' तक पहुँच सकी, जिसे वह अभिव्यक्त करना चाहती थी। ...मनुष्य इस ग्रह पर सर्वोच्च सम्भव नाम या देवता है, एक सम्बुद्ध पार्थिव देवत्व।''[१]

''मनुष्य प्रकृति के संक्रमण-परिवर्तन का महान् अभिधान है, जिसमें वह अपने लक्ष्य के प्रति सचेतन होती है। उसमें वह खुली आँखों से अपने दिव्य प्रयोजन का साक्षात्कार करती है।''[२]

''मनुष्य अपनी सर्वोच्चता में अर्धदेव है। ...पर अब उसे पूर्ण देवत्व प्राप्त करना है। इसका अर्थ है कि उसके सामने विकास का महान् और दुष्कर श्रम है, पर साथ ही उसके समक्ष है उसकी जाति और उसकी विजय का भव्य किरीट।''[३]

मनुष्य मनु-पुत्र है- **मनुजातम्**[४] जो ईश्वर के अवतरण के लिए सबसे अधिक सक्षम है।

यह मनुष्य चिन्तक है- **चिकित्वान्**[५], जो ज्ञान से अभिमन्त्रित है।

यह चिन्तनशील मनुष्य अपनी व्यक्ति-सीमा में उस असीम अनन्त सच्चिदानन्द का अन्वेषण कर रहा है। उसकी हर इच्छा, उत्कण्ठा, व्यग्रता उसी 'परम' के लिए है, लेकिन जो अज्ञात, अस्पष्ट और आच्छन्न होने के कारण अवरता में विचरण कर रही है। मनुष्य की यह व्यग्रता और अधीरता पशु और देव से भिन्न है- ''पशु आवश्यकता की स्वल्पता से सन्तुष्ट हो जाता है। देवता अपने सौख्य, ऐश्वर्य से सन्तुष्ट हैं। पर मनुष्य तब तक विश्राम नहीं कर सकता, जब तक कि वह किसी उच्चतम श्रेयस् को प्राप्त न कर ले। वह प्राणियों में सर्वश्रेष्ठ है क्योंकि वह अत्यन्त असन्तुष्ट और अधीर है, क्योंकि वह सीमाओं के दबाव को सबसे अधिक अनुभव करता है। शायद वह अकेला है जिसे दिव्य सत्ता किसी परोक्ष लक्ष्य के लिए ग्रहण करने योग्य समझती है।''[६]

---

१. श्री अरविन्द, दि उपनिषद्स, वाल्यू. १२, पृ. १७६

२. वही, दि सुप्रामेण्टल मेनिफेस्टेशन, वाल्यू. १६, पृ. २७६

३. वही, सोशल ऐण्ड पोलिटिकल थॉट, वाल्यू. १५, पृ. २२०

४. ऋक्., १.४४.१

५. वही, ३.१७.२

६. श्री अरविन्द, दि लाइफ डिवाइन, वाल्यू. १८, पृ. ४६

मनुष्य जब तक अपनी आत्मा के हंस को नहीं जान लेता, तब तक वह अकृतार्थ और असम्पूर्ण है। उससे संयुक्ति ही उसकी कृतार्थता है-

अकृतार्थो नरस्तावद्यावद्धंसं न विन्दति।
प्रणवेन समायुक्तं कृतार्थ इति निर्दिशेत्।।[1]

मनुष्य आत्मा की इस सुगन्ध के साथ ही इस पृथ्वी पर आता है, पर इसी की खोज में वह भटकता है और वह तब तक इस चक्र में घूमता रहता है जब तक कि इसे प्राप्त नहीं कर लेता-

तावद् भ्रमति संसारे यावत्तत्वं न विन्दति।[2]

मनुष्य के अन्दर समस्त सम्भावनाओं का निवास है। सारी स्वतन्त्रताएँ उसके पास हैं। उसके पास उत्थान के आकाश-शिखर हैं और पतन के अतल गर्त्त भी। उसके अन्दर पशु भी है और देव भी। वह इनके बीच निरन्तर संक्रमण कर रहा एक प्राणी है। सारी गौरव-गाथाएँ मनुष्य से जुड़ी हैं और अधःपतन की सारी खाइयाँ भी। फिर भी सर्वत्र वह मनुष्य है, मन और बुद्धि का अधिष्ठान। मननशील प्राणी-

ये विद्वांसस्ते मनवः।

जब 'स्मृति' मनुष्य को आहार, निद्रा, भय, मैथुन की सामान्यता के बावजूद पशु से अलग करती है, तब यह बुद्धि तत्त्व है जो उसके वैशिष्ट्य या पार्थक्य का कारण बनता है-

आहारनिद्रा भय मैथुनं च
सामान्यमेतत्पशुभिर्नराणाम्।
बुद्धिर्हि तेषामधिको विशेषो
बुद्धेर्विहीनाः पशुभिः समानाः।।[3]

पर आहार, निद्रा, भय, मैथुन की यह समानता भी मनुष्य में विभिन्न आयाम ग्रहण करती है। वह इसमें भी सामान्य या सर्वसामान्य नहीं है। वह विचार, वचन और कर्म के द्वारा इनमें भी परिवर्तन उपस्थित करता है या उन्हें कृत, अकृत करता है। उसकी भावात्मक सत्ता, उसके भाव-संवेदन शारीरिक क्रियाओं में, जीवन के साधारण से साधारण कार्य में भी सौन्दर्य की अभिव्यंजना और अन्वेषणा करना चाहते हैं।

---

१. स्वच्छन्द., ६.३३

२. वही, ६.३२

३. हितोपदेश

जब देवता उसकी रचना को 'सुकृतम्' कहते हैं तब यह उसका रूप, उसका शरीर भी है जो उसे अन्य पशु-प्राणियों से अलग करता है। उसमें मन है, अहंकार है, सर्वोपरि रूप से विकासशील चेतना है जो शरीर, मन, बुद्धि के रूपों में अपने को चरितार्थ करने का प्रयत्न कर रही है।

श्री अरविन्द मनुष्य में बुद्धि के वैशिष्ट्य को इन शब्दों में प्रकट करते हैं- ''यह प्रज्ञात्मक शक्ति, मनुष्य की यह बुद्धि पूर्ण या ऐकान्तिक रूप से तर्कणायुक्त विचार या संकल्प से निर्मित नहीं है, बल्कि इसमें एक गहनतर, अन्तःप्रज्ञापूर्ण, अधिक उत्कृष्ट और शक्तिशाली प्रकाश और तेजोमयता निहित है। इसका स्वभाव है प्रकाश की ओर प्रेरित करना और यह प्रकाश न तो तर्क की शुष्क ज्योति है और न तो हृदय की आप्लावनयुक्त रोशनी। इसमें विद्युत् की दीप्ति और सूर्य की तेजस्विता है।''[१]

वनस्पति और पशु जगत् में, यहाँ तक कि खनिज जगत् में भी चीज़ें कार्यक्रम के अन्तर्गत हैं- योजनाबद्ध, एक निश्चय और निश्चिति के अन्दर; जबकि विकास और परिवर्तन वहाँ पर भी है, सिर्फ़ अभिज्ञा या उसकी संवेद्यता नहीं है। ...किन्तु मनुष्य में किसी भी निश्चय की कोई परिधि नहीं है। वह स्वीकार सकता है, नकार सकता है, क्रम के सोपानों में भेद उत्पन्न कर सकता है। वह प्रयोग और आविष्कार कर सकता है। संकल्प और विकल्प का चुनाव उसकी इच्छा पर निर्भर करता है। पृथ्वी उसके पैरों के नीचे है और अन्तरिक्ष उसके शीर्ष पर। संचरण की हर दिशा उसकी अपनी है, उड़ान का हर दिग्मण्डल उसका अपना।

यह सामर्थ्य केवल मनुष्य की ही है, यह स्वतन्त्रता। करने की, न करने की, अन्य प्रकार से करने की क्षमता-

कर्तुमकर्तुमन्यथा वा कर्तुं शक्यम्।[२]

मनुष्य स्वयं ही अपना निर्माता है, अपने भाग्य का निर्माता भी, क्योंकि भाग्य उसके कर्म के साथ संयुक्त है। मनुष्य की सत्ता, उसकी प्रकृति, जीवन की समस्त अवस्थाएँ, यहाँ तक कि घटनाएँ भी उसकी अपनी आन्तरिक एवं बाहरी क्रियाओं का परिणाम हैं।

मनुष्य विशिष्ट कर्म के साथ धरा पर आया है। यह कर्म यज्ञ है, जिसके साथ प्रजापति ने मनुष्य का सृजन किया है कि वह इससे देवताओं को तुष्ट करे, और देवता उसे तुष्टि प्रदान करें। पोषण और तोषण :

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेषवोऽस्त्विष्टकामधुक्।।[३]

---

१. श्री अरविन्द, सोशल ऐण्ड पोलिटिकल थॉट, वाल्यू., १५, पृ. ७६-७७

२. शंकराचार्य, ब्रह्मसूत्र भाष्य, १.१.२.२

३. गीता, ३.१०

यह यज्ञ ही कामधेनु है जो उसकी कामना को पूर्ण करती है, जिससे वह फल को दुह सकता है। यह यज्ञ विशिष्ट कर्म है, जो मनुष्य के साथ संयुक्त है। यह यज्ञ कर्म से उत्पन्न है- **यज्ञः कर्मसमुद्भवः।**[1]

''यह मनुष्य है जो सचेतन रूप से ऊपर की ओर दृष्टि डालता है। उसके भीतर उसकी चेतना और भी उच्चतर शिखरों की ओर उठना चाहती है। ऊँची से ऊँची उत्तुंगताओं की ओर। महत्तर विस्तार को प्राप्त करना, अपनी निम्नतर प्रकृति को परिवर्तित-रूपान्तरित करना, यह एक ऐसा दबाव है, एक ऐसी स्वभाविक अन्तःप्रेरणा जो उसमें सदा विद्यमान रहती है। ...क्योंकि वह अन्य पार्थिव प्राणियों से भिन्न है और समर्थ है कि स्वयं को आत्मा के प्रति उद्घाटित कर सके, उसे प्राप्त कर सके। उसकी मानवीय प्रकृति है सचेतन विकास के द्वारा अपना अतिक्रमण करना, जो वह है उससे परे आरोहण करना। ...यह उसकी विकासशील प्रकृति का दबाव है, बाध्यता है कि वह अपने ऊर्ध्वीकरण के लिए संघर्ष करे और अपने आदर्श को मूर्तिमान करे।''[2]

हर मनुष्य में अमरत्व की आकांक्षा है। सचेतन या अवचेतन रूप से उसमें मृत्यु का नकार और निषेध क्रियाशील है। अवर जीवों में अमृतत्व की जिज्ञासा या आकांक्षा नहीं है, पर मृत्यु से पलायन उनमें भी है। सामान्यतः मनुष्य भी सिर्फ़ मृत्यु से बचता है, वह अमरत्व की ओर अग्रसर नहीं होता, क्योंकि वह 'अग्रसरता' उसकी अन्तरात्मा के चुनाव और उस दिशा में उसकी यात्रा के साथ संयुक्त है। उसके अध्यवसाय के साथ। फिर भी वह इस दबाव से मुक्त नहीं है। यह अनेक रूपों में प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से बना रहता है। उसकी अन्तर-ज्योति आवरण के पीछे रहने पर भी उसे सूर्य-पथ पर लाने के लिए प्रयत्नशील रहती है। जीवन में चल रहा घटनाओं का क्रम, जन्म और मृत्यु के कोलाहलपूर्ण दृश्य, सारे ही द्वन्द्व-अन्तर्द्वन्द्व, प्रकाश और अन्धकार की छायाएँ, कलरव और क्रन्दन, सामंजस्य और विसंगति सबके बीच से गुजर रही है अन्तरात्मा की यह यात्रा कि मनुष्य का साक्षीभाव जागृत हो और वह इन आयासों से मुक्त हो सके।

मनुष्य में मुक्ति की आकांक्षा स्वभाविक है, **मुमुक्षवः पुरुषाः।**[3] उसमें सन्धान की शक्ति है, सिर्फ़ उसे लक्ष्य का निर्धारण करना है और अपनी इस आकांक्षा को परिपूर्ण एवं परिशुद्ध बनाना है।

''मैं ही 'वह' हूँ'' -यही वह सत्य है जो मनुष्य की चेतना के शिखर पर चमकता है।

''मनुष्य क्योंकि आत्म-चेतन प्राणी है, वह इस अभिज्ञा को उच्च स्तर तक विकसित करता है। वह भौतिक जगत् की सीमाओं में परिवर्धित हुए ज्ञान से या शक्ति से सन्तुष्ट नहीं हो सकता, क्योंकि

---

१. शंकराचार्य, ब्रह्मसूत्र भाष्य, १.१.२.२

२. श्री अरविन्द, दि लाइफ डिवाइन, वाल्यू. १६, पृ. ७१६-७१७

३. मुक्ति उप., १

ये भी सीमित और अनिश्चयात्मक हैं। वह अपने भीतर विद्यमान उस असीम अनन्त का अनुभव करता है, इसलिए वह उसे जानने और प्राप्त करने की आवश्यकता से पलायन नहीं कर सकता।''[१]

''वस्तुतः मनुष्य का 'अज्ञान' भी बहुमुखी है जो सम्पूर्ण को समाविष्ट करनेवाले 'ज्ञान' की प्राप्ति के लिए निरन्तर संघर्षशील है। यही मनुष्य की परिभाषा है।''[२]

शास्त्रों में कथन है- मनुष्य ही शिव है, मनुष्य ही जीव है। विशुद्ध स्वभाव होने पर वह शिवात्मा है और संकुचित होने पर वह जीव है। वास्तव में जीव और शिव में कोई भेद नहीं है :

स तु विशुद्धस्वभावः शिवात्मा, मायापदे तु
संकुचितस्वभावः पशुः।[३]
जीवशिवयोः वास्तवो न कोऽपि भेदः।[४]

यह 'स्वातन्त्र्य' और 'संकोच' का भेद है जो इनमें पार्थक्य या दूरी या अन्य की तरह प्रतिभासित होता है।

श्री अरविन्द इस भेद को इन शब्दों में प्रकट करते हैं- ''मनुष्य की निर्मिति ईश्वर की प्रतिरूपता में हुई, किन्तु उस दिव्य सत्ता और उसकी इस मानवीय प्रतिरूपता के बीच जो अन्तर है, वह यह है कि उस एक में जो असीम, स्वैच्छिक, पूर्ण, समन्वित, आत्म-अधिकृत है, इस दूसरे में वह सीमित, सापेक्ष, कठिन, असंगत, अपरूप संघर्षमय हो जाता है। ...पर इस अनवरत अपूर्णता में सदा ही पूर्णता के लिए एक आकांक्षा और अभीप्सा है। यह सीमित मनुष्य 'असीम' और 'अनन्त' के लिए लालायित और उत्कण्ठित है।''[५]

शास्त्रों में अनेक स्थलों पर दो पुरुषों का दार्शनिक उल्लेख मिलता है। गीता में इस सत्य का प्रकाशन इन शब्दों में हुआ है- **द्वौ इमौ पुरुषौ लोके**[६] -इस लोक में दो पुरुष हैं, एक जो क्षर है- नाशवान् और परिवर्तनशील, दूसरा वह जो अक्षर है, अनाशवान् और अपरिवर्तनशील। मनुष्य जो मर्त्य है, मरणशील, उसमें यह अमृत पुरुष निवास करता है।

इसे स्मृति इस प्रकार भी कहती है कि यह देह के मध्य रहकर भी देह से पृथक् है :

---

१. श्री अरविन्द, सल्पिमेण्ट, वाल्यू., २७, पृ. ३६४

२. वही, पृ. ४०७

३. ईश्वर प्रत्यभिज्ञा ११.११.३

४. वही, ४.१; शिवदृष्टि, II. ३४

५. श्री अरविन्द, दि सुप्रामेण्टल मेनिफेस्टेशन, वाल्यू. १६, पृ. २७८-२७६

६. गीता, १५.१६

जीवात्मा कायमध्यस्थस्तत्रापि देहवर्जितः।[1]

एक वह है जो अनभिभूत, अप्रभावित के सदृश इस देह में संचरण करता है- **अनभिभूत इव प्रतिशरीरेषु चरति।**[2] वह शुद्ध है, स्थिर है, अचल, अलेप्य, अव्यग्र, निस्पृह, प्रेक्षक की भाँति स्थित है।[3] और एक वह दूसरा है जो अधः-ऊर्ध्व गति तथा द्वन्द्वों से अभिभूत होकर परिभ्रमण करता है- **अस्ति खल्वन्योऽपरो** ...[4]

अवांच्योर्ध्वा वा गतिर्द्वन्द्वैरभिभूयमानः परिभ्रमति।[5]

यह दूसरी सत्ता ही मनुष्य की संघर्षशील आत्मा है जो उस प्रेक्षक की भाँति स्थित, निस्पृह, अनभिभूत आत्मा की तरफ लौटना चाहती है।

ये दोनों पुरुष या दोनों आत्माएँ सयुजा हैं, सखा हैं, पर इनकी वृत्ति, इनका अनुभव अलग है:

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति।।[6]

ये दो सुन्दर पक्षियों की भाँति मानव-देह रूपी एक वृक्ष पर रहते हैं, पर एक फल को खाता है, दूसरा केवल देखता रहता है।

अन्यत्र इन्हें ब्रह्म के ही दो रूप कहा गया है।

वस्तुतः ये सारे कथन मनुष्य के भीतर निवास कर रही व्यापकता और विराटता का उद्घाटन करते हैं। ईश्वर ने उसे अपनी प्रतिरूपता में सम्भवतः इसीलिए निर्मित किया कि वह अपनी इस संरचना में अपना साक्षात्कार कर सके।

ऋषियों की ऋचाएँ, समस्त शास्त्र, संहिताएँ, स्मृतियाँ, पुराण हर रचना का आदि-अन्त वह ही है- एक आरम्भ जो पूर्णता में परिणत होता है। परा विद्या या अपरा विद्या का हर वातायन उसके लिए खुलता है। ज्ञान की हर ज्योति, मन की हर सम्भावना, हृदय का हर पटल, भाव की हर सुगन्ध सर्वत्र सबमें ही वह है।

---

१. बृहत्पराशरस्मृति, ३१७

२. मैत्रा. उप., २.७

३. वही।

४. वही, ३.२

५. वही, ३.१

६. मुण्डक उप., ३.१.१; श्वेता. उप., ४.६; ऋक्., १.१६४.२०

''संसार का सम्पूर्ण भौतिक भूतकाल मनुष्य में सार रूप से संचित है और 'प्रकृति' ने उसमें अपनी वैश्विक शक्तियों का निचोड़, निष्कर्ष प्रस्तुत किया है।''[१]

मनुष्य अन्नमय पुरुष है, प्राणमय पुरुष है, मनोमय पुरुष है, विज्ञानमय पुरुष है और वह ही आनन्दमय पुरुष है।[२]

यह मनुष्य है, ऋषि मानव जो गान करता है :

मैं वह हूँ, जो विश्व-वृक्ष का संचलन करता है। मेरी महिमा पर्वत-स्कन्धों के सदृश उच्च है। सूर्य में अमृत के समान मैं ऊर्ध्व और पवित्र हूँ। मैं महान् चिन्तक हूँ और अमृत से सिक्त हूँ :

अहं वृक्षस्य रेरिवा। कीर्तिः पृष्ठं गिरेरिव। ऊर्ध्वपवित्रोवाजिनीव
स्वमृतमस्मि। द्रविणं सवर्चसम्। सुमेधा अमृतोक्षितः।[३]

यह मनुष्य है जो प्रार्थना करता है :

स मेन्द्रो मेधया स्पृणोतु। अमृतस्य देव धारणोभूयासम्।
शरीरं मे विचर्षणम्। जिह्वा मे मधुमत्तमा। कर्णाभ्यां भूरि विश्रुवम्।[४]

इन्द्र मुझे मेधा से शक्तिशाली बनाए। मैं अमृत को धारण करूँ। मेरा शरीर कर्म के लिए स्फूर्तिमय हो। मेरी जिह्वा मधुमयी हो। मेरे कर्ण बहुलता से सुन्दर श्रवण करें।

यह मनुष्य श्रोत्रिय है, श्रेष्ठ है और अपने जीवन का और अपनी समस्त दैहिक-मानसिक शक्तियों का उत्कृष्टतम उपयोग करने का आकांक्षी है। उसमें समस्त इन्द्रियों की सक्षमता के साथ दीर्घजीवन की अभीप्सा है : **जीवेम शरदः शतम्।**[५] आदि

आनन्द-मीमांसा में श्रेष्ठ मनुष्य के आनन्द को इन शब्दों में अभिव्यक्त किया गया है :

युवा स्यात्साधुयुवाध्यायकः। आशिष्ठो दृढिष्ठो बलिष्ठः।
तस्येयं पृथिवी सर्वा वित्तस्य पूर्णा स्यात्। स एको मानुष आनन्दः।[६]

---

१. श्री अरविन्द, दि सुप्रामेण्टल मेनिफेस्टेशन, वाल्यू. १६, पृ. २६८

२. तैत्ति. उप., ब्रह्मा. १.२.३.४.५

३. वही, शिक्षा., १०

४. वही, ४

५. ऋक्., ७.६६.१६; अथर्व., १९.६७.२

६. तैत्ति. उप. ब्रह्मा., ८; बृहद. उप., ४.३.३३

मनुष्य युवा हो, सुन्दर श्रेष्ठ हो, अध्ययनशील अथवा श्रोत्रिय हो। आशावान् और सुन्दर आचरण वाला हो, उसका हृदय दृढ़ स्थिर हो और शरीर बलवान् हो। और समस्त धनधान्य से पूर्ण पृथ्वी उसकी हो। यह एक मनुष्य का आनन्द है।

वेद-उपनिषदों में सर्वत्र मनुष्य के जन्म-जीवन और धर्म के साथ पृथ्वी की विपुल सम्पदाओं का स्वीकार है। सुन्दर श्रीमय जीवन, उच्च अभीप्साओं से भरा हुआ, लक्ष्य की ओर आरूढ़ और त्यागमय।

सम्पदाओं के स्वीकार के साथ ये वचन भी हैं : **त्यक्तेन भुंजीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम्।**[१] त्यागपूर्वक विषयों का भोग करो, अन्य किसी के भी धन का लोभ मत करो।

मनुष्य को धन से तृप्त नहीं किया जा सकता- **न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यः।**[२] उसके साथ दान शब्द जुड़ा हुआ है- देनेवाले मनुष्य की सब प्रशंसा करते हैं- **ददतो मनुष्याः प्रशंसन्ति।**[३]

मनुष्य के अन्दर प्रश्न है- क्या मैं धन-सम्पदाओं को लेकर अमृतत्व की प्राप्ति कर सकता हूँ? मैत्रेयी याज्ञवल्क्य से पूछती है :

यन्नु म इयं भगोः सर्वा पृथिवी वित्तेन पूर्णा स्यात्कथं तेनामृता स्याम?[४]

ऋषि का स्पष्ट उत्तर है- **न इति।** धन से अमृतत्व की आशा नहीं की जा सकती :

अमृतत्वस्य तु न आशास्ति वित्तेन इति।[५]

बाहर जो कुछ भी है- सारे सम्बन्ध, धन-सम्पदाएँ, देव और भूतवर्ग, ये सब मनुष्य को इस आत्मा की प्रियता के लिए ही प्रिय हैं, उनकी प्रियता के लिए नहीं- **न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवति आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति।**[६]

मनुष्य सर्वत्र इसी प्रिय की खोज कर रहा है, क्योंकि ये लोक, ये देवगण, ये प्राणी और यह सब जो कुछ भी है, सब आत्मा है :

इमे लोका इमे देवा इमानि भूतानीदं सर्वं यदयमात्मा।[७]

---

१. ईश उप., १

२. छान्दो. उप., १.२७

३. बृहद. उप., ३.८.६

४. वही, २.४.२

५. बृहद. उप., २.४.२

६. वही, २.४.५

७. वही, २.४.६

''अन्तरतम सत्य में यह अन्तरात्मा ही उसकी केन्द्रीय सत्ता है।''[1]

मनुष्य एक व्यक्ति सत्ता है, और यह आत्मा उसकी व्यक्ति अन्तरात्मा है। परमात्मा का अंश होकर भी यह उससे पृथक् एक विकासशील एवं संघर्षशील आत्मा है। यही वह सद्वस्तु है, वह दिव्य जोत, जो मानव-अस्तित्व के समग्र विकास एवं उसकी सांगोपांग पूर्णता के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहती है और मनुष्य को अपनी उपस्थिति के द्वारा सचेतन विकास के लिए बाध्य करती है।

भागवत चेतना सर्वत्र विद्यमान है, हर प्राणी में, पर मनुष्य में यह स्वरूप ग्रहण करती है। श्री अरविन्द ने इसे 'चैत्य पुरुष' (साइकिक बीइंग) संज्ञा से अभिहित किया है। ''यह वह सत्ता है जो मनुष्य के शरीर, प्राण और मन को अपने यन्त्रों के रूप में प्रयोग करती है। जो उनकी अधिष्ठाता है, जन्मान्तरों में जीवन के अनुभवों को वहन करती एक मृत्यरहित आत्मा। यह वह आत्मा है जो अनुभव के तारतम्यों को संयुक्त करती है और जन्मान्तरों में विकसित होती चलती है। यह स्थिर अमर तत्त्व जो मनुष्य में विकसित होता है, पुरुष है। वास्तव में यही मनुष्य है।''[2]

मनुष्य में दिव्य चेतना का संकेन्द्रण है।

यह चैत्य सत्ता देही है, जो जीर्ण शरीरों को छोड़कर नये शरीरों को धारण करती है- जन्म से जन्म का एक यात्री :

तथा शरीराणि विहाय जीर्णानि
अन्यानि संयाति नवानि देही।[3]

वस्तुतः यह व्यक्तिक दिव्य सत्ता है, जो हर मनुष्य में विद्यमान है।

डॉ. राधाकृष्णन ने अन्य प्रकार से व्यक्ति आत्माओं का उल्लेख किया है। उनके शब्द हैं- ''व्यक्ति आत्माएँ अनन्त हैं जो प्राणियों को अनुप्राणित करती हैं और अपनी प्रकृति में शुद्ध, शाश्वत और निर्विकार हैं। किन्तु संसार से सम्बद्ध होकर ये सुख और दुःख का अनुभव करने लगती हैं तथा संसृष्टि-क्रम में असंख्य मूर्तिमान् रूपों को धारण करती हैं।''[4]

श्री अरविन्द ने मनुष्य में विद्यमान 'चैत्य पुरुष' के विषय में अत्यन्त विशद चिन्तन प्रस्तुत किया है। उनका कथन है- ''यह 'चैत्य सत्ता' परमेश्वर की ज्योति है जो हमारे भीतर सदा प्रकाशित रहती है। हमारी बाह्य प्रकृति को आवृत कर रही किसी भी गहन अचेतनता के बावजूद यह सदा प्रज्वलित

---

१. श्री अरविन्द, दि लाइफ़ डिवाइन, वाल्यू. १६, पृ. ८६८

२. एम.पी. पण्डित, दि कन्सेप्ट ऑफ़ मैन इन श्री अरविन्द, पृ. ७

३. गीता, २.२२

४. राधाकृष्णन'स् इण्डियन फ़िलॉसफ़ी, II, पृ. ३४२

रहती है। परम दिव्य सत्ता से उद्‌भूत यह जोत 'अज्ञान' में निवास कर रही एक ऐसी प्रकाशमान सत्ता है जो उसमें तब तक विकसित होती रहती है जब तक कि यह उसे 'ज्ञान' की दिशा में अग्रसर न कर दे। यह एक छुपा हुआ 'साक्षी' है, एक गुप्त 'पथप्रदर्शक'। यह हमारे जन्म-जन्मान्तरों में विद्यमान अविनश्वर सत्ता है, परम दिव्य सत्ता का अविनाशी अंश। यह अन्तरतम सत्ता बाहर एक ऐसे चैत्य व्यक्तित्व का निर्माण करती है जो परिवर्तित होता है, विकसित होता है, एक जीवन से दूसरे जीवन में प्रगति करता है। क्योंकि यह एक यात्री है- जन्म और मरण के बीच चल रहा एक यात्री।[१]''

सत्प्रेम 'अग्नि' के रूप में इसका इस प्रकार चित्रण करते हैं- ''यह अग्नि ही उद्‌घाटक कुंजी है, क्योंकि यह परम 'शक्ति' से उत्पन्न है जो विश्व को प्रदीप्त या प्रज्वलित करती है। ...यह नये विश्व की अग्नि है, जो मनुष्य के हृदय में जल रही है, जो सोये हुए प्राणियों में जागती है (**य एष सुप्तेषु जागर्ति,** कठ उप., २.२.८)। और यह तब तक विश्राम नहीं लेगी जब तक कि हर चीज़ अपने पूर्ण सत्य में प्रतिष्ठित न हो जाए और यह संसार अपने उस आनन्द में, जिससे यह जन्मा है और जिसके लिए यह विद्यमान है।[२]''

वैदिक ऋचा अन्तर में विद्यमान इस प्रज्वलित प्रकाश को सम्बोधित कर कहती है- ''तुम्हारी शक्ति की प्रज्वलित किरणें हर ओर प्रसृत हों, तुमने मनुष्य को परम अमरत्व में प्रतिष्ठित किया है।''[३] ''तुम अपनी महिमा से मनुष्यों को प्रकाशमय करते हो- **महिम्ना विभावा सूनृतावान् वैश्वानरः अग्निः।**[४]

''धूमरहित अग्नि के सदृश यह पुरुष भूत और भविष्य का ईश है, यह ही आज है और यह ही कल भी रहेगा।''[५]

यह 'अन्तरात्मा पुरुष' सदा मनुष्यों के हृदय में निवास करता है- **'सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः।'**[६]

''एक ऋषि, एक शक्तिशाली सर्जक हमारे भीतर है।''[७]

---

१. श्री अरविन्द, दि लाइफ़ डिवाइन, वॉल्यू १८, पृ. २२५

२. सत्प्रेम, ऑन दि वे टु सुपरमैनहुड, पृ. ७६

३. ऋक्., १.६७.५

४. वही, १.५६.७

५. कठ उप., २.१.१३

६. श्वेता. उप., ३.१३; महानारा. उप., १६.३

७. श्री अरविन्द, सावित्री, वाल्यू. २८, पृ. ३७०

''मनुष्य की अपूर्णता प्रकृति का अन्तिम शब्द नहीं है, वैसे ही उसकी पूर्णता भी उसकी आत्मा का अन्तिम शिखर नहीं है।''[१]

सत्प्रेम कहते हैं- ''यह बिन्दु भविष्य में सन्निहित है जो अभी हमारे मन के लिए अग्राह्य है। पर वह 'भविष्य' हमारे अस्तित्व की गहराई में विकसित हो रहा है, जैसे सारी पत्तियाँ झर जाने के बाद गुलमोहर का फूल विकसित होता है।''[२]

मनु ने सर्वत्र विद्यमान 'अन्तःसंज्ञा'[३] का उल्लेख किया है। इसे उद्धृत करते हुए एम.पी. पण्डित का कथन है- ''यह संज्ञा या चेतना सर्वत्र है। दिव्य अग्नि का स्फुलिंग, यह दिव्य अंश सर्वत्र है। स्थावर जगत् में, पशुओं में भी यह है। यह वहाँ मूर्त नहीं हुआ है बल्कि एक संकेन्द्रण के सदृश है। मनुष्य इस दिव्य अंश के साथ जन्म लेता है। पर मनुष्य के विकसित होने पर यह दिव्य अंश एक सत्ता बन जाता है और यही सत्ता उसके भीतर चैत्य पुरुष का रूप ले लेती है। यह चैत्य पुरुष हृदय केन्द्र में है- वक्ष के मध्य भावात्मक केन्द्र के पीछे इसकी स्थिति है। वहीं से यह प्रभावित करता है, अन्तःप्रेरित करता है और मनुष्य के ऊर्ध्वगामी संचलन को क्रियान्वित करता है। अनेक क्रियाओं के द्वारा, गति-संचलन के द्वारा यह चैत्य पुरुष मनुष्य पर दबाव डालता है कि अहम् के विरूपित आवरण से मुक्ति पा ली जाए, स्वयं को उन्नत और विस्तृत किया जाए। वस्तुतः यह चैत्य पुरुष ही है जो समस्त ईश्वरोन्मुखी क्रियाओं के मूल में है।''[४]

''मनुष्य की प्रकृति को चैत्य के साँचे में ढलना है। ...व्यक्ति में प्रकाशमान इस दिव्य व्यक्ति सत्ता को चरितार्थ, प्रत्यक्ष संसिद्ध करना है।''[५]

जब श्रुति कहती है, वह महान् देव मर्त्यों में प्रविष्ट हुआ- **महो देवो मर्त्यां आविवेश**[६] तब ये मर्त्य मनुष्य हैं और यह देव चेतना का साक्षात् रूप है।

मनुष्य की व्यक्ति-सत्ता के विषय में श्री अरविन्द के शब्द हैं- ''हर मनुष्य की अपनी निजी व्यक्तिगत प्रकृति है, जो उस परम दिव्य प्रकृति से उत्पन्न है और उसके किसी एक तत्त्व को प्रतिभासित करती है।''[७]

---

१. वही, दि लाइफ़ डिवाइन, वाल्यू. १६, पृ. ७६३

२. सत्प्रेम, ऑन दि वे टु सुपरमैनहुड, पृ. १३-१४

३. मनुस्मृति, १.४६

४. एम.पी. पण्डित, दि कन्सेप्ट ऑफ़ मैन इन श्री अरविन्द, पृ. ६३

५. एम.पी. पण्डित, दि कन्सेप्ट ऑफ़ मैन इन श्री अरविन्द, पृ. ६५

६. महानारा. उप., १०.१

७. श्री अरविन्द, सोशल ऐण्ड पोलिटिकल थॉट, वाल्यू. १५, पृ. ११७

गीता में मनुष्य को, उसकी श्रद्धा को सत्त्वानुरूप कहा गया है- अर्थात् उसकी प्रकृति के अनुरूप। मनुष्य इसी श्रद्धा से निर्मित है और इसी श्रद्धा में निवास करता है। जैसी जिसकी श्रद्धा है, वही वह हो जाता है :

सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः।।[1]

यह श्लोक भी मनुष्य की विशिष्ट प्रकृति का, उसकी पृथक् व्यक्ति सत्ता का निरूपण करता है। यह सत्त्वानुरूपा श्रद्धा एक मनुष्य को दूसरे से अन्यता या व्यक्तिगत वैशिष्ट्य प्रदान करती है और उसके आन्तरिक एवं बाहरी कार्यकलापों का निश्चय करती है।

''हमारी आत्माओं की जो प्रकृति है, हमारी आकांक्षाएँ जिस ओर उन्मुख हैं, हम, हममें से हर कोई वही हो जाता है'' -प्लेटो के इस कथन को हम 'सत्त्वानुरूपा' शब्द से समझ सकते हैं।

सारी संहिताएँ, सारे शास्त्र उतनी ही व्यापक विविधता के साथ मनुष्य का विधि-विधान प्रस्तुत करते हैं। हिन्दू धर्म-ग्रन्थ हर मनुष्य की इसी विशिष्टता को ध्यान में रखकर अनेक विकल्पों के साथ नियमों का विधान करते हैं। वर्णाश्रम-व्यवस्था के मूल में इसी सत्त्वानुरूपता को लक्ष्य किया जा सकता है। अपनी प्रकृति के अनुसार, स्वभावगत निष्ठा से मनुष्य वर्णाश्रम चुनकर धर्म का अनुष्ठान और ईश्वर का आराधना करता है :

वर्णाश्रमेषु ये धर्माः शास्त्रोक्ता ...तेषु तिष्ठन् नरो विष्णुमाराधयति ...।[2]

मनुष्य की इस विशिष्टता का कथन पुराण इस प्रकार भी करते हैं कि भागवत सत्ता ने विभिन्नता के विनियोग से नाना रूपों में स्वयं का सृजन किया :

इन्द्रियार्थेषु भूतेषु शरीरेषु च स प्रभुः।
नानात्वां विनियोगश्च ...व्यसृजत स्वयं।।[3]

मनुष्य या मनुष्य की अवधारणा पर विचार करते समय नर-नारायण की परिकल्पना पर कुछ शब्द महत्वपूर्ण हो सकते हैं। नर और नारायण वस्तुतः एक ही सत्त्व के दो भाग हैं- **नारायणो नरश्चैव सत्त्वमेकं द्विधा कृतम्।**

पुराणों में इन्हें धर्मदेव के दो पुत्रों के रूप में स्वीकार किया गया है। ये दोनों ही वैखानस तपस्वी थे और महाविष्णु के अवतार भी।

---

१. गीता, १७.३

२. वि.पु., ३.८.१६

३. वि.पु., १.५.६१

विष्णु पुराण की व्याख्या इस प्रकार है :

आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनवः।
अयनं तस्य ताः पूर्वं तेन नारायणः स्मृतः।।[1]

इसी श्लोक की व्याख्या में यह कथन भी उद्धृत है :

नरतीति नरः प्रोक्तः परमात्मा सनातनः।

भागवत पुराण नर-नारायण को धर्मकला सर्ग में भगवान का चतुर्थ प्राकट्य स्वीकार करता है:

तुर्ये धर्मकलासर्गे नरनारायणावृषी।[2]

महाभारत इस युगल मूर्ति का इस प्रकार अभिनन्दन करता है :

नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम्।[3]

'स्मृति' में नारायण को जगत् के बीज पुरुष के रूप में स्वीकार किया गया है :

पुरुषो यो जगद्बीजमृषिर्नारायणः स्मृतः।[4]

नर और नारायण उपनिषद् के द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया ...[5] कथन की साकार अभिव्यंजना है।

श्री अरविन्द के शब्दों में- ''नर-नारायण की परिकल्पना मनुष्य में ईश्वर की और ईश्वर में मनुष्य के सम्बन्ध की अभिव्यंजक है। नर मानवी आत्मा है और नारायण दिव्य आत्मा है जो मनुष्य में सर्वदा एक गुह्य मार्गदर्शक, सखा और सहायक के रूप में उपस्थित है।''[6]

अवतार का प्रयोजन भी मनुष्य के साथ संयुक्त है। मनुष्य अपने अन्धकार में भी विशिष्ट है, अपने मोह में, अपने अज्ञान में।

यह मनुष्य है जो अपने अन्दर संहत हुई धर्म की ग्लानि से और अधर्म के परिवर्धन से भागवत सत्ता को आत्म-सृजन के लिए बाध्य करता है :

---

१. वही, १.४.६

२. भा. पु., ३.६

३. महा., आदि पर्व, अ.१

४. बृहत्पराशरस्मृति, ४.१२२

५. मुण्डक, ३.१.१

६. श्री अरविन्द, एस्सेज ऑन दि गीता, वाल्यू. १३, पृ. ११

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्।।[1]

और यह भी मनुष्य ही है जिसकी साधुता की रक्षा के लिए भागवत सत्ता अवतरण के लिए विवश हो जाती है- **परित्राणाय साधूनां** ...।[2]

मानुष रूप में- **मानुषं रूपं**[3] और मानुषी देह के आश्रय से- **मानुषीं तनुमाश्रितम्**[4] प्रकट हुआ यह जन्म दिव्य है और उस दिव्य सत्ता का हर कर्म भी दिव्य है- **जन्म कर्म च मे दिव्यं** ...।[5]

मानव-देह में विद्यमान भागवत सत्ता स्वयं एक प्रतिमान है मनुष्य के लिए- एक संचरणशील प्रकाश-स्तम्भ और आलोकित पथ एवं लक्ष्य भी।

-दुर्लभो मानुषो देहः सर्वदेहेषु सर्वदा-[6]

मनुष्यत्व दुर्लभ है। दुर्लभता से प्राप्त है इसीलिए शास्त्र मनुष्य को चेतावनी देते हैं- **धर्मं कुरुत मा चिरम्।**[7] वह पुरुषार्थ से जुड़ा है- **स्तूयते पुरुषार्थं च।**[8] यह उसके जन्म और जीवन का प्रयोजन है।

मनुष्य का वैशिष्ट्य उसे न केवल पृथ्वी के अवर जीवों से पृथक् करता है बल्कि देवासुरों की तुलना में भी उसे विशिष्ट स्थान प्रदान करता है। एक ओर यह कथन है- प्राणी कदाचित् ही पुण्य-संचय के कारण मनुष्यत्व प्राप्त करता है- **कदाचिल्लभते जन्तुर्मानुष्यं पुण्य संचयात्।**[9] तो साथ ही ये वचन भी हैं कि देव-असुरों में भी मनुष्यत्व अत्यन्त दुर्लभ है- **देवासुराणां सर्वेषां मानुष्यमतिदुर्लभम्।**

मनुष्य सब जीवों में उच्चतम है, उसके बाद ही अन्य पशुओं का स्थान है- **तावान्वै पुरुषो यः परार्ध्यः पशूनां य सर्वेऽनुपशवः।**[10]

---

१. गीता, ४.७
२. वही, ४.८
३. वही, ११.५१
४. वही, ९.११
५. वही, ४.९
६. विश्वसारतन्त्र, द्वितीय पटल
७. विष्णुस्मृति, अ. २२
८. चूलिका उप., ४
९. वि.पु., २.३.२३
१०. शत. ब्रा., ३.८.४.१

दुर्लभं प्राप्य मानुष्यं[१], **मानुषं दुर्लभं प्राप्य**[२], **मानुष्यं प्राप्यते पुण्य गौरवात् सर्वस्य मूलं मानुष्यं** आदि कथनों से शास्त्र मनुष्य के वैशिष्ट्य को प्रकट करते हैं, क्योंकि यह वैशिष्ट्य अभिप्राययुक्त है, क्योंकि धर्म से प्राप्त यह मनुष्यत्व सब पुरुषार्थों, सब प्राप्तियों का साधक है- **धर्ममूलेन मानुष्यं लब्ध्वा सर्वार्थसाधकम्।**

देवलोकों में दिव्य भोगों को भोगकर मनुष्य शेष पुण्य से शुभदर्शी मानवत्व को प्राप्त करता है:

उषित्वा तत्र कल्पान्तं भुक्त्वा भोगानमानुषान्।
प्राप्नोति पुण्यशेषेण मानुष्यं पुण्यदर्शनम्।।[३]

शास्त्रों में, पुराणों में विशेष रूप से वर्णित ये वक्तव्य कहीं मनुष्यत्व की विशेषता प्रकट करने के लिए हैं, कहीं उसकी क्षमता और शक्ति के प्रदर्शन के लिए और कहीं ये मनुष्य के लिए उसके मनुष्यत्व की चेतावनी हैं, जो उसे उसके जन्म और जीवन के प्रति सचेतन करती हैं।

तन्त्रागम में भी 'मानुष्य' को दुर्लभ कहा गया है, जो सहस्त्रों-सहस्त्र जन्मों के पश्चात् पुण्य के संचय से प्राप्त होता है :

अत्र जन्मसहस्त्रेषु सहस्त्रैरपि पार्वति।
कदाचिल्लभते जन्तुर्मानुष्यं पुण्यसंचयात्।।[४]

मनुष्य के अतिरिक्त अन्य कोई भी प्राणी तत्वज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता :

न मानुष्यं विनान्यत्र तत्त्वज्ञानन्तु लभ्यते।[५]

यह दुर्लभ मनुष्यत्व मोक्ष का सोपानभूत है :

सोपानभूतं मोक्षस्य मानुष्यं प्राप्य दुर्लभम्।[६]

इसीलिए देवता और पितर भी मनुष्य-जन्म की इच्छा करते हैं :

---

१. वराह उप., २.५
२. गरुड़ पु., १४.७६
३. वही, १४.८४
४. कुलार्णव तन्त्र, १.१५
५. वही, १.१७
६. कुलार्णव तन्त्र, १.१६

देवता पितरः सर्वे वांछन्ति जन्म मानुषम्।[१]

मनुष्यों को रक्षक कहा गया है- **मनुष्याः ते गोप्तारः।**[२]

वेद की अनेक ऋचाओं में 'मनुष्वद्' शब्द अत्यन्त सुन्दर सार रूप में प्रयुक्त हुआ है- 'कहीं मनु और कहीं मनुष्य' के रूप में। जहाँ ये दोनों शब्द आये हैं, वहाँ मनु का कथन मानव-जाति के आदि पुरुष और मार्गदर्शक के लिए है, अन्यत्र ये दोनों शब्द समानार्थक हैं :

मनुष्वदग्न आहुत[३]

मनुष्वदङ्गिरसस्तमः[४]

वरुण हवामहे मनुष्वद्[५]

मनुष्वदग्निं मनुना समिद्ध[६]

जो अग्नि मनु ने प्रज्वलित की थी, वह अब मनुष्यों के द्वारा प्रज्वलित हो रही है।

मनुष्य में विद्यमान दिव्य गुणों को सूर्य की रश्मियों का सादृश्य दिया गया है- **सप्त रश्मय ...मनुष्वद्दैव्यम्।**[७]

मनुष्य इन गुणों के रूप में **दैवी सम्पद**[८] का अधिष्ठान है।

यह मनुष्य ही है, जो इस भूमि पर वेदी का निर्माण करता है और यज्ञ का विस्तार करता है:

यस्यां वेदिं परिगृह्णति भूम्यां यस्यां यज्ञं तन्वते विश्वकर्माणः।[९]

मनुष्य की सम्भावनाएँ अनन्त हैं। उसकी सम्पूर्ण प्रकृति ही यह है कि वह जो है, वह उससे अधिक होना चाहता है। उसे किसी एक बिन्दु में स्थायी रूप से अवरुद्ध नहीं किया जा सकता और न तो उसे किसी विचार या ढाँचे में सीमित किया जा सकता है।

---

१. विश्वसारतन्त्र, द्वितीय पटल

२. तैत्ति. सं., ४.४.५.१

३. ऋक्., ८.४.३.१

४. वही, ८.४३.२७

५. वही, ८.२७.७

६. वही, ७.२.३

७. वही, २.५.२

८. गीता, १६.१-३

९. अथर्व., १२.१.१३

श्री अरविन्द के शब्दों में- ''मनुष्य को मृत्यु और विभाजन से प्रारम्भ करना है और एकत्व एवं अमरत्व तक पहुँचना है। उसे व्यक्ति सत्ता में विश्व सत्ता को और सापेक्ष में निरपेक्ष को संसिद्ध करना है। वह वस्तुपरक अनेकता में आत्म-चेतन हो रहा ब्रह्मन् है। ब्रह्माण्ड में वह 'अहम्' है, जो सर्व और सद्मतीत के रूप में स्वयं को सिद्ध कर रहा है।''[१]

तत्त्वमसि का **'त्वम्'** और **अहं ब्रह्मास्मि** का **'अहम्'** मनुष्य है। ये मनुष्य-सन्तानें हैं, जो अमृतपुत्र हैं- **अमृतस्य पुत्राः।**'

यह मनुष्य है, जो गर्व से मस्तक उन्नत कर कहता है- मैं पृथ्वी का पुत्र हूँ- **पुत्रो अहं पृथिव्याः।**[२]

मनुष्य के पास 'देव' की प्रतिरूपता में मिला शरीर है, जीवन तत्त्व प्राण है और सर्वोपरि रूप से मिला मन है। मनुष्य मन है, मनु, विचारक और चिन्तक और उसका सब कुछ इसी मन से संचालित है, दुर्बोध मन की जटिलता से। ''मनुष्य क्या है? एक अज और अविनाशी आत्मा, जिसने अपने ही तत्त्वों से निर्मित एक मन में और शरीर में अपना आवास बनाया है।''[३]

''मनुष्य एक 'मानसिक' सत्ता है, मनोमय पुरुष, जो एक प्राणमय शरीर में प्रविष्ट हो गया है और जो उसे अनन्त मन के योग्य बनाना चाहता है, अनन्त मानसिकता में ढालना चाहता है ताकि यह अभिव्यक्त सच्चिदानन्द का पूर्ण यन्त्र, पीठिका और मन्दिर हो सके।''[४]

और मनुष्य उस बिन्दु पर पहुँच गया है, समय के उस मर्मस्थल पर, जहाँ अब उसे कुछ और होना है, मन से परे, मानसिकता से परे।

अतिमानव की अवधारणा 'महाप्रकृति' के विकास-क्रम का अब अगला चरण है, जो अनेक रूपों में घटित हो रहा है, गूढ़ और गुप्त रूप से, और जो भविष्य के किसी भी क्षण में प्रत्यक्ष आकार ले सकता है।

'अतिमानव' श्री अरविन्द का अन्तर्दर्शन है, उनकी ऋषि आत्मा का साक्षात्कार, जिसे इस धरा पर नयी मानव-जाति के रूप में आकार लेना है। यह मनुष्य की अगली सम्भवता है, जिसकी तैयारी उसकी विज्ञानमयी आत्मा कर रही है।

'सुपरमैन', 'सुपरमाइण्ड', 'सुप्रामेण्टल'- श्री अरविनद के ये सभी शब्द 'नये मनुष्य' के लिए और 'नयी मानव जाति' के लिए हैं, जिसे अभी आविर्भूत होना है।

---

१. श्री अरविन्द, दि उपनिषद्स, वाल्यू. १२, पृ. १०४

२. अथर्व., १२.१.१२

३. श्री अरविन्द, दि सुप्रामेण्टल मेनिफेस्टेशन, वाल्यू. १६, पृ. ३८३

४. वही, दि उपनिषद्स, वाल्यू. १२, पृ. ५१६

मनुष्य के अध्ययन के सन्दर्भ में 'अतिमानव' का उल्लेख न केवल प्रासंगिक है, बल्कि यह योगियों, ज्ञानियों, मुमुक्षुओं और भक्तों के लिए एक ऐसे सत्य का उद्‌घाटन हे, जो उनकी दिशा के सूर्य को इस जगत् से पराङ्‌मुख होने से बचा सकता है और 'अज्ञान' या अँधेरे के हर पटल को उसमें अन्तर्निहित रश्मियों से प्रकाशमान कर सकता है।

मनुष्य और पृथ्वी के विकास-क्रम में अतिमानस सृष्टि का आविर्भाव अगली उपलब्धि है। अपने इस आत्मदर्शन और चिन्तन को श्री अरविन्द ने भौतिक जगत् के मापदण्डों और आत्मा के अतिसूक्ष्म प्रतिमानों के साथ अंकित और क्रियान्वित किया है। यह अन्तर्दर्शन उतना सत्य है जितना हमारा यह मानव-अस्तित्व। हमारी सत्ता अभी आवरणों और मलकोशों के अन्दर है। हमारे जन्म में रुदन है, जीवन में संघर्ष और मृत्यु में पराजय। पर अब इस शाश्वत क्रम को टूटना है, क्योंकि मनुष्य के अन्दर उस बीज को बो दिया गया है, दिव्य मानवता के उस भविष्य को, जो इस पृथ्वी के हिरण्मय पटल पर संचरण करेगा।

श्री अरविन्द के शब्दों में ''अतिमानस ही अतिमानव है। गुह्यज्ञानमय अतिमानवत्व पार्थिव प्रकृति के द्वारा लिया जानेवाला अगला विशिष्ट और विजयी विकासमान चरण है। पृथ्वी के विकास में यह अगली आगमनशील उपलब्धि है। यह अपरिहार्य है क्योंकि यह एक साथ अन्तर 'आत्मा' का इच्छित संकल्प और 'प्रकृति' की प्रक्रिया का युक्तियुक्त तर्क है। स्थावर, पशु-जगत् में मनुष्य का आविर्भाव आगामी दिव्य प्रकाश की पहली झलक थी, भौतिक में जन्म ले रहे देवत्व की प्रथम प्रतिश्रुति। मानव जगत् में अतिमानव का आगमन इस दिव्य प्रतिश्रुति की पूर्णता होगी। भौतिक चेतना में हमारा मन श्रृंखलाबद्ध दास की भाँति कार्य करता है। अब उसमें से शक्ति, आनन्द और ज्ञान का सूर्य-बिम्ब प्रकट हो रहा है। अतिमानस उस देदीप्यमान ज्योति का साकार विग्रह होगा।''[१]

''मनुष्य की महानता इसमें नहीं है कि वह क्या है, बल्कि इसमें है जिसे वह सम्भव कर दिखाता है। उसकी महिमा यह है कि वह ऐसी शिल्पशाला है जिसमें दिव्य 'शिल्पी' अतिमानवतत्व को निर्मित कर रहा है। मनुष्य को एक और भी बड़ी महानता के लिए स्वीकार किया गया है और वह यह है कि उसे अवर जीवों से अलग माना गया है और वह आंशिक रूप में स्वयं इस दिव्य परिवर्तन का शिल्पकार है। उसकी सचेतन स्वीकृति, उसकी समर्पित इच्छा और सहभागिता आवश्यक है कि उसमें वह महिमा अवतरित हो सके, जो उसका स्थान ले सके। अतिमानस के रचनाकार के प्रति उसकी अभीप्सा पृथ्वी की पुकार है।''[२]

अतिमानव विज्ञानमय पुरुष है, विज्ञान जो सत्य चेतना है- उसका एक प्राणवन्त सत्ता के रूप में प्रकाशन अतिमानवत्व का निरूपण है।

---

१. श्री अरविन्द, दि आवर ऑफ़ गॉड, वाल्यू. १७, पृ. ७

२. श्री अरविन्द, दि आवर ऑफ़ गॉड, वाल्यू. १७, पृ. ६

सत्प्रेम के शब्दों में-

''कठिनाई यह नहीं है कि नये पथ की खोज करनी है, बल्कि जो हमारी दृष्टि को बाधित कर रहा है, उसे हटाना, स्वच्छ करना है। मार्ग नया है, पूर्णतया नया, मनुष्यों ने इसे कभी देखा नहीं है और न तो कभी आत्मा के अखाड़ेबाज मल्लों ने इस पर संचरण किया है, फिर भी लाखों साधारण लोग प्रतिदिन इस पर चल रहे हैं, उस निधि, उस धनागार से अनजान, जिसे वे छू रहे हैं।''[१]

''मनुष्य अनजाने, अनचाहे ही अतिमानव के योग को कर रहा है। हम किसी मत या परिकल्पना को प्रस्तुत नहीं कर रहे हैं बल्कि यह एक विकासशील यथार्थ है, मानसिक चेतना ने उसके अर्थ को ग्रहण कर लिया है और अब इसने हमें अप्रतिरुद्धता के साथ उस बिन्दु तक पहुँचा दिया है कि हमें सम्पूर्ण रूप से किसी और चीज़ में घटित होना है।''[२]

यह सत्ता का सत्य है- अमर, अनन्त और अभेद्य।

''यह तब तक विराम नहीं लेगा जब तक कि यह सम्पूर्ण पृथ्वी और इसके प्राणी इसकी प्रतिरूपता ग्रहण न कर लें। ...यह नया प्राणी, एक दूसरे ही सार सत्त्व से बना यह 'नया मनुष्य' 'सत्य' की भाँति ही अमर, प्रकाशमान और भारहीन होगा।''[३]

हम जिस विशिष्ट बिन्दु और जिस क्षण में खड़े हैं, सत्प्रेम का कथन है- ''सारी पृथ्वियाँ और सारी आकाशगंगाएँ इस मूलभूत बिन्दु से गुज़र रही हैं। हमें केवल अपने मस्तिष्क और केवल अपने हृदय में नहीं, इस वैशिष्ट्य को अपने शरीर में अनुभव करना है। तब यह चमत्कार पूर्ण हो जाएगा और 'आत्मा' के शिखरों पर चमकता वह शाश्वत कमल हमारे भौतिक तत्त्व और समय के हर क्षण में प्रकाशमान होगा।''[४]

''अतिमानवत्व की उपदेशणा प्रगतिशील मानव-जाति के लिए एक उदात्त आदर्श प्रदान करती है। ...यह एक पुकार है मनुष्य के लिए, वह करने के लिए, जिसे पृथ्वी के इतिहास में न अन्य किसी जाति ने कभी किया है और न जिसकी अभीप्सा की है- स्वयं को सचेतन रूप से अगले श्रेष्ठतर 'प्रकार' में विकसित करना।''[५]

श्री अरविन्द वैदिक ऋषियों को उद्धृत करते हैं जो मनुष्य की इस सम्भावना में विश्वास करते थे और इसे उसकी दिव्य नियति के रूप में स्वीकार करते थे।

---

१. सत्प्रेम, ऑन दि वे टु सुपरमैनहुड, पृ. ३२

२. वही, पृ. १४२-१४३

३. वही, पृ. १६४

४. वही, पृ. ६७

५. श्री अरविन्द, दि सुप्रामेण्टल मेनिफ़ेस्टेशन, वाल्यू. १६, पृ. २७५

'अतिमानवतत्व सबका एक सुनिश्चित, दिव्य और सामंजस्यपूर्ण पूर्णत्व है जो मनुष्य में मुख्य और सारभूत रूप से है।''[१]

दूर, पार कहीं कुछ है, जिसे मनुष्य को होना है।

''इस भौतिक जगत् में जीवन गुप्त था, तब जीवन प्रकट हुआ। जीवन में मन प्रच्छन्न था, तब मन प्रत्यक्ष हुआ। इसी प्रकार वस्तुओं की इसी प्रकृति में गुप्त अतिमानस से प्रत्यक्ष अतिमानस को आविर्भूत होना है।''[२]

''मनुष्य की वर्तमान स्थिति और दिव्य स्थिति के बीच 'विज्ञान' कड़ी है, एक द्वार जहाँ से मनुष्य दिव्य मानवता में प्रवेश कर सकता है।''[३]

मनुष्य एक पिण्ड और यह ब्रह्माण्ड- इनका सत्य वह 'पथ' है जो सूर्य-रश्मियों की तरह फैला हुआ है। सामंजस्यपूर्ण एकत्व और संयुक्तीकरण योग की परिभाषा है। जो अन्तःचेतना में गुप्त है, उसे प्रकाशित करना, जो ऊर्ध्व में स्थित है, उसकी ज्योतिर्मय सत्यता में जीना, जीना सिखाना योगशक्ति का कार्य है, हो सकता है, यदि हम योग को इसके पूर्णत्व में ग्रहण कर सकें। प्राण, समष्टि और व्यष्टि, योग एवं जीवन का आधार है। मनुष्य भूमिका है- पीठिका, अतः उसकी बहुमुखी सत्ता के आयामों और उसकी सम्भावनाओं को रेखांकित करना इस अध्ययन की प्रस्तावना या प्राक्कथन है। मनुष्य एक विराट् पट्ट या पटल है, जिसके संस्तरों में प्राण के आयामों को न केवल शास्त्रीय बल्कि शास्त्रों में निहित वैज्ञानिक दृष्टि से, विज्ञानमयता से विश्लेषित होना है।

मनुष्य की सम्भावनाएँ अनन्त हैं। वह प्रतिपल विकसित हो रहा प्राणी है। सजग, सचेतन, विराटतर हो रहे दिगन्तों की ओर, ऊर्ध्वतर और सूक्ष्मतर ज्योतिर्मय आकाशों की ओर अग्रसर।

मनुष्य की सम्भावनीयता के विषय में मेवलाना जलालुद्दीन रूमी की सूफी सूक्ति से हम इस प्रकरण को विराम देते हैं :

मैं खनिजत्व में मर गया और वनस्पति बन गया।
और फिर मैं वनस्पति में से मरकर पशु बन गया।
मैं पशुत्व में से मर गया और मनुष्य बन गया।
तो मृत्यु से लुप्त होने से डरना क्यों?
अगली बार मैं मरूँगा

---

१. वही, पृ. २७८

२. वही, दि लाइफ़ डिवाइन, वाल्यू. १६, पृ. २६६

३. वही, दि आवर ऑफ़ गॉड, वाल्यू. १७, पृ. ६४

तब देवदूतों के समान पंख लेकर आऊँगा
उसके बाद देवदूतों से भी ऊपर उड़ता हुआ मैं
तुम जिसकी कल्पना न कर पाओगे
'वह' बन जाऊँगा।

जीवन-चरितः पण्डित कुमार गन्धर्वः पहला अध्याय

राग में बार-बार होता जन्म

ध्रुव शुक्ल

जन्मकथा

मैं तो रोज़ मरता हूँ - जो कुमार गन्धर्व आज तिलक कामोद गा चुके, वे कुमार गन्धर्व और तिलक कामोद दोनों मर चुके। फिर कुमार गन्धर्व गायेंगे और तिलक कामोद ही, पर वही नहीं - वे दोनों मर चुके ...

-कुमार गन्धर्व

किसी जन्म में कोई संगीतकार कैसे जन्म लेता है, कोई भी पूरी तरह कहाँ जान पाता है। आठ अप्रैल १९२४ ईसवी को भारत के कर्नाटक प्रदेश के बेलगाम से कुछ दूरी पर बसे सुलेभावी गाँव में शिवपुत्र सिद्धरामैया कोमकली का जन्म हुआ, जो बाद में संगीतकार पण्डित कुमार गन्धर्व के नाम से पूरे संगीत विश्व में प्रतिष्ठित हुए। उनके पिता श्री सिद्धरामैया कोमकली सुलेभावी ग्राम में ही स्थापित लिंगायत सम्प्रदाय के कोमकली मठ के प्रमुख थे।

उनकी माँ सिद्धौआ ने जिन छह सन्तानों को जन्म दिया उनमें सबसे बड़े भाई शिवरुद्रैया, दूसरे गंगैया और फिर तीसरे शिवपुत्रैया (कुमार गन्धर्व) हुए। चौथी इकलौती बहन राचम्मा हुई। पाँचवीं सन्तान शंकर नहीं रहा। छटवाँ भाई शान्तिवीर हुआ। पिता और उनकी सन्तानों को संगीत से बेहद लगाव था। पिता किराना घराने की गायकी में दीक्षित थे। माँ का कण्ठ भी मीठा था।

बेटा शिवपुत्र सात-आठ बरस की उमर तक अपने परिवारजनों की दृष्टि में संगीत के प्रति निर्लिप्त प्रतीत होता रहा। सुलेभावी के स्कूल में उसका दाखिला करवाया गया पर वह स्कूल भी नहीं गया। कोई नहीं जान पाया कि शिवपुत्र की स्मृति में बसे हुए स्वर न जाने कब उसके कण्ठ से फूट पड़ेंगे।

और एक दिन अचानक शिवपुत्र सिद्धरामैया कोमकली गा उठे - वह नारायणराव बालगन्धर्व का गाना था - तात करी दुहिता विनाश। उनकी गायकी परिवारजनों और पड़ौस के लोगों को आश्चर्यचकित कर रही थी। सब सोच में पड़ गये कि इतनी छोटी उमर में बिना किसी तालीम और रियाज़ के कोई कैसे गा सकता है। हू-ब-हू वैसा ही जैसा बालगन्धर्व और उस समय के बड़े संगीतकार

गाया करते थे। किसी एक दिन उस अंचल में पूज्यनीय गुरू कलमठ स्वामी शिवपुत्र के गायन से अभिभूत होकर कह उठे कि यह तो कुमार गन्धर्व है। बस उसी दिन से शिवपुत्र सिद्धरामैया कोमकली अपनी नौ बरस की उमर में ही कुमार गन्धर्व नाम से प्रसिद्ध होने लगे।

कुमार गन्धर्व अपने बचपन को याद करते हुए अपनी डायरी में लिखते हैं कि यह उन दिनों की बात है जब वे बैलहोंगल के पास आमटूर गाँव में रहते थे। उन दिनों केवल शास्त्रीय संगीत के ही ग्रामोफ़ोन रिकार्डस् बनते थे। फ़िल्मी संगीत का कोई अता-पता नहीं था। संगीतकार नारायणराव व्यास, पण्डित दीनानाथ मंगेशकर, विनायकराव पटवर्धन, रामकृष्ण बुवा वझे, मल्लिकार्जुन मंसूर, अब्दुल करीम खाँ, हीराबाई बड़ोदेकर, गौहरजान सोलापुरकर और इंदिराबाई वाडकर आदि मशहूर शास्त्रीय गायकों के ही रिकार्डस् सुनने को मिलते थे।

पिता सिद्धरामैया कोमकली जब भी आमटूर से बैलहोंगल जाते, कुमार गन्धर्व को भी अपने साथ ले जाते। छोटे कुमार को तो पिता के साथ जाने का यही लालच रहता कि बैलहोंगल पहुँचते ही अपन को शीरा-पूरी, बटाटे की भाजी, अम्बोली और मैसूरपाक खाने को मिलेगा। पर पिताजी वहाँ पहुँचकर अच्छे गानों के रिकार्डस् सुनवाते। मोटर स्टैण्ड पर उतरते ही वे अपने मित्र के रेस्टारेण्ट में ले जाते। फ़ौरन अम्बोली और शीरे का आर्डर दिया जाता।

कुमार जी कहते हैं कि मैं बचपन के उस आनंद का वर्णन नहीं कर सकता जब पिता मुझे रेस्टारेण्ट में बिठाकर किसी काम से चले जाते और मुझे रेस्टारेण्ट का मालिक अच्छे-अच्छे गानों के रिकार्डस् सुनवाता रहता। वह आग्रह करने पर एक ही रिकार्ड को कई बार सुनवाता। दो-तीन बार सुनने के बाद पूरा रिकार्ड याद हो जाता और उस रिकार्ड के साथ गाने की तैयारी भी हो जाती। पिता जी होटेल में गाने से मना करके जाते इसलिए वहाँ मन होते हुए भी गाने से डर लगता था। कभी किसी के कहने से गा देते और पिता जी को पता लग जाता तो मार खाना पड़ती।

कुमार गन्धर्व याद करते हैं कि एक दिन उनके पिता ने यह ज़िद ठान ली कि मेरा गाना किसी थियेटर में होना चाहिए। पिता जी बैलहोंगल में ही किसी जिनिंग फैक्टरी के मैनेजर की मदद से दो कमरे लेकर कुमार जी के साथ रहने लगे। मैनेजर गाने के शौकीन थे और उनके पास ग्रामोफ़ोन भी था। अच्छे गाने वालों के रिकार्डस् भी थे जिन्हें कभी-कभी सुनने का अवसर भी मिल जाता। पिता जी मिरज से तानपूरा भी बनवाकर ले आये और अपने साथ एक दिलरुबा वादनकार को संगत के लिए भी साथ ले आये। उसके साथ जब गायन होता, पिता कुछ नयी चीज़ें भी सिखाते रहते।

मुझे उस समय ताल में गाना नहीं आता था- कुमार गन्धर्व कहते हैं - मुझे जितनी चीज़ें याद थीं, पिता जी उन्हें लय-ताल में बिठा लेते। ताल का ज्ञान नहीं था पर पिता ने एक तरकीब बता दी कि जब मैं ज़ोर से चाट बजाऊँ तो तू फ़ौरन गाना शुरू करना। कभी उनकी आँखों और हाथों के इशारे भी ताल में बने रहने के काम आ जाते। बैलहोंगल में ही संगीतप्रेमी डॉक्टर गिण्डे रहते थे। उनका बड़ा बेटा दिलरुबा बजाता था और सबसे छोटा गाता था। उनका लड़का ताल में गाता है इसका

उन्हें बड़ा गुरूर था। जब मैं गाता तो मेरी हँसी उड़ायी जाती। बाद में डॉ. गिण्डे का यही छोटा बेटा प्रोफ़ेसर रातंजनकर का शिष्य हुआ और उसे विख्यात ध्रुपद गायक की प्रतिष्ठा मिली।

चिदम्बरम् का महोत्सव हर साल होता था। दूर-दूर से लोग आते थे। एक बार डाक्टर गिण्डे कुमार गन्धर्व को भी अपने साथ ले गये। हर साल इस महोत्सव में गायनाचार्य रामकृष्ण बुवा वझे आते थे। बड़े दिनों से कुमार गन्धर्व की इच्छा उन्हें क़रीब से देखने की थी। क्योंकि कुछ दिन पहले ही - बोले रे पपीयरा - उनका रिकार्ड प्रकाशित हुआ था और उसे सुनकर कुमार गन्धर्व पूरा गा लेते थे। वे गिण्डे जी के साथ किसी ठसाठस भरे हाल में जब विश्राम कर रहे थे तभी गिण्डे जी ने उन्हें उकसाया कि धीमी आवाज़ में - बोले रे पपीयरा - गाये और कुमार गन्धर्व शुरू हो गये। सब उनकी तरफ देखने लगे। उसी समय एक लेटा हुआ मोटा-सा व्यक्ति भी उन्हें कुतूहल से ताक रहा था - वे और कोई नहीं, गायनाचार्य रामकृष्ण बुवा वझे ही थे। उन्होंने क़रीब आकर नाम-पता पूछा। जब यह बात पिता को पता चली तो वे बहुत खुश हुए।

अब सिद्धरामैया कोमकली ने निश्चय कर लिया कि कुछ रुपये-पैसे का इन्तज़ाम करके शिवपुत्र का जलसा बेलगाम में ही जमाया जाये। काफी भाग-दौड़ के बाद लक्ष्मी थियेटर में जलसा होना तय हुआ। बड़े ज़ोर-शोर से प्रचार होने लगा। पोस्टर छापे गये। समाचार पत्रों में नाम आने लगा। शहर में बड़े होर्डिंग्स लगाये गये। जलसे का दिन उगा। हाल खचाखच भरा था। कुमार गन्धर्व का गायन शुरू हुआ। तबले पर महबूब खाँ, सारंगी पर काले खाँ, तानपूरे पर पिता और बड़े भाई संगत कर रहे थे। निर्भय होकर गाया, खूब तालियाँ बजीं। तीन-चार रागों के बाद संगीतकारों के ग्रामोफ़ोन रिकार्डस् के साथ भी गाकर सुनाया। खूब वन्समोर की आवाज़ें आयीं। जलसा शानदार हुआ।

बेलगाम के आसपास दूर तक कुमार गन्धर्व के नाम की तूती बोलने लगी। जब लक्ष्मी थियेटर छोटा पड़ने लगा तो बेलगाम के ही कुछ और बड़े शिवानन्द थियेटर में तीन जलसे हुए। इन जलसों की सफलता के बाद पिता जी ने तय किया कि अब टूर पर निकला जाये। तब कुमार गन्धर्व पार्टी बनी और बेलगाम से बाहर संगीत-यात्रा चल निकली।

कुमार गन्धर्व जब नौ बरस के हुए तब उनके गाये हुए राग भैरवी और दुर्गा स्वरांकित होकर प्रसिद्ध हो चुके थे। क़रीब ग्यारह वर्ष की आयु में जब वे बम्बई, कलकत्ता, इलाहाबाद की संगीत-यात्राओं पर निकले तो उनके नाम की धूम मच गयी। इलाहाबाद की संगीत सभा में उनका गायन सुनने के लिए उस्ताद फैयाज़ खाँ और मशहूर गायक कुन्दनलाल सहगल भी मौजूद थे। कुमार ने अपनी संगीत प्रस्तुति के लिए शेरवानी और टोपी बनवायी थी।

उन दिनों अब्दुल करीम खाँ का एक नाट्यगीत - उगीच का कान्ता - श्रोताओं के मन पर छाया हुआ था। जैसे ही कुमार गन्धर्व ने उसके सुर लगाये तो वहाँ मौजूद संगीत प्रेमी झूम उठे। फैयाज़ खाँ ने आनन्द से भरकर कहा कि अगर मैं जागीरदार होता तो अपनी दौलत तुझ पर निछावर कर देता। कुन्दनलाल सहगल भी गायकी पर फ़िदा हो गये और कुमार को कलकत्ते की संगीत सभा में

आने का न्यौता भी दिया।

कलकत्ते के विद्यापीठ सभागार में कुमार गन्धर्व ने राग झिंझोटी छेड़ा - पिया बिन नाहीं आवत चैन। जो श्रोता उन्हें छोटा बच्चा समझकर हँस रहे थे, वे स्वर छिड़ते ही अवाक् रह गये। इस श्रोता समूह में कुमार गन्धर्व के होने वाले गुरु बी.आर. देवधर भी मौजूद थे। वे पहले भी कुमार को गाते हुए कानपुर की महफ़िल में सुन चुके थे। उन्होंने प्रस्ताव किया कि कुमार गन्धर्व बम्बई में होने वाली पहली संगीत परिषद में आकर गाएँ।

बम्बई के जिन्ना हाल में गायन सभा हुई और कुमार गन्धर्व ने अपने गायन में सबको बाँध लिया। कुछ समय बीतने पर दूसरी संगीत परिषद में भी उन्हें बुलाया गया। यह महफ़िल भी खूब जमी। श्रोता मन्त्रमुग्ध हुए। कुछ दाँतो तले अँगुली दबाकर रह गये। दो मार्च १९३६ ईसवी के टाइम्स ऑफ़ इण्डिया अख़बार ने उन्हें संगीत का भावी जीनियस कहा।

बाद के दिनों में पूर्वी और पश्चिमी संगीत के जानकार और समीक्षक राघव मेनन दिल्ली में अरविन्द दर्शन के विद्वान और राजनेता कर्णसिंह के घर कुमार गन्धर्व से मिलने आये। राघव मेनन संगीतकार कुन्दनलाल सहगल के जीवनीकार भी थे। यह जानकर कुमार जी ने उन्हें सहगल का गाया हुआ राग देवगन्धार में - झुलना झुलाये - ख़याल सुनाया और राग काफी में सहगल की गायी एक होरी भी सुना डाली। राघव मेनन ने इस संगीतकार से चकित होकर उस ज़माने के प्रतिष्ठित ज्योतिषी बी. वी. रामन के समक्ष कुमार गन्धर्व की जन्मकुण्डली पेश की। जन्म कुण्डली भी यही संकेत कर रही थी कि भारतीय शास्त्रीय संगीत की भूमि पर किसी नये अवतरण की सम्भावना है।

पश्चिमी संगीतकार वाल्टर काफ़मन ने भी बम्बई में कुमार गन्धर्व का गाना सुनकर उसे संगीत के सुन्दर उपहार की तरह स्वीकार किया था। जब वे अडल्स हक्सले और उनकी पत्नी के साथ दूसरी बार भारत आये तो संगीत समीक्षक राघव मेनन ने दिल्ली में उनकी मुलाक़ात कुमार गन्धर्व से करवाते हुए कहा कि ये हमारे देश के मोत्ज़ार्ट हैं। यह सुनकर हक्सले ने कुमार जी की ओर देखते ही कहा कि इनकी भौहें मोत्ज़ार्ट जैसी लग रही हैं।

कुमार गन्धर्व बाल्यकाल के उन संगीत से भरे दिनों के बारे में कहते हैं कि मुझे हरेक राग, उसके स्वर और पूरी बन्दिश नज़रों के आगे प्रकट होती-सी लगती। मैं सिर्फ़ गाता ही नहीं था, उसे देखता भी था। वे हँसते हुए यह भी कहते कि बचपन में मेरा इतना कौतुक हुआ, इतनी वाहवाही हुई कि अगर और किसी की होती तो उसकी पूँछ फूट पड़ती। वे अपने पिता को याद करते हुए अपने मित्र से कहते हैं कि मुझे बचपन में भालू की तरह बाँधकर खूब नचाया गया।

कुमार गन्धर्व के परिवार में सराफ़ी का धन्धा होता था और कुछ ज़मीन भी थी। उनके चाचा और पिता के बीच जब जायदाद के बटवारे की नौबत आयी तो जायदाद में हिस्सा लेकर पिता अपने भाई से अलग हो गये। उन्हें अपने हिस्से में चावल और ज्वार के खेतों के साथ धन भी मिला। धन हाथ लगते ही पिता ने कोई धन्धा करने का विचार किया। उन्होंने हेण्डलूम की मशीन लगाकर कपड़े

का धन्धा शुरू किया पर व्यापार का अनुभव न होने के कारण चपत खा गये। धन्धा ज़ल्दी ही बन्द करना पड़ा।

कुमार गन्धर्व अपने पिता को व्यावहारिक रूप से मन-ही-मन परखकर कहते हैं कि उनका दिल तो बहुत बड़ा था। वे देना खूब जानते और लेना बहुत कम जानते थे। उनके इस गुण के कारण उन्हें ठगने वाले ही मिले। पर उनके स्वभाव में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। वे वैसे के वैसे ही रहे। जब सिद्धरामैया कोमकली के घर शिवपुत्र (कुमार गन्धर्व) का जन्म हुआ तब घर में दरिद्रदेव का नृत्य हो रहा था। जब माता ने उन्हें जन्म दिया तब घर में अन्न ही नहीं था। पिता परदेस गये थे। वे अचानक उसी दिन लौट आये और शाम के समय खाना बनाया गया।

कुमार गन्धर्व एण्ड पार्टी पर तो उस समय धन की बरसात होने लगी थी जब वे क़रीब दस बरस के रहे होंगे। वे इसी उमर के आसपास अपनी चमत्कारी संगीतकला का प्रदर्शन करने अपने पिता के साथ इन्दौर भी आये। इन्दौर के महाराजा थियेटर में कुमार गन्धर्व एण्ड पार्टी ने अपना कार्यक्रम पेश किया और लौट गये। उस समय कुमार गन्धर्व ने मालवा की लोकधुनें नहीं सुनी थीं और पूरी तरह देवास भी कहाँ देखा था। देवास के नगर निवाल थियेटर में उनका एक जलसा ज़रूर हुआ था।

जब वे १९४३ ईसवी में कृष्णराव मजूमदार के आत्मीय बुलावे पर देवास आये तब कुमार गन्धर्व एण्ड पार्टी पीछे छूट चुकी थी। वे विष्णु दिगम्बर पलुस्कर के आधुनिक शिष्य प्रोफ़ेसर बी. आर. देवधर का शिष्यत्व अंगीकार कर चुके थे। उन्नीस वर्ष की किशोर वय में बाल चमत्कार पीछे छूटता जा रहा था। फिर वे कई बार देवास आते रहे।

जब कुमार गन्धर्व तीस जनवरी १९४८ को देवास में बस जाने के लिए आये, तब वे अकेले नहीं थे। भानुमति कौंस उनकी पत्नी के रूप में साथ आयी थीं। उनके साथ कृष्णन नम्बियार भी आये जो कण्णा कहलाते थे। भानुमति कराची के कौंस परिवार की थीं और कण्णा उस परिवार के निकट थे। माँ के अभाव में कण्णा ने ही भानुमति को पाल-पोसकर बड़ा किया। भानुमति कुमार जी की उमर की थीं। शायद कुछ महीने बड़ी थी। उनका जन्म कराची में हुआ था।

कौंस परिवार कराची में व्यापार करता था। भानुमति के पिता को संगीत से गहरा लगाव था। उनके बड़े भाई दत्तोपन्त तबला बजाते थे। भानुमति भी गायिका बनना चाहती थीं। माता-पिता की मृत्यु हो जाने के कारण वे संगीत की तालीम के लिए सत्रह बरस की उमर में पूना आ गयीं। पूना में संगीत सीखते हुए भावगीत गायक गजाननराव वाटवे ने सलाह दी कि उन्हें संगीत की अच्छी तालीम के लिए देवधर गुरु जी के पास बम्बई जाना चाहिए। वे १९४३ में बम्बई आ गयीं। उन्होंने अपनी स्कूल शिक्षा पूरी करने के लिए सेण्ट जेवियर कॉलेज और संगीत सीखने के लिए गुरु देवधर जी के स्कूल ऑफ़ इण्डियन म्यूज़िक में एडमीशन लिया।

भानुमति का कुलीन रूप सबको आकर्षित करता था। वे कॉलेज में पढ़ाई के साथ बेडमिण्टन

भी खेलतीं और कुमार गन्धर्व से गाना भी सीखने लगीं। स्वर का लगाव आहिस्ता-आहिस्ता कुमार के प्रति लगाव में भी बदलने लगा। उन्हें सिखाते समय कुमार गन्धर्व का मन खूब लगता था। कुमार ने उन्हें मशहूर संगीतकार अंजनीबाई मालपेकर का सान्निध्य भी ग्रहण करवाया। कुमार जी से ब्याह के पहले भानुमति के गाये भावगीतों का रिकार्ड भी बन चुका था।

१९४७ ईसवी में कुमार गन्धर्व के फेफड़ों में तपेदिक ने अपना घर बना लिया था। जिस दिन वे देवास में अपना घर खोज रहे थे उसी दिन उन्हें महात्मा गाँधी की हत्या की ख़बर मिली। तपेदिक के रोग का इलाज दुर्लभ था और कुमार गन्धर्व के हितैषी भी मन-ही-मन यह मान बैठे कि कुमार अब शायद गा न पायेंगे। पर कुमार जी का मन शान्त था। वे देवास में जीने की जगह खोज रहे थे। आखिरकार उन्हें एक मामूली-सा लाल बंगला किराये पर मिल ही गया। वह एक छोटी-सी टेकरी पर बना था जहाँ नीम के वृक्ष पर एक टेलर बर्ड फिर अपना घोंसला बुन रही थी।

कुमार जी के अनन्य मित्र राहुल बारपुते इस बंगले की निःस्तब्धता का वर्णन करते हुए लिखते हैं कि इसकी नीरवता को अहाते में खड़े नीम के वृक्ष पर आने वाली चिड़ियाँ अपनी चहचहाहट से भंग करती रहती थीं। मुम्बई-आगरा रोड के किनारे पर बने इस बंगले के दूसरी तरफ देवास शहर फैला हुआ था। राहुल बारपुते की कलम पत्रकारिता के क्षेत्र में प्रतिष्ठित थी। वे अक्सर कुमार जी से मिलने आया करते थे।

प्रखर समाजवादी नेता लाड़ली मोहन निगम १९५०-५२ की अवधि में किसी दीर्घ संघर्ष के दौरान देवास में अटके हुए थे। कुमार गन्धर्व को याद करते हुए उन्होंने एक वाक़ये का ज़िक्र किया है। वे एक शाम आगरा-बाम्बे रोड के निर्जन पहाड़ी इलाके से गुजर रहे थे। उन्हें मन को प्रफुल्लित करने वाले स्वर सुनायी दिए और वे बरबस उन स्वरों की ओर खिंचे चले गये। वे पहाड़ी पर बनी उस बँगलेनुमा झोपड़ी के क़रीब पहुँच गये जहाँ से ये स्वर किसी निर्झर की तरह बह रहे थे। वे सुनसान बरामदे के पास ठिठककर उस आवाज़ में कुछ देर भीगते रहे।

सहसा संगीत रुका और भीतर से खाँसने की आवाज़ आयी। एक छाया बाहर आयी और उसने परिचय पूछा। उन्होंने अपना परिचय देकर वहाँ कुछ देर बैठने की इजाजत माँगी पर उन्हें आदरपूर्वक भीतर आने का आमन्त्रण मिला। भीतर जाकर देखा कि एक जीर्ण-शीर्ण काया दीवार के सहारे लेटी हुई है और उसके पाँवों के पास अद्वितीय सुन्दर स्त्री तानपूरा लिए गा रही है। पाँच-सात मिनिट बीतने पर रुग्ण काया के चेहरे पर कुछ झुँझलाहट प्रकट हुई और उठते हुए क्षीण आवाज़ में कहा कि ऐसे नहीं, ऐसे गाओ।

अभी स्वर फूट ही रहा था कि एक मिनिट बाद ही कुमार जी को ज़ोर की खाँसी आने लगी और ढेर सारा बलगम भी। गाती हुई स्त्री ने तानपूरा रखकर अपनी अंजुरी में सारा बलगम ले लिया। उसे फेंककर अपने हाथ साफ किये, सिरहाने को ठीक किया और मुझसे जाने का आग्रह किया। मुझे दरवाज़े तक छोड़ने भी आयी। मैंने अनुमति चाही कि अगर फिर आना चाहूँ तो क्या आ सकता हूँ।

मुझे अनुमति मिल गयी।

लाड़ली मोहन निगम की कुमार गन्धर्व और भानुमति से यह पहली मुलाक़ात थी। वे अक्सर लाल बँगला जाने लगे। कुछ दिनों बाद उज्जैन और आसपास के विद्वान, प्रोफ़ेसर, लेखक कुमार जी के क़रीब आने लगे। उस समय प्रोफ़ेसर श्याम परमार भी कुमार जी के घर आते थे। वे उन दिनों मालवा के लोकगीतों पर शोध कर रहे थे। कुमार गन्धर्व उनसे मालवा के लोकगीतों पर बहुत सुलझी हुई और परिष्कृत बातचीत किया करते थे।

एक दिन लाड़ली मोहन ने कुमार जी से पूछा कि आपके बीमार हो जाने से संगीत को बड़ा नुक़सान हुआ होगा। तब कुमार गन्धर्व ने उनसे कहा कि अगर मैं लगातार गाता ही रहता और बीमार न पड़ता तो शायद मैं भौतिक दुनिया में ही विचरण करता रहता और संगीत के विषय में मुझे सोचने का मौका ही न मिलता। पाँच-सात वर्ष की इस बीमारी ने मुझे सोचने और संगीत को समझने की क्षमता दी है। मेरी निश्चित राय है कि भारतीय संगीत का उद्गम लोकसंगीत है। उन्होंने कहा कि मैं नाथजोगी परम्परा और मालवा सहित देश के अन्य अंचलों के लोकसंगीत का अध्ययन कर रहा हूँ। मेरा विश्वास है कि एक दिन संगीत को उसकी सही परिभाषा देने के लिए सक्षम होऊँगा। कुमार जी बोले कि इतना सब कुछ पा लेने के बाद भी तुम मेरी बीमारी से दुखी हो। मैंने इस बीमारी में जो पाया है, अगर मैं लगातार गाता ही रहता तो भी उतनी दौलत नहीं पाता जितनी कि आज मैंने पायी है।

एक दिन इत्तफ़ाक से जब कुमार जी और निगम जी ही लाल बंगले में थे, तब कुमार जी कहने लगे -- तुमने देखा है कि भानु ने मेरी कितनी सेवा की है। उसने मेरे बलगम को अपने हाथों में लिया है। जब मैंने उससे कहा कि मैं बचूँगा नहीं, मेरी बीमारी असाध्य है, तब वह मुस्कराते हुए बोली कि कुमार तुम अपनी फ़िक्र करो, तुम स्वस्थ हो जाओ, बस। जहाँ तक मेरा सवाल है, मुझे तो यह रोग होगा ही नहीं क्योंकि मैं तुम्हारे साथ रहते-रहते इम्यून हो गयी हूँ। उस दिन कुमार जी भावुक हो उठे और उन्होंने क़िताबों की तहों के बीच में एक लिफ़ाफ़े में रखी तस्वीर निकालकर दिखायी जो उनके साथ भानुमति की शादी की थी। जिसमें कुमार गन्धर्व एक नरकंकाल की तरह लग रहे थे। जैसे हड्डियों के ढाँचे पर किसी ने शेरवानी पहना दी हो और उसके क़रीब अद्वितीय सुन्दर कन्या खड़ी हो।

बम्बई में कुमार गन्धर्व का भानुमति से विवाह अत्यन्त सादगीपूर्ण हुआ। उनके मित्र पंढरीनाथ कोल्हापुरे याद करते हैं कि ब्याह में शामिल होने के लिए अपने सभी पच्चीस दोस्तों को कुमार जी ने सिल्क के कुरते सिलवाये थे। उनकी शादी में देवधर गुरु जी के अलावा रामकृष्ण बेन्द्रे तो शामिल हुए ही, इस अवसर पर विलायत हुसेन खाँ और गंगूबाई हंगल का गायन भी हुआ। वी.जी. जोग ने वायोलिन बजाया। विलायत हुसेन खाँ साहब ने शादी पर ही तीन बन्दिशें सुनायीं। कुमार गन्धर्व ने राग कौशी गाया। सुघर बर पायो - ख़याल का यह मुखड़ा गाकर अपनी शादी की तस्वीर में रंग भरा।

लाड़ली मोहन निगम उस तस्वीर को देखकर हतप्रभ-से रह गये और सोचने लगे कि जिसके

लिए डाक्टरों ने साल-दो साल की मोहलत दी हो, कोई लड़की उससे शादी कैसे कबूल कर सकती है। एक दिन जब उन्होंने भानुमति से ही पूछा तो वे बोलीं कि लाड़ली, संगीत की दुनिया को यह व्यक्ति बहुत कुछ देगा। अगर ये बच जाये तो मेरे लिए इससे बड़ी चीज़ और क्या हो सकती है।

कुमार जी की काल से लड़ने की शक्ति, उनकी जिजीविषा और भानुमति की आकाँक्षा ने मिलकर उस संगीत को बचा लिया जिसे हम आधी सदी तक सुनते रहे। कभी लाड़ली मोहन निगम से कुमार गन्धर्व ने कहा था कि मैं इस अद्वितीय स्त्री को कर्ज में छोड़कर नहीं मरना चाहता। जिसने अपना सर्वस्व मुझे दिया है जब तक उसके भविष्य और साये का इंतजाम न कर लूँ तब तक तो मुझे जिंदा रहना ही होगा।

भानुमति ने कुमार जी की खातिर एक छोटे-से कस्बे देवास में रहना कबूल किया। यहाँ की आबोहवा तपेदिक के मरीजों के अनुकूल थी। उन्होंने एक बालिका स्कूल में अध्यापिका की नौकरी कर ली। वे हेड मास्टरनी बन गयीं। आमदनी सीमित थी। जब लाल बँगले की टेकरी के आसपास भीड़-भाड़ बढ़ने लगी तब कुमार परिवार ने देवास शहर से कुछ दूर जंगल के सुनसान के बीच नया घर खोजा। किराया भी कम था और आबोहवा भी अनुकूल थी।

कुमार गन्धर्व और उनके परिवार की हालत को निकट से जानकर राहुल बारपुते आँखों देखा हाल सुनाते हुए कहते हैं कि मास्टरी की नौकरी मिल जाने से भानुमति रोज स्कूल चली जातीं। तपेदिक के कारण कुमार जी चुपचाप रुग्ण शैया पर लेटे रहते। इस चुप्पी के बीच कण्णा जी घर का काम-काज सम्भाले रहते। डाक्टरों ने हिदायत दी थी कि कम-से-कम पाँच साल तक कुमार गन्धर्व को गाना वर्जित रहेगा। इस बीमारी की हालत में जो लोग कुमार जी की मदद करते हुए मन से टूटने लगते तो कुमार जी ही उनको ढाढस बँधाया करते।

वे अपनी पत्नी से कहते कि भानु, तुम चिन्ता मत करो, जब तक मैं गाना नहीं करूँगा, मैं नहीं मरूँगा। उन दिनों तपेदिक का पूरा इलाज खोजा नहीं जा सका था। कुमार गन्धर्व अपने बँगले में अक्सर झूलने लगते अवसाद के परदों को तुरन्त हटा दिया करते।

अवसाद के परदों को धीरज से हटाते-हटाते दुःख के दिन बीत गये और कुमार गन्धर्व फिर गाने लगे। जैसे उनका दूसरा जन्म हुआ हो। उन्हीं दिनों भारत स्वतन्त्र होकर अपने दूसरे जन्म को सँवार रहा था। देवास के पड़ौस में इतिहास प्रसिद्ध नगरी माण्डवगढ़ है जहाँ कभी रूपमति और बाज़बहादुर के प्रेम में डूबे स्वर गूँजते थे। देश के पहले प्रधानमन्त्री जवाहरलाल नेहरू वहाँ आये तो स्वस्थ होने के बाद कुमार गन्धर्व की पहली सार्वजनिक संगीतसभा प्रधानमन्त्री की उपस्थिति में माण्डू में ही हुई।

१९५२ ईसवी में अनेक मित्रों के सहयोग से महाराज बाड़ा, उज्जैन के हाई स्कूल में कुमार गन्धर्व की एक और गायन सभा आयोजित हुई। जो आत्मीय जन उनकी राजी-खुशी को लेकर कई वर्षों से चिन्ता में डूबे रहे उनका मन खिल उठा। वे एक नये कुमार गन्धर्व को अपने बीच देख पा

रहे थे। वे जो सुन रहे थे वह बिलकुल नया लग रहा था। वे उस अभिनव गायन को आत्मसात करने के लिए बैचेन थे। जबकि कुमार गन्धर्व अपने संगीत में खुद अपने आपसे लोहा ले रहे थे।

यूँ शोध और संगीत के संवर्धन के लिए १९५९ ईसवी में देवास में ही कुमार गन्धर्व अकादमी भी स्थापित हुई। अकादमी का कोई बोर्ड भी नहीं लगाया गया। वह रजिस्टर्ड भी नहीं हुई। बस उसकी कल्पना मन में थी। ख़त-ओ-क़िताबत के लिए लैटरहेड छपवा लिया था।

कुमार गन्धर्व देवास में अपना भानुकुल बसाना चाहते थे। यहाँ विंध्याचल पर्वत श्रेणी के एक ऊँचे शिखर पर भगवती चामुण्डा का प्राचीन मन्दिर है। पैसेज टू इण्डिया पुस्तक के प्रसिद्ध लेखक ई. एम. फ़ास्टर बीसवीं सदी के दूसरे दशक में देवास के महाराज तुकोजीराव तृतीय के निजी सचिव रहे। उन्होंने इस पर्वत शिखर को द हिल ऑफ़ देवी कहा और इसी नाम से एक पुस्तक भी लिखी। इसी मन्दिर की तलहटी में कुमार गन्धर्व ने अपने सबसे न्यारे घर की कल्पना की। कुछ ज़मीन खरीदी और घर बनाने की तैयारी होने लगी जिसका नाम भानुकुल रखा जाना था। अभी तो किराये के घर में ही भानुकुल का स्वप्न भानुमति के गर्भ में पल रहा था।

१९५६ ईसवी में कुमार गन्धर्व के घर मुकुल शिवपुत्र का जन्म हुआ। कुमार जी ने यह नाम शब्दकोष से खोजकर रखा। नाम में 'म' ज़रूर होना चाहिए यह आग्रह भी था। मुकुल नाम तय हुआ। मुकुल माने कली, देह, आत्मा। वे अपनी पहली सन्तान को उस प्रसन्न मध्यम से जोड़ रहे थे जो खुद उनकी पहचान बन रहा था।

उस समय भानुमति की बड़ी बहन त्रिवेणी कौंस देवास के क़रीब शाजापुर में चिकित्सक थीं। कुमार परिवार से उनका नाता किसी आने वाले समय की आहट जैसा था। जब मुकुल क़रीब चार बरस के हो गये तब १९६१ में उनके छोटे भाई का जन्म हुआ। कुदरत की गति ही कुछ ऐसी है कि वह सन्तति को जन्म देते समय माँओं के जीवन की कठिन परीक्षा लेती है। उनकी प्रसवपीड़ा मृत्यु का सामना करने जैसी होती है। भानुमति ने मृत्यु का सामना करते हुए पुत्र यशोवर्धन को जन्म दिया। भानुकुल में दूसरी किलकारी गूँजी पर उसे भानुमति नहीं सुन सकीं।

अकेले पड़ गये कुमार गन्धर्व ने उनकी अस्थियाँ उज्जैन में शिप्रा नदी में विसर्जित करते हुए मित्रों से कहा - देखो, अब आम का मौसम शुरू होने वाला है। भानु को आम बहुत पसन्द थे। पर अब वह हम लोगों के बीच नहीं है। कुमार गन्धर्व अवाक्-हतप्रभ थे पर सब मित्रों से यही कहते कि आप सब इतने चुप क्यों हैं। आपको देखकर ही तो मुझे धीरज मिल रहा है।

स्वराघात करते-करते उन्हें आघात सहने का खूब अभ्यास हो गया था। कहते हैं कि राग बागेश्री में यह बन्दिश शिप्रा नदी के घाट पर ही उपजी थी - फेर आई मोरा अम्बुआ पे, अजब गोलाई रंग आयो, बनायो... माता जी के रास्ते पर जो घर बना, वह भानुकुल कहलाया। आज भी हर चिट्ठी इसी पते पर आती है।

वसुन्धरा श्रीखण्डे भी १९४६ ईसवी के आसपास देवधर गुरु के स्कूल में गायन सीख रही थीं।

वे कलकत्ते से आयी थीं। वे कुमार गन्धर्व को गाते हुए देख चुकी थीं और मन में अभिलाषा रही कि वे उन्हीं से सीखें। वहीं भानुमति से उनका गहरा रिश्ता जुड़ता गया। भानुमति से कुमार जी के ब्याह के बाद वे बम्बई के दादर मुहल्ले में उनके घर जाने लगीं। जब कुमार जी की तबीयत ठीक न रहती तो वे भानुमति से सीखतीं।

जब कुमार गन्धर्व देवास में रहने लगे तब वसुन्धरा श्रीखण्डे वहाँ आकर कुमार जी और भानुमति से संगीत सीखतीं। जब बम्बई लौट जातीं तब उनका आत्मीय पत्र-व्यवहार भी होता रहता। एक बार बम्बई की किसी संगीत सभा में गाते हुए कुमार जी की आवाज़ बिगड़ गयी और उन्हें बीच में ही गाना छोड़ना पड़ा। वसुन्धरा जी १९६० के नवम्बर महीने में कुमार जी के अपयश की चिन्ता से भरकर भानुमति को चिट्ठी लिखती हैं। यह भी सूचना देती हैं कि फिर कुमार जी ने अगले ही कार्यक्रम में इसकी भरपाई कर दी। ऐसा गायन पेश किया कि सब वाह-वाह कर उठे। वसुन्धरा अपनी गुरु माँ (भानुमति) से आशीर्वाद की आकाँक्षा से भरी हैं। वे नन्हें मुकुल को याद करती हैं कि वह कैसे उनकी अंगुली पकड़कर दौड़ लगाता है। वे भानुमति से आग्रह करती हैं कि बम्बई में इतने सफल कार्यक्रमों के बाद कुमार जी जब देवास आयें तो रोटी के टुकड़े से उनकी नज़र उतार दें।

वसुन्धरा श्रीखण्डे १९६१ के सितम्बर में भानुमति को लिखे पत्र में कुमार जी के घर दूसरी सन्तान के आगमन पर बम्बई से देवास आकर गुरु माँ की सहायता का प्रस्ताव करती हैं। उन्होंने यशोवर्धन के जन्म की आहट सुन ली थी। वे चिन्तित हैं कि बारिश बहुत हो रही है, भानुकुल के निर्माण का काम अभी अधूरा पड़ा है और ऐसे समय भानुमति सन्तान को जन्म देने इन्दौर तक कैसे जायेंगी। जब मुकुल का जन्म हुआ तब वसुन्धरा श्रीखण्डे कुमार जी के घर बधावा लेकर बम्बई से देवास आयी थीं।

अक्सर पैसे की कमी बनी रहती थी। घर का सोना बेचकर घर बन रहा था। कुमार गन्धर्व जब अपनी संगीत-यात्राओं पर होते तो भानुमति को यही चिन्ता सताती रहती कि वे रसरंजन (बाटली) से दूर रहें और उनकी संगीतरंजन पर एकाग्रता बनी रहे। उनके तानपूरे मिले रहें। वे पत्र लिखकर उन्हें हिदायतें देतीं। कुमार जी के घर पर न होने से उन्हें भूख नहीं लगती थी। वे कुमार जी को लिखती हैं कि देवास में प्रकृति हरी-भरी है, वर्षा हो रही है और मेरे पाँव दुःख रहे हैं।

कुछ लोग ऐसे भी होते हैं जो अपनी ओर आती मृत्यु को पहचान लेते हैं। भानुमति के जीवन में कुमार गन्धर्व का तपेदिक उनकी ओर आती मृत्यु जैसा ही था। जिसे भानुमति ने कुमार गन्धर्व के जीवन में नहीं आने दिया।

उनके छोटे पुत्र यशोवर्धन याद करते हैं कि तपेदिक से बीमार पिता के प्रति उनकी माँ की निष्ठा और समर्पित सेवा के किस्से इन्दौर के मेडीकल कॉलेज में पढ़ने और पढ़ाने वालों का साहस बढ़ाने के लिए सुनाये जाते थे। क्योंकि उस समय तपेदिक का समय-साध्य इलाज सम्भव नहीं था। बस, स्ट्रेप्टोमायसिन और आइसोनेक्स के सहारे जीवन को टिकाये रखने की कोशिश की जाती थी। अनेक

मरीजों को यह बीमारी उठा ले जाती थी। कुमार जी के जीवन को बचाने की दवा भले ही कम थी पर दुआ उससे कई गुनी ज़्यादा थी।

जब कुमार जी की शादी बम्बई में भानुमति से हुई तब संकोचवश अपने गुरु के ब्याह में वसुन्धरा श्रीखण्डे नहीं गयीं। बाद में पण्डित विष्णु दिगम्बर पलुस्कर के जयन्ती समारोह में भानुमति के क़रीब बैठकर कुमार गन्धर्व का गायन सुना। वे राग तोड़ी में परम्परागत बड़ा ख़याल गा रहे थे - जा जा रे मोरा पथिकवा। इस ख़याल की शुरुआत में ही तार सप्तक को छूना पड़ता है। उसे गाने में बड़ी ताकत लगती है। उस दिन कुमार जी छाती में दर्द उठ रहा था। यह तपेदिक की पहली सूचना थी। कुमार जी की बीमारी के दिनों में भानुमति ही वसुन्धरा श्रीखण्डे की सहजा-सहजी गुरु बनीं।

एक समय कलकत्ते से बम्बई की रेल यात्रा करते हुए वसुन्धरा श्रीखण्डे के सपने में कुमार गन्धर्व की मृत्यु हो गयी। जब वे बम्बई पहुँचीं तो वहाँ यही ख़बर फैली थी। बाद में उनका सपना और लोगों के बीच फैली ख़बर झूठ साबित हुई। कुमार गन्धर्व के गायन में भानुमति और वसुन्धरा तानपूरे पर संगत के लिए भी बैठती थीं। वसुन्धरा के लिए भानुमति कुमार जी से अधिक पूज्यनीय हो गयीं। वे अपनी डायरी में लिखती हैं कि अगर दोनों को तराजू पर तौलें तो भानुमति का वजन ज़्यादा निकलेगा।

१९६० ईसवी की बात है। एक दिन वामनहरि देशपाण्डे के घर वसुन्धरा श्रीखण्डे कुमार जी से गाना सीख रही थीं। वे नीची गर्दन किये हुए राग भीमपलासी में - इस जग में तुम कौन - गा रही थीं और उस दिन कुमार गन्धर्व उन्हें कुछ अलग ही दृष्टि से एकटक देख रहे थे। गाते-गाते अचानक वसुन्धरा की दृष्टि उन पर पड़ी। वे चमकती हुई आँखें उनसे कुछ कह रही थीं। वसुन्धरा को लगा कि जैसे उन आँखों ने उन पर कोई मोहिनी डाल दी है और उनका शरीर सिहर रहा है। वे अपने आपसे पूछ बैठीं, ये क्या हुआ। मन स्तब्ध हो गया और आगे का गाना भी नहीं सूझ रहा था। फिर सोचने लगीं कि ये अशक्य है। एक सौंदर्यवती पत्नी के रहते हुए कुमार जी मुझे इस तरह कैसे देख सकते हैं।

वे सोचने लगीं, ऐसा नहीं होना चाहिए। हे भगवान, मुझे बचा लो। वसुन्धरा अपनी डायरी में दर्ज करती हैं कि कुमार गन्धर्व को गाते हुए देखने पर उनके रूप का आकर्षण नहीं होता। पर उस दिन उनकी दृष्टि से डर लगने लगा था। उनसे सीखने की इच्छा से कुछ विरक्ति होने लगी। वे लिखती हैं कि जब कभी वे देवास में कुमार जी के घर के कामों में भानुमति का हाथ बटाने लगती तो भानुमति उनसे कहतीं कि आप तो घर की बहू की तरह काम करती हैं।

कुमार जी को पहली बार अकेले रोते देखा - वसुन्धरा श्रीखण्डे लिखती हैं - जब भानुमति की मृत्यु हुई। अब कौन इन्हें शक्ति देगा और मैं किससे सीखूँगी। अचानक मेरी पीठ पर हाथ रखते हुए कुमार ने कहा - तुम क्यों रो रही हो। उस हाथ का स्पर्श कुछ अलग ही था। अस्थियाँ विसर्जित करने के बाद कुमार जी ने उसी शाम तानपूरे मिलाये और कुछ मन्द्र स्वर लगाना शुरू किये। ऐसा

लगा कि वे सुरों के पैर पकड़कर उनसे हिम्मत माँग रहे हैं। वे स्वरों की सेवा करके उनसे धीरज जुटाने की कोशिश कर रहे हैं और हम मूक होकर आँसुओं को पी रहे थे।

जब वसुन्धरा श्रीखण्डे माँ से बिछुड़ी सन्तान को इन्दौर के अस्पताल में देखने गयीं। तो उस नवजात की मुट्ठी में उनकी अँगुली आ गयी। क्या यह आने वाले समय की पूर्वसूचना थी। जब यशोवर्धन को अस्पताल से अकेला ले जाने लगे तो मुकुल रोने लगा, माँ साथ नहीं थी। कुमार जी नहीं रो रहे थे। वे मुकुल को समझा रहे थे कि तुम मैट्रिक पास हो जाओ तब हम माँ को ले आयेंगे। लौहपुरुष बोल रहा था और वसुन्धरा सोच रही थीं कि उसे भी किसी के सामने रोना चाहिए। बच्चे का रोना बाहर सुनायी दे रहा था और हम भीतर-भीतर रो रहे थे।

वसुन्धरा जी अपनी डायरी में लिखती हैं कि मुकुल उन्हें देवास से जाने नहीं दे रहा था। वह लिपटकर रो रहा था। मन हुआ कि उसे अपने साथ ले जाऊँ पर यह सम्भव नहीं था। कुमार जी ने मुझे बग्गी में बिठाकर बस स्टेण्ड पर छोड़ दिया। मैं कुछ कर नहीं पा रही थी। पन्द्रह दिन बाद कुमार जी गायन के लिए बम्बई आये। उनकी आँखें धँस गयी थीं। मैं अपने मन को सम्भाल नहीं पा रही थी। वे धीरज से मंच पर चढ़े। मैं डर रही थी कि अगर गाते हुए उनका गला भर आये तो इन्हें कौन सम्भालेगा। पर ऐसा नहीं हुआ, वे मन के पक्के थे।

दूसरे दिन कर्नाटक संगीत के कार्यक्रम में कुमार जी ने मुझे बुलाया। मध्यान्तर में हम बाहर आये। मैंनें सिर्फ़ कॉफ़ी ली और कुमार जी ने एक बड़ा भी लिया और आधा खाकर मुझे दे दिया। मैंने झट से ले लिया और मन ही मन शरमा भी गयी। फिर लगा कि ये ठीक नहीं है। कुमार जी मुझे सिनेमा दिखाने ले गये और आधी से भी कम फ़िल्म देखने के बाद हम चौपाटी गये। उन्होंने मुझसे पूछा कि तुम कहीं एंगेज तो नहीं हो। क्या तुम मेरा सब कुछ सम्भालोगी। मैंनें बिना देर किये हाँ कर दी। मन ही मन सोचा कि क्या मैं कुमार जी से शादी करने को तैयार हो गयी।

वसुन्धरा जी कहती हैं कि उनके प्रस्ताव में मुझे मुकुल दिखा। वो डूबते हुए दिखे। बूढ़ा कण्णा मामा दिखा। उनकी असहायता और विपत्ति दिखी। उनका संगीत दिखा। उन्हें जीवित रहने के लिए मैंनें अपना हाथ बढ़ाया। यूँ तो यह तिनके का सहारा ही था। पर सहारा देने की मेरे मन में इच्छा जागी। जब मैंने अपनी तरफ से देखा तो मैं बहुत छोटी दिखी। आनंद मनाऊँ या दुःख मनाऊँ। कुमार जी ने मुझे वही अँगूठी पहना दी जो उन्होंने भानुमति को पहनायी थी।

२६ अप्रैल १९६२ को मैं शादी करके देवास जा रही थी। सोच रही थी कि जिस सूने संसार में जा रही हूँ, वहाँ मेरी नज़र कौन उतारेगा। एक रात हम भानुकुल के आँगन में सो रहे थे। कुमार जी, कण्णा मामा भी अपनी-अपनी खाटों पर नींद में थे। मेरे सपने में नौ हाथ लम्बी काली साड़ी पहने भानुमति दिखीं और मैं उनकी बगल में सो रही हूँ। वे पूछ रही हैं कि तुमने शादी क्यों की और कुमार जी उनका डेथ सर्टिफिकेट लिए दरवाज़े पर खड़े हैं। मैं रो रही हूँ। वे मेरे रोने से जागकर मुझे जगा रहे हैं। मेरा सपना सुनकर उन्होंने तुरन्त पटमंजरी, भटियार अंग में एक बन्दिश रची - याद आयी

री जागी मैं। उसका अन्तरा अभी नहीं बना था।

उस नये घर में भानुमति का गृहप्रवेश न हो सका। वसुन्धरा कोमकली गृह-स्वामिनी होकर आयीं। दोनों ने संगीत कुमार गन्धर्व से ही सीखा और संयोगवश दोनों उनकी जीवन-संगिनी भी बनीं। मुकुल शिवपुत्र भानुकुल में ही पले-बढ़े और उनके नवजात छोटे भाई यशोवर्धन को उनकी डाक्टर मौसी त्रिवेणी कौंस ने पाला-पोसा। १९६६ ईसवी में वसु ताई (वसुन्धरा कोमकली) ने भानुकुल में बेटी कलापिनी को जन्म दिया।

मुकुल की संगीत की तालीम कुमार गन्धर्व के सान्निध्य में ही प्रारम्भ हुई। मुकुल का ध्यान सामवेद, ज्ञानेश्वरी और कर्नाटक संगीत में भी लगा। यशोवर्धन को बचपन से ही चित्रकला में रुचि रही। उनकी शिक्षा-दीक्षा इन्दौर में होती रही। उन्होंने फ़िल्म प्राडक्शन, आर्कीटेक्चर और इण्टीरियर डिजाइनिंग की दिशा पकड़ी। कलापिनी की संगीत-साधना कुमार जी और वसु ताई की छत्रछाया में बचपन से ही होती रही। उन्हें बचपन में फ़िल्मी गाने अच्छे लगते थे।

यशोवर्धन ने अपना शुरुआती पेशा भारत में ही किया। वे अब कनाडा में रहते हैं। उनके मन में अभी भी अपने संगीतकार पिता और भानुकुल की यादें बसी हुई हैं। उन्हें बचपन से ही लगता रहा कि उनके पिता उनकी माँ को नहीं भुला पाते और वे उनसे अकेले में ही आत्मीय होते हैं।

एक दिन पिता ने अकेले में पूछा कि बेटा, क्या तुझे कभी ऐसा महसूस होता है कि मैं तुझसे प्रेम नहीं करता। यशोवर्धन इस याद को भुला नहीं पाये हैं। उस दिन पिता की यह बात सुनकर वे अकेले में खूब रोये। १९९१ ईसवी में अपने पिता से उनकी यह अन्तिम मुलाक़ात थी।

उनके बड़े भाई मुकुल देवास के पास ही नेमावर और खजराना कस्बों में अकेले जीवन गुज़ारने लगे थे। उनकी पत्नी की अकाल मृत्यु से उन्हें गहरा आघात लगा था। उनका ब्याह प्रसिद्ध हारमोनियम वादक बण्डु भैया चौघुले की बेटी से हुआ था। कुमार जी के चित्रकार मित्र विष्णु चिंचालकर यह महसूस करते थे कि इस घटना से कुमार जी के सर्जनात्मक मन की ताजगी भी कुछ मलिन-सी पड़ गयी है।

एक रात कुमार गन्धर्व ने डरावना सपना देखा - उनके दोनों पैर सड़ गये हैं। वे चल नहीं पा रहे। मुकुल उनसे दूर जाता हुआ दिखायी दे रहा है और वे उसे पकड़ नहीं पा रहे। उनकी आवाज़ गले में अटककर रह गयी है। - वे फफक-फफककर रोते हुए नींद से जागे। बेचैन होकर कलापिनी और वसुन्धरा जी को पुकारने लगे। घर के लोगों को अचानक टूटी नींद में उनकी आवाज़ किसी गहरी आशंका से भरी और आने वाले समय के प्रति विकल लग रही थी।

मुकुल पर घर और घराने की आशाएँ टिकी थीं। वह अपनी माँ और पिता के बीच एक सेतु था। कुमार गन्धर्व के लिए हर दुःख निजी पूँजी की तरह रहा जिसे वे किसी को बताते नहीं थे। वे उसकी बन्दिश बाँधकर उसे गा सकते थे। अनूपरागविलास के दूसरे खण्ड में राग खम्बावती, एकताल, द्रुतलय में १९८४ के साल में उनकी रची एक बन्दिश याद आती है --

मुरझायग्यो मोगेरो
मेरो मन बागारो सखि।।
क्यारो सूक्यो है ग्यो माँ
कई करूरी मैं हौ सखि।।

कुमार गन्धर्व संगीत से हटकर किसी बात पर ध्यान नहीं देते थे। मुकुल बचपन से ही अपने जीवन के प्रति आज़ाद-ख़याल रहे। पर बाबा (कुमार गन्धर्व) ने इस पर कभी कोई ध्यान भी नहीं दिया। वे मुकुल के साथ गम्भीर संगीत-चर्या तो करते रहे पर उसकी व्यावहारिक जीवन-चर्या के प्रति उदासीन ही रहे। भानुकुल में वसुन्धरा जी ज़रूर अनुशासन प्रिय रहीं और अपनी बात पर अड़कर कुछ सख्त भी। यशोवर्धन अपनी वसु ताई को याद करते हुए कहते हैं कि उन्होंने हमारी माँ की जगह ली थी।

यशोवर्धन को यह ख़याल है कि उनके पिता को संगीत के हर घराने की गहरी समझ थी। इसी कारण वे संगीत के प्रति उदार बन सके। उनकी इस उदारता के कारण ही वे संगीत के संसार में अपनी स्वतन्त्रता का मार्ग खोज सके। वे संगीत की जड़ तक पहुँचने का जीवन भर साधन करते रहे और खुद एक वृक्ष की तरह खड़े हो सके, अपनी सांगीतिक छाया फैला सके। यशोवर्धन को अपने पिता की एक बन्दिश - चिड़िया चुँचुहानी - अक्सर याद आती है। वे दूर रहकर भी पिता के स्वरों से उठती आवाज़ की खनक को नहीं भूले हैं।

वसु ताई जीवन भर कुमार जी से अपना स्वर मिलाती रहीं। उनका अनुभव रहा कि तपेदिक के बाद भी कुमार जी को नियमित दवा लेना पड़ती थी। वे कुछ चिड़चिड़े भी हो गये। उनका स्वभाव शुरू से गुस्सैल ही था। वसु ताई उनके इस गुस्से का का सामना उनकी संगीत शिष्या और पत्नी के रूप में करती रहीं। पर कुमार जी उन्हें बा कहकर ही बुलाते थे। बा याने माँ - जो उन्हें सम्भालती है, घर भी सम्भालती है। वसुन्धरा जी इस आत्मीय सम्बोधन को कभी न भुला सकीं।

गृहस्थी नाममात्र ही थी। कुमार जी को कभी गृहस्थी नहीं बांध सकी बल्कि उनके संगीत में ही सारी गृहस्थी बंधी रही। वसुन्धरा जी कहती थीं कि उन्हें अपनी संगीत उपासना में साथ देने के लिए ही गृहस्थी की ज़रूरत थी। सांसारिक गृहस्थी उनके लिए गौण ही रही। कुमार जी के न रहने पर भी वसु ताई महसूस करती रहीं कि कुमार गन्धर्व के घर में उनकी स्मृति जीवन्त बनी रहती है - जैसे वे अपने कमरे में बैठे कोई जाप कर रहे हैं। कोई पुस्तक पढ़ रहे हैं। कोई बन्दिश बांध रहे हैं, हम अब भी उसी बन्दिश के अंतरे जैसे हैं।

कलापिनी कोमकली का बालमन कुमार गन्धर्व की संगीत पाठशाला से घबराता रहा। कलापिनी कहती हैं कि जबसे आँख खोली, घर में चारों तरफ संगीत पाया। बाबा जब सोते रहते तब अलस्सुबह वसु ताई को खामोश नदी की तरह रियाज़ करते देखा। ताई के साथ मुकुल दादा भी रियाज़ करते थे। घर में इतना गाना फिर भी उसकी तरफ कोई रुझान नहीं था। माँ गाती है, पिता गाते हैं, भाई

गाते हैं, शिष्य गाते हैं। इन सबमें मैं भी क्यों। घर में कोई न गाये, यही इच्छा बनी रहती थी। ताई तो बिलकुल नहीं। जब स्कूल में कोई पूछता कि मेरे माता-पिता क्या करते हैं और मैं कहती कि वे गाते हैं तो सब यही कहते कि यह तो ठीक है पर वे करते क्या हैं। गाने को करना नहीं माना जाता था।

जब संगीत सीखने की नौबत आयी तब कलापिनी आई (माँ) के सामने बैठती। गाने का शास्त्र और व्याकरण आई से ही ज़्यादा समझा। बाबा गुरू के रूप में काफी सख़्त थे। प्रारम्भ में जब उनके सामने सीखने बैठती तो समझ में नहीं आता, वे क्या सिखा रहे हैं और रसोईघर में आकर माँ के सामने फूट-फूटकर रोने लगती। तब पल्ले नहीं पड़ी बात आई समझाती।

कलापिनी के बाबा (कुमार गन्धर्व) जिस स्तर का गाना सिखाते थे, वह बिना किसी तैयारी के पहुँच के बाहर की बात थी। संगीत के अमूर्त सौन्दर्य को समझना और समेटना आसान नहीं था। फिर एक दिन अचानक लगा कि बाबा को यह दिख रहा है कि कलापिनी भी गा सकेगी।

गाने की ओर मुड़कर कलापिनी अपने बाबा के साथ संगीत यात्राओं पर जानें लगीं। बाबा के साथ बैठकर तानपूरों के स्वर छेड़ते हुए उन्हें अहसास होने लगा कि मुझे बहुत पहले ही गाने की ओर मुड़ना चाहिए था। यह तभी सम्भव है जब पूरे समय बाबा के साथ रह सकें और कुमार जी के संगीत के ताप के निकट बने रहना बहुत कठिन था। वे तो रेलगाड़ी में बैठकर कहीं जाते हुए भी संगीत-यात्री बने रहते। जो भी उनके साथ होता वह यात्रा में भी संगीत ही सीखता। बाबा के साथ अपनी यात्राओं को कलापिनी याद करती हैं।

मुकुल शिवपुत्र के बेटे भुवनेश कोमकली का लालन-पालन भानुकुल की अँगनाई में ही हुआ -

मैं गावूँ, पद गावूँ, गुण गावूँ।

मन भाव ताल सुर गावूँ।।

भुवनेश याद करते हैं कि बचपन में जब यह भजन कानों पर पड़ा तभी से इसके स्वर उनके मन पर छा गये। क्या ताल है, क्या राग है कुछ पता नहीं, बस यह याद हो गया। उन्हें केवल सुन-सुनकर बाबा (कुमार जी) की अनेक बन्दिशें याद हो गयीं। पर वह उमर एक जगह टिकने-बैठने की नहीं थी इसीलिए बाबा के सामने बैठकर सीखने का अवसर नहीं आया।

जब उनका देहान्त हुआ तब भुवनेश की आयु चौदह बरस की थी। इतना ज़रूर हुआ कि उनके बिदा होने के एक-दो साल पहले एक जगह बैठकर कुछ सुनना ज़रूर आ गया। बाबा ने एक बार भुवनेश से कहा भी था कि सुनकर ज़ल्दी याद होता है - यह कुमार गन्धर्व का अपना अर्जित अनुभव था। बचपन में उन्हें भी सुनकर याद होता रहा और एक दिन वे गा उठे।

देवास के भानुकुल निवास में कुमार गन्धर्व का सादा और शान्त कक्ष उनके बचपन की याद दिलाता है। वहाँ उनके बचपन की मोहक तस्वीर लगी है। वे चूड़ीदार पायजामा और शेरवानी पहने

हुए हैं। सिर पर सुन्दर टोपी है। वे बचपन में अपनी संगीत प्रस्तुति देते हुए इसी वेषभूषा में मंच पर विराजते थे।

उनकी छोटी-सी बैठक में बायीं तरफ नाथ विश्वंभर के वंशज और संगीत के जयपुर घराने के संस्थापक उस्ताद अल्लादिया खाँ और किराना घराने के संस्थापक उस्ताद अब्दुल करीम खाँ की पुत्री और शिष्या हीराबाई बड़ोदेकर के छायाचित्र लगे हैं। वे संगीतकार सुरेश बाबू माने की बहन थीं। वे अपनी गायकी में अप्रतिम आवाज़ और तन्मयता के लिए जानी जाती रहीं।

एक छायाचित्र में अपनी बीमारी से बाहर निकलकर पण्डित कुमार गन्धर्व माण्डवगढ़ में पण्डित जवाहरलाल नेहरू को कोई राग सुनाने के बाद उनके साथ खड़े हैं। वे काफी दुबले दिखायी दे रहे हैं। रामू भैया दाते की तस्वीर भी एक दीवार पर है जो देवास आने और बसने में उनके मददगार थे। वे कुमार गन्धर्व और बेगम अख़्तर के मुरीद भी थे। उनकी पहचान रसिकराज के रूप में थी। उस कमरे में कुमार गन्धर्व का खाली पलंग करीने से बिछा हुआ है।

इस कमरे में कुछ समय बिताते हुए मुकुल शिवपुत्र की याद आ गयी। वे भानुकुल छोड़ने के कई बरस बाद पिता की मृत्यु पर देवास आये थे। कुमार जी का दाह-संस्कार उनके पौत्र मुकुल के बेटे भुवनेश के हाथों हुआ। मुकुल फिर वापस लौट गये। उन्होंने अपने जीवन में फक्कड़ता की भटकन को अपना लिया है। पिता की मृत्यु के तीस बरस बाद भी वे घर नहीं लौटे हैं। अपने पिता से जो संगीत उन्होंने पाया, काश वह कुमार गन्धर्व की अनुपस्थिति को नये नेह और रस से भरने के काम आ सका होता। कहीं दूर गूँजती मुकुल की तान भानुकुल तक क्यों नहीं आ रही।

घराना भले न बना हो, कुमार गन्धर्व का घर संगीत से सूना नहीं हुआ है। वहाँ कलापिनी गाती हैं, भुवनेश गाते हैं। संगीत का शिक्षण भी होता है। पर यह ख़याल मन में बना रहा कि इनके साथ मुकुल शिवपुत्र भी गा रहे होते। मन कुछ इस तरह भारी हो गया जैसे अनूपरागविलास में बसी कोई बन्दिश खो गयी है और कई-कई बार ढूँढने से नहीं मिल रही। अगर किसी को उसकी याद भी आ जाये और कोई उसे गाने के लिए मनाये तो वह मान नहीं रही। मृत्यु से आठ बरस पहले राग कौशी कानड़ा में रची कुमार गन्धर्व की बन्दिश याद आ रही है - बादर छायो है, कितक दिन बीत्यो, दरस न तेरो।

कुमार गन्धर्व के पुस्तकालय में संगीत की पुस्तकों के साथ महाभारत, सूरसागर, श्रीमद्भागवत, रामचरितमानस, कबीर का महाबीजक, गुरुग्रंथ साहब, ज्ञानेश्वरी, आचार्य विश्वेश्वर का काव्यप्रकाश, त्यागराज कृति संग्रह, तर्कतीर्थ लक्ष्मण शास्त्री के लेख संग्रह, विश्वनाथ शास्त्री की लघु सिद्धान्त कौमुदी, हिन्दी की निर्गुण काव्यधारा, राहुल सांकृत्यायन के यात्रा वृत्तान्त, भारतीय लोक साहित्य और ग्रामगीतों की पुस्तकें अपनी जगह बनाये हुए हैं।

इनके अलावा अरस्तू, टाल्स्टाय, मैक्सिम गोर्की, आवारा मसीहा शरत बाबू, गाँधी और नेहरू की आत्मकथा, अज्ञेय, हजारीप्रसाद द्विवेदी, यू. आर. अनन्तमूर्ति की क़िताबें भी हैं। इनके साथ

चित्रकार पिकासो के मोनोग्राफ़ भी मौजूद हैं। इन क़िताबों को उलटकर देखो तो उन पर कुमार गन्धर्व के निशान मौजूद हैं। संगीत शास्त्र की कुछ क़िताबों में कई जगह क्रास के निशान भी मिलते हैं और उन्हें देखकर लगता है कि जैसे कुमार गन्धर्व शास्त्र में लिखी कुछ बातों से सहमत नहीं हैं।

भानुकुल के परिसर में सबके लिए जगह हमेशा रही। कलापिनी याद करती हैं कि घर के पीछे हर हफ्ते मवेशियों का बाजार भरता था। आसपास के गाँवों से लोग आते थे। उन्हें जब तपती धूप में कोई छाया नहीं मिलती तो वे मधमाद सारंग की बन्दिश की तरह सूरज की तपन से बचने के लिए हमारे घर के वृक्षों की छाँव में रोटी-पानी किया करते। बाबा ने उनकी प्यास बुझाने के लिए अलग से एक नल लगवाया था। जब भी ये किसान भाई आते, बाबा उनसे खेती-किसानी की बातें किया करते –

रुखवा तले आया, आया तले आया
बैठा बटमार, तपना करि दूरा।
अरे वो बाजी आवो
पियासा बुझाले तोरा।

कलापिनी अपने बचपन के सावन के झूलों की यादों में झूलने लगती हैं – एक दिन बाबा ने कहा कि मैं तेरे लिए घर पर ही झूला डालूँगा। वे बाजार से लाल चटख रस्सी लाये, बाँस लाये और मेरे लिए सुरमल्हार की बन्दिश में सुन्दर झूला बनाया –

नीको-नीको लग्यो री, रंग सुरंग साचो आछो री।
रेसम की डोर बनाऊँ, बँधाऊँ झूलाऊँ री।

कुमार गन्धर्व के घर के आसपास पड़ौसी नहीं हैं। सिर्फ़ माता जी के रास्ते पर आते-जाते दर्शनार्थी ही दिन भर दीखते हैं। देवी को चढ़ने वाले ईंगुर-बूँदा-चूनरों की छोटी-छोटी गुमटियाँ पूरे दिन जरी-गोटा लगी लाल चूनरों से झलमलाती रहती हैं। शाम ढलते ही दूकानदार अपनी दूकान समेटने लगते हैं। माता जी के रास्ते के खालीपन में दूर कहीं से अजान की आवाज़ गूँजने लगती है। वह कुमार गन्धर्व के द्वार पर भी दस्तक देती-सी लगती है। भानुकुल के प्रांगण में मौलश्री, आम, बाँस, रीठा, चम्पा, कनेर के वृक्षों के बीच खिली फुलवारी साँवरी होती जाती साँझ में डूबने लगती है।

हर बारिश में मौलश्री के फूल लगातार झरते रहते हैं जैसे बूँदें फूल बनकर झर रही हों और पण्डित कुमार गन्धर्व त्रिताल के ताल में गीतवर्षा करते हुए राग जलधरबसन्ती गा रहे हों –

हीरा मोती निबजे हैं
मन फूला चौदिस बन फूला रे।
हरख भयो सब जीव भौंमरी
नदिया ताल भरिग्यो जलसो फूला रे।

– (अच्छी वर्षा के कारण अब) खेत में हीरे-मोतियों के समान फ़सल उपजेगी। चारों दिशाएँ (चौदिस), जंगल सब खिले हुए हैं। धरती (भौंमरी) के सब प्राणी हर्षित (हरख भयो) हैं। नदी, तालाब सब पानी से (जलसो) भर गये (भरिग्यो) हैं।

पण्डित कुमार गन्धर्व का संगीत कभी वर्षा की तीव्र बौछार-सा, कभी धुआँधार झड़ी-सा और कभी झरती रिमझिम फुहारों जैसा भी तो प्रतीति में आता रहा है। वे जीवन भर अपने संगीत में नयी फलसिद्धि के लिए अपना खेत इस तरह सम्भालते रहे हैं कि उनकी गीतवर्षा का जल यूँ ही न बह जाये, वह सबके लिए ठहर सके –

अवधूता, गगन घटा गहरानी हो
पछिम दिशा से उठी बादरी
रुम झुम बरसे मेघा
उठो ग्यानी मेंढ़ सँवारो
बह्यो जात है पानी ... अवधूता

मराठी लेखक रवीन्द्र पिंगे ने कुमार गन्धर्व के घर से लौटते हुए पूछा -- आपके पास अपने घर का कोई फ़ोटो है। कुमार गन्धर्व बोले अजी नहीं, इस घर का फ़ोटो कैसे उतर सकता है। आजू-बाजू मैंने ढेर सारे पेड़ लगा रखे हैं। उनके पत्ते आड़े आते हैं। मेरी पहले से एक कल्पना थी कि मैं पेड़ों में गुम होकर रहूँ, इसलिए पेड़ लगाये। अब वे बड़े हो गये। मैंने जान-बूझकर फूलों का छोटा-सा बागीचा नहीं बनाया। ये फैलने वाले बड़े पेड़ लगाये। घर के चारों ओर पेड़ होना अच्छा रहता है क्योंकि उनकी वजह से एक वर्ष का ऋतुओं का जो चक्र होता है वह बिलकुल अपनी आँखों के सामने घूमता नज़र आता है।

इरफ़ान : जहाँ ले चले हवा

अनूप सिंह

अंग्रेज़ी से अनुवाद : मदन सोनी

इरफ़ान और मैं अपनी-अपनी कुर्सियाँ पहाड़ी की कगार तक ले गये। क़िस्सा की शूटिंग के पहले दिन क्षितिज पर आकाश ने अभी-अभी पृथ्वी से अलग होना शुरू किया था और नीचे की घाटी भोर की पहली रोशनी में अपनी काली और सलेटी चट्टानों के साथ धीरे-धीरे नमूदार हो रही थी।

हम अपने नीचे की ज़मीन को धड़कता हुआ महसूस कर सकते थे और हमें मालूम था कि यह जहाँ हम बैठे थे वहाँ से कोई चालीस फुट नीचे बहती नदी की लहरें और थपेड़े थे। लेकिन, हम उस धुँधली रोशनी में उसे अभी नहीं देख पा रहे थे। लेकिन हमारे पैरों के पास कुछ विचित्र क़िस्म के निशानों की ओर इरफ़ान का ध्यान गया। वे किसी प्राणी के रेंगने से बनी लकीरें थीं। क्या साँप के रेंगने से बने निशान थे? हमें यह समझने में कुछ पल लगे कि यह निश्चय ही पहाड़ी पर नदी की चोट और रात भर बहती रही हवा थी जिसकी वजह से ज़मीन पर वे विचित्र-सी आकृतियाँ उभर आयी थीं।

हमारे चेहरे पर पड़ती सुबह की हवा खुरदुरी और सुगन्धित थी। वह दूसरी पहाड़ियों और कन्दराओं का, सुदूर खेतों और नीचे बहती नदी का लम्बा सफ़र तय करके आ रहा थी। हमारे इर्द-गिर्द गूँजता हवा का स्वर, मेरे लिए, राँझा का स्वर था जो उल्लसित होकर गुनगुना रहा था कि वह अन्ततः अपनी प्रेयसी के घर आ पहुँचा है। उसे यह नहीं मालूम था कि उसने ज़हर खा लिया है। लेकिन वह अपनी माँ के पास उसके लिए एक गीत छोड़ गयी है और जब माँ उसे हीर की क़ब्र की ओर ले जा रही होगी, तो वह उस गीत को गाएगी।

मैंने इरफ़ान की ओर मुड़कर उसे बताया कि मैं क्या सोच रहा था। वह हल्के-से हँस दिया।

'आनन्द और मातम! फ़िल्म की शुरुआत के लिए यह बुरा तरीक़ा नहीं है!'

इस गाँव को खोजने में मुझे महीनों लग गये थे। मैं पटियाला से पेशावर, और चण्डीगढ़ से तरण तारण तक पंजाब के चक्कर लगाता रहा था। हम लगभग लंच के समय इस गाँव में पहुँचे थे जो हिन्दुस्तान और पाकिस्तान की वाघा सरहद के काफ़ी क़रीब है। और जैसे ही हम गाँव में दाख़िल

हुए थे, मुझे लगा था कि यही वह गाँव था जिसके बारे में मेरे दादा ने मुझे बचपन में बताया था। हालाँकि, उन्होंने जिस गाँव के बारे में बात की थी वह रावलपिण्डी के क़रीब था जो अब पाकिस्तान में है। लोगों के चेहरे, उनमें से कुछ लोगों का पगड़ी बाँधने का ढँग, और मकान, सारी चीज़ें बहुत सशक्त ढँग से सौ साल पुराने समुदाय की याद दिला रही थीं। कुछ मकानों में अभी भी लाल रंग की पतली ईंटों की नानकशाही क़िस्म का इस्तेमाल किया गया था, जिनका इस्तेमाल इन इलाक़ों में अँग्रेज़ों के ज़माने में आम तौर से होता था।

गाँव की ओर आते समय मुझे इस बात का अहसास नहीं रहा था कि यह गाँव ढलुआ पठार पर खड़ा था। गाँव का मुख्य हिस्सा चारों ओर से खेतों से घिरा था। लेकिन मुझे सबसे ज़्यादा आनन्दित कर रहे थे खुरदुरे पत्थरों और लकड़ी से बने एक मंज़िले मकान जिनके आँगन पहाड़ी की कगार तक फैले हुए थे। इन मकानों के सामने फैला हुआ दृश्य मेरे लिए मेरी फ़िल्म का पंजाब था।

धरती के छोर से फूटती सूरज की पहली किरणें घाटी के ऊपर से हमारी ओर रंगों की बौछार कर रही थीं और इरफ़ान तथा मैं उन्हें देख रहे थे। दूरी किंगफ़िशर के नीले रंग और फिर पीले और हरे की पट्टियों में खुलते बैंगनी रंगों से जगमगा रही थी। हमने अपने सामने की खड़ी ऊँचाई से नीचे नदी को देखा। नदी उज्जवल लाल-भूरी जुमान और सलेटी मिट्टी के साथ हरे और नीले रंगों से जगमगा रही थी।

'अब आपको अपने मेक-अप के लिए जाना चाहिए,' मैंने इरफ़ान से कहा।

'वह मेरे अन्दर गूँज रहा है - अपनी माँ के लिए हीर का गाना,' इरफ़ान ने कहा। 'मैं इसे आज की शूटिंग के लिए रखूँगा।'

हम दोनों खड़े हो गये और इरफ़ान पहाड़ी के किनारे से लगे रास्ते पर पार्किंग की ओर बढ़ गया। वहाँ से एक कार उसे गाँव के बाहर खड़ी मेक-अप वैन तक ले जाने वाली थी। वैनों को भरसक दूरी पर पार्क किया गया था ताकि उन्हें क्रियाशील बनाये रखने वाले जेनरेटरों से शूटिंग में बाधा न पड़े।

लगभग दो घण्टे बाद इरफ़ान अपनी वेशभूषा, पगड़ी और वनैली दाढ़ी के साथ सैट पर वापस आ गया।

मैंने इरफ़ान का हाथ अपने हाथ में लिया और उस जगह और दृश्य की ओर बढ़ गया जिसे हम शूट करने की तैयारी कर रहे थे।

मैंने पुष्पेन्द्र से कहा था कि वह रिहर्सल के लिए सीन के उस इलाक़े को जितना मुमकिन हो उतना गन्दा और अस्तव्यस्त रखे, क्योंकि मैं देख चुका था और आगे के मुश्किल दिनों में भी देखने वाला था कि उसने बहुत ही अच्छा काम किया था। ज़मीन चीनी मिट्टी के किसी बहुत बड़े बर्तन और

लकड़ी के फ़र्नीचर के टूटे हुए टुकड़ों से अँटा पड़ी थी। दृश्य में उम्बर सिंह (जिसकी भूमिका इरफ़ान निभा रहे थे) को एक आदमी की लाश को घसीटते हुए अपने आँगन में लाना था। वह उसे ऊपर उठाने के लिए बहुत संघर्ष करता है, लेकिन अन्त में किसी तरह कुएँ की दीवार पर रख देता है। उसके बाद वह लाश को कुएँ में धकेल देता है। फिर वह वहाँ से चला जाता है।

एक ही संवाद है जो वह लाश के सामने फुसफुसाता है। 'मैं तुम्हारे आदमियों को उन्हीं के प्रेतों के ज़हर से भर दूँगा।' मैंने इरफ़ान से कह दिया था कि यह वह तय करे कि वह दृश्य में चलते हुए संवाद को कहाँ बोलना चाहता है, एक बार में या दो बार में।

फिर मैंने उनके क़रीब जाकर उनके कान में कहा, 'जनाब, यह हमारा पहला दिन है, पहला शॉट है। हमें अपना पूरा समय लेना चाहिए।'

उसने मुस्कराते हुए मेरी ओर देखा। 'मुझे यहाँ कोई माल दिखायी नहीं दे रहा है जहाँ मैं ख़रीदारी करने चला जाऊँगा,' उसने कहा। 'मैं पूरे समय आपका हूँ।'

'देखते हैं, क्या कारगर होता है, क्या नहीं।'

'आप शॉट में चौंकाया जाना पसन्द नहीं करते?'

'अगर हम बुनियादी चीज़ों पर काम कर लेते हैं, तो हम बाक़ी फ़िल्म में तमाम तरह के अज्ञातों में जा सकते हैं।'

उसने सिर हिलाया और अपने सामने की जगह को ध्यान से देखने लगा।

मैं कैमरे की बग़ल में अपनी जगह पर पहुँच गया। यह मेरे लिए और, निश्चय ही इरफ़ान के लिए भी, बहुत महत्त्वपूर्ण क्षण था। हमने महीनों तक इस चरित्र के चलकर जाने पर चर्चा की थी और उसकी रिहर्सल की थी, लेकिन अपार्टमेण्ट के चिकने फ़र्श पर चलने में और लोकेशन की ऊँची-नीची ज़मीन पर चलने में बड़ा फ़र्क था। हम सबने वे अभिनेता देख रखे थे जो कैसी भी ज़मीन पर अपना सन्तुलन बनाये रखते थे। वे पहाड़ी रास्ते पर उसी आत्मविश्वास के साथ चलते थे जैसे क़ालीन पर। मैं यह देखने का इन्तज़ार कर रहा था कि इरफ़ान अपने लिए कौन-सी सम्भावनाएँ खोलने जा रहा था। क्या वह अपने शरीर को उस ज़मीन के सामने झुक जाने देगा? उसके शरीर के साथ जो भी कुछ होता, वह या तो चरित्र को बाक़ी पूरी फ़िल्म के लिए पोषित या प्रेरित करता या न सिर्फ़ चरित्र को बल्कि फ़िल्म को ही कमज़ोर कर देता। मैंने ज़मीन पर अव्यवस्था बढ़ाने के लिए कहा ही इसलिए था ताकि उससे इरफ़ान विकल्प चुनने के लिए प्रेरित होता।

इरफ़ान दो बार उस स्पेस में चला और फिर मेरी ओर मुड़ा। मैंने नज़रें घुमाकर क्रू के लोगों की ओर देखा जो हमें देख रहे थे, फिर इरफ़ान को इशारा कर अपने पीछे आने को कहा। हम उस

मकान के पीछे की ओर गये जहाँ कुछ कुर्सियाँ यहाँ-वहाँ बिखरी हुई थीं। वह बैठ गया। मैं उसके सामने खड़ा हो गया। उसने मेरी ओर देखा। मेरे पीछे से आ रही धूप की वजह से उसकी आँखें चुँधियाई हुई थीं। उसके चेहरे पर खुशी की मुसकराहट थी।

'आप अब कहोगे, ''खूब! वाह! अद्‌भुत!'' और फिर कहोगे, ''लेकिन...'' '

मैं धीरे से हँसा और उसके सामने ज़मीन पर बैठ गया।

'क्या मैंने कभी आपको यह बताया था? मैं अपनी पहली फ़िल्म, द नेम ऑफ़ अ रिवर के लिए बँगलादेश में इलाक़े की टोह ले रहा था। हम नदी पर थे, नाव में। नदी काफ़ी उथली थी और पानी के ऊपर कई द्वीप उठे हुए थे। हमने इन्हीं में से एक द्वीप पर लंच लेने का निश्चय किया। वह द्वीप बमुश्किल बारह फुट चौड़ा था। जब मैंने उस पर क़दम रखा, जनाब, तब वह मेरी ज़िन्दगी का सबसे ज़्यादा आश्चर्यजनक पल था।

इरफ़ान अपने घुटने पर कुहनी रखकर आगे की ओर झुका।

'मैंने जैसे ही द्वीप पर क़दम रखा, वह डूब गया। मैं लगभग छह इंच नीचे चला गया और फिर, बहुत हल्के-से वापस ऊपर की ओर उछला। मैं वहाँ हिलता हुआ खड़ा था और बमुश्किल अपना सन्तुलन बनाये रख पा रहा था। शुद्ध आनन्द! वे द्वीप पानी में डूबे हुए हैं लेकिन किसी तरह तैरते रहते हैं। और मेरे पैरों के तले की ज़मीन, जनाब, खूबसूरत ढँग से सिलवटों से भरी काली और सलेटी रंगों से जगमगा रही थी। जैसे मैं हाथी के पेट पर चल रहा था!'

इरफ़ान कुर्सी पर तनकर बैठ चुका था। मैंने अपने पीछे मुड़कर देखा जहाँ उसकी निगाहें अटकी हुई लग रही थीं। वह उम्बर के घर का पिछवाड़ा था। सुबह का सूरज अभी भी उसके पीछे था, और वह घर हमारे ऊपर तने नीले आसमान की पृष्ठभूमि में कठियल चट्टानों की भाँति खड़ा था। मैं वापस इरफ़ान की ओर मुड़ा।

'और फिर हमने उस हाथी के पेट पर बैठकर लंच खाया! उससे ज़्यादा अजीबो-ग़रीब तरीके से लंच मैंने कभी नहीं किया था! लेकिन उस वक़्त मुझे जो अहसास हुआ, वह यह था कि हमारे पैरों तले की ज़मीन कभी मुलायम और स्थिर नहीं होती। मुझे यक़ीन है, आपने भी यह महसूस किया होगा। हमें इस बात का अहसास हो या न हो, हर इलाक़ा हमारी कायाओं को चुनौती देता है और उसे कुछ बदल देता है। आपको नहीं लगता?'

इरफ़ान वहाँ बैठा अपने में खोया हुआ सिर हिला रहा था और उसकी निगाहें अभी भी मकान पर टिकी हुई थीं। फिर उसने अपनी नज़रें मेरी ओर मोड़ीं। 'मैं उम्बर सिंह के बारे में पक्के तौर पर नहीं जानता, अनूप साब। उम्बर अपने निश्चय पर अडिग है। उसके गुस्से ने, उसकी कड़ुआहट ने उसे हठीला बना दिया है। वह प्रकृति को यह छूट देने वाला नहीं है कि वह उसे उसकी बेटी को

बेटा बनाने से रोक सके, इसलिए लाश को घसीटते हुए कुएँ तक ले जाते समय इन छोटी-छोटी भौतिक बाधाओं की तरफ़ - क्या आपको लगता है कि वह ध्यान भी देगा?'

'मैं समझता हूँ कि वह हर चीज़ की तरफ़ ध्यान देता है। वह खुद को उस चीज़ का शिकार मानता है जिसे वह नियति कहता है, जिसे हम लोग प्रकृति या इतिहास कह सकते हैं। वह दरअसल अपनी नियति से बदला ले रहा है। उसका शत्रु कोई दूसरा समुदाय नहीं है, बल्कि हर चीज़ उसकी शत्रु है।'

इरफ़ान मुझे ग़ौर से देख रहा था। 'जनाब,' उसने कहा, 'शायद आपका मतलब यह है।'

उसने बहुत गरिमापूर्ण ढँग से अपनी नज़रें ऊपर उठायीं और फिर आसमान की ओर हाथ उठाकर मुट्ठियाँ तान दीं।

मेरे अन्दर कहीं गहरे जो दबाव था वह ढीला पड़ गया। हाँ, मैंने मन-ही-मन सोचा कि बात दरअसल यही हैः उन अज्ञात शक्तियों के ख़िलाफ़ युद्ध का ऐलान जो हमेशा हमसे परे बनी रहती हैं। इरफ़ान की उस भंगिमा ने मेरे शब्दों के मुक़ाबले कहीं ज़्यादा अर्थपूर्ण ढँग से उस चीज़ को पकड़ लिया था जिसका संकेत मैं उम्बर सिंह के बारे में कर रहा था। उसने जो भी किया था वह अवज्ञा की नमाज़ थी।

'चलिए, फिर-से कोशिश करते हैं।' इरफ़ान खड़ा हो गया। 'इस बार हम शरीर से करते हैं।'

हमारे साथ एक एक्शन डायरेक्टर था, जो अपने साथ दो जाँबाज़ों (स्टण्टमेन) को लेकर आया था। हमने उनमें से सबसे दुबले आदमी को लाश की भूमिका के लिए चुना था। वह घर के बाहर लेट गया। इरफ़ान ने उसके पैर पकड़े और उसे घसीटता हुआ आँगन में ले आया। इस बार उत्तेजना के मारे मेरी रीढ़ की हड्डी में झुरझुरी दौड़ गयी। लाश को घसीटते हुए इरफ़ान के एक-एक क़दम के साथ हवा में थोड़ी-सी धूल उड़ रही थी। आप ज़मीन पर उसके पैरों के ज़ोर लगाये जाने और खरोंचे जाने को महसूस कर सकते थे।

अच्छी शुरुआत, मैंने मन-ही-मन कहा। इरफ़ान ने क्षण भर में लाश को उसके पेट के बल पलट दिया, लेकिन जैसे ही उसने उसे उठाने के लिए उसकी काँख में हाथ डाले, लाश कुलबुलाने लगी और झटके खाने लगी। इरफ़ान उछलकर दूर खड़ा हो गया। हमने विस्मय के साथ देखा कि वह जाँबाज़ बेतहाशा हँसता हुआ हमारी ओर मुड़ रहा था।

'मुझे गुदगुदी लगती है,' उसने साँस लेने की कोशिश करते हुए कहा। वह लगातार माफ़ी माँगे जा रहा था। 'कभी-कभी मुझे बहुत गुदगुदी लगती है।'

क्रू के सारे लोगों की हँसी फूट पड़ी और वे जाँबाज़ पर तमाम तरह की फ़ब्तियाँ कसते हुए

और मज़ाक बनाते हुए उसे चिढ़ाने लगे। हँसी से दोहरे होते इरफ़ान की आँखों से आँसू बह रहे थे।

निर्माता को बिल्कुल भी मज़ा नहीं आया। वह तेज़ी-से चलता हुआ सैट पर आया और उस जाँबाज़ पर चिल्लाने लगा। इरफ़ान ने उस बेचारे की मदद करते हुए उसे उठाया और बाहर भेज दिया। हमने दूसरे जाँबाज़ को ज़ल्दी-से मेक-अप वैन की ओर भेजा। मेक-अप और वेशभूषा विभाग को उसे बीस मिनिट के भीतर तैयार कर देना था।

फ़िल्म का पहला शॉट हमें सुबह आठ बजे लेना था, लेकिन हम उसे लंच के बाद ही ले पाये। निर्माता बौखलाया हुआ था। हमने काफ़ी सारा वक़्त बरबाद कर दिया था। लेकिन इरफ़ान और मैं सन्तुष्ट थे। हमने बार-बार उस दृश्य पर काम किया था, तब भी हमें यह समझने में कुछ वक़्त लगा कि हम उस दृश्य तक दो बिल्कुल अलग-अलग दिशाओं से पहुँच रहे थे। इरफ़ान दृश्य के भीतर के उन डरावने एक्शन्स को एकदम निस्संग दक्षता और लाघव के साथ करने की कोशिश कर रहा था। मैं चाहता था कि एक्शन अन्तराल (पॉज़) के कुछ क्षणों के साथ सम्पन्न हो, उसमें अस्थिरता के कुछ ख़ास क्षण बरकरार रहें, उसमें ऐसी अपूर्वानुमेयता हो जो उम्बर की निर्दयता में हिचकिचाहट की ओर संकेत करने में हमारी मदद कर सके।

लंच के ठीक पहले हमें सफलता हाथ लगी। इरफ़ान लाश को एकबार और कुएँ में डाल चुका था (अब हम भरे हुए टाट के बोरे का इस्तेमाल कर रहे थे) और, जैसा वह पहले भी कर चुका था, वह मुड़ा और वहाँ से जाने लगा। अचानक वह ठहर गया और उसने मुझसे इशारे से कहा कि वह उस एक्शन को फिर-से करेगा।

इस बार जब वह लाश को उठाने झुका, तो मैंने देखा कि अपने प्रति इरफ़ान की सजगता में कोई बदलाव आ गया था। वह खुद को देख रहा था, लेकिन अब उसकी नज़र उसके हरेक छोटे-छोटे पैंतरे या हरकत पर नहीं थी। वह उसे देख रहा था जो उसके सामने रूप ले रहा था। अपने रोज़मर्रा जीवन में वह लोगों, वस्तुओं, संगीत, यहाँ तक कि तापमान के प्रति भी जिस तरह तत्काल सकारात्मक ढँग से प्रतिक्रिया करता था, उसे यहाँ वेध्य तत्परता के साथ, ग्रहणशीलता और थोपने की अनिच्छा के अद्‌भुत मिश्रण के साथ आते देखना सम्मोहित करने वाली चीज़ थी। अब वह अपने आसपास के वातावरण और स्पेस में किसी भावना को बलात् घुसेड़ने की कोशिश नहीं कर रहा था। इसकी बजाय, अचानक सारी पूर्वधारणाओं से मुक्त होकर, वह उस चीज़ को देख रहा था जो स्वयं उस दृश्य के भीतर से निकल कर आ सकती थी।

उसने मुझे बाद में बताया था कि यह स्वत्व से निस्संगता स्थापित करने का प्रशान्त क्षण है। उसके भीतर उफनते भाव के प्रति निस्संगता। उसका पूरा ध्यान उस लाश के वज़न पर, उस आदमी के बालों को हिलाती हवा पर, ज़मीन पर लाश के घसीटे जाने से बने निशान पर, और इस आश्चर्य पर केन्द्रित था कि आकाश बेहद चमकीला और नीला बना हुआ था।

'एक क्षण के लिए, अनूप साब,' उसने कहा, 'एक्शन का कोई छोटा-सा टुकड़ा पूरी फ़िल्म को दिमाग़ में स्पष्ट कर देता है। शुरुआत में एक इशारा होता है कि फ़िल्म कैसी बनेगी। लेकिन वास्तविक काम में, एक्शन के उस छोटे-से टुकड़े में आप फ़िल्म को एक नया ही रूप लेते देखते हैं।'

'एक्शन के उस छोटे-से टुकड़े में, आप फ़िल्म को उससे बेहतर रूप में देख पाते हैं जिस रूप में आपने पहले उसकी कल्पना की थी। एक्शन का हरेक उतार-चढ़ाव फ़िल्म को बेहतर बनाता चलता है।'

और तब, जैसाकि उसकी हर घोषणा में उसकी प्रवृत्ति थी, उसे दूसरी सम्भावनाओं की ओर देखना ज़रूरी था। उसने मुस्कराते हुए अपनी बात जारी रखी। 'हाँ, ऐसा भी होता है कि सीन बढ़िया लगता है, लेकिन फ़िल्म नहीं दिखायी देती। और ऐसे मौक़े भी आते हैं जब आपकी छोटी-से-छोटी हरकत भी सीन और फ़िल्म को बरबाद कर देते हैं!'

उस दृश्य में मैं उसके कन्धे पर पड़ते दबाव को बढ़ते हुए देख सकता था। उसकी ठोड़ी उठी हुई थी और गर्दन तनी हुई थी। उसने जैसे ही लाश को ऊपर की ओर उठाया, वह आगे की ओर लड़खड़ाया और खुद को सन्तुलित करने की कोशिश में उसका कूल्हा नीचे की ओर झुक गया। और अब जैसे ही वह ऊपर की ओर उठा, वह जुम्बिश उसके पैरों से शुरू हुई, और उसके मेरुदण्ड से होते हुए उसने उसके हाथ को ऐसा घुमाव दिया जो असन्तुलित होते हुए भी बहुत उग्र था। उसने लाश को एक बार फिर-से कुएँ में धकेला, मुड़ा और, इस बार, पल भर के लिए कुएँ की मुँडेर से टिक गया। और उसके बाद ही वह तनकर खड़ा हुआ और वहाँ से चल पड़ा।

वह कुछ दूर जाकर मुझे देखने के लिए मुड़ा। वह मुस्कुरा रहा था। मैं भी हँस रहा था। मैंने पुष्पेन्द्र की ओर देखा। उस तक के चेहरे पर मुस्कराहट थी।

ये बहुत छोटे-मोटे फ़ैसले लग सकते हैं जो इरफ़ान ने किये थे, लेकिन अस्थिरता और दृढ़ निश्चय के उस मेल ने हमें वह बुनियादी लय सुलभ करायी जिसने उम्बर के भीतर दबी हुई कोमलता को, उसकी बर्बरता के चरम क्षणों में भी, झलकाने में मदद की। हमारे लिए, यह आगे की दिशा में एक सशक्त क़दम था क्योंकि अब के बाद से हमारे पास एक व्यंजक, गतिशील यूनिट और संवेग था जिसे हम सब अनुभव कर सकते थे, उसे आधार की तरह बरत सकते थे, नमूने की तरह बरत सकते थे, उसे संयमित या तीव्र कर सकते थे, और अतिसूक्ष्म ध्वनियों की तरह बरत सकते थे। और सिर्फ़ इरफ़ान की अदायगी के सन्दर्भ में नहीं बल्कि स्वयं फ़िल्म के सन्दर्भ में।

अब जब इरफ़ान लाश को कुएँ की मुँडेर पर ले जाने के लिए उसे उठाने उस पर झुका, तो उसे लगा कि वह उसे उठाने की पहली कोशिश के बाद, लाश को ज़मीन से हल्का-सा ऊपर उठाये हुए थोड़ी-सी राहत की साँस ले सकता है। और फिर उसके साथ ऊपर की ओर उठ सकता है। हम

तुरन्त देख सकते थे कि चरित्र उस तरह कठोर नहीं था जिस तरह वह होना चाहता। लाश को उठाते हुए उसने जो साँस ली थी, उसकी वजह से वह लाश के सिर के एकदम क़रीब आ गया था और वह उसके कान में यह वाक्य बोलने के लिए एकदम सही अवसर साबित हुआ कि 'मैं तुम्हारे आदमियों को उन्हीं के प्रेतों के ज़हर से भर दूँगा।' बहुत तेज़ी-से एक स्वतःस्फूर्त, उद्‌बोधक प्रवाह पैदा हो गया।

यह छोटा-सा एक्शन अब महज़ एक एक्शन नहीं रह गया था। वह किसी तुच्छ चीज़ की तरह अपना समय पूरा करने के बाद हमारी चेतना में लुप्त हो जाने वाला नहीं था। वह हमारे साथ बना रहने वाला था। यहाँ एक ऐसी अनुभूति थी जो हम तमाम लोगों के अपने विश्वासों में गहरे पैठी अविश्वसनीयता के साथ टक्कर लेने वाली थी।

जब वह लाश को कुएँ की मुँडेर तक घसीट लाया, तो इरफ़ान ने फुर्ती-से ऊपर की ओर देखा था। अपने आसपास की दुनिया पर एक तीक्ष्ण, अवज्ञापूर्ण निगाह। इस निगाह को लेकर वह निश्चित नहीं था, लेकिन मैंने उससे इसके लिए अनुरोध किया था। उसकी निगाह ने एक्शन को आसपास की बड़ी दुनिया के लिए खोल भर नहीं दिया था, बल्कि उस चीज़ पर मुहर लगा दी थी जिसके बारे में हमने पहले बात की थी : उम्बर की शत्रु हमेशा उसकी पहुँच से थोड़ी परे एक अज्ञात शक्ति बनी रहती है। इरफ़ान के बुनियादी निष्पादनपरक विकल्पों ने उसके अभिनय की नैतिकता को निजी से सार्वभौम में रूपान्तरित कर दिया था। उसकी प्रस्तुति न सिर्फ़ चरित्र के अनिर्वचनीय संवगों को बल्कि स्वयं फ़िल्म को आकार देने की शुरुआत कर रही थी।

यह शूटिंग का पहला दिन, पहला दृश्य था और हम अपने मतभेदों को दूर करने में और संयम तथा लाघव की इरफ़ान की आकांक्षा और हमारे विश्व को थामने और बिखराने वाली अस्थिरता को समझने की मेरी कोशिश के बीच तालमेल विकसित करने में कामयाब रहे थे। साथ में काम करने के इस महत्त्वपूर्ण मुकाम तक पहुँचने में हमें वक़्त लगा था, लेकिन उसका सुफल प्राप्त हुआ। शूटिंग से पहले के सारे वार्तालाप और रिहर्सल तथा अब हर पल दृश्य पर साथ-साथ काम करते हुए हम उस प्रस्तुति तक पहुँच गये थे जो फ़िल्म की व्यापक लय और विषय-वस्तु के साथ ऐन्द्रिय और गहन संवाद के रिश्ते में थी।

* * *

फ़िल्म के निर्माता और मेरे बीच अभी-अभी तू-तू मैं-मैं हुई थी। शुक्र था कि यह झगड़ा उस हवेली की छत पर हुआ था जहाँ हम शूटिंग कर रहे थे, जहाँ बाक़ी कलाकार और क्रू के लोग नहीं थे, क्योंकि वे लोग नीचे अगली शूटिंग की तैयारी कर रहे थे।

निर्माता मुझसे कुछ दृश्यों को काटने का आग्रह कर रहा था। मुझे यक़ीन था कि अगर वे दृश्य

काट दिये जाते, तो उससे फ़िल्म का केन्द्रीय रहस्य नष्ट हो जाता :प्रेत, वाक़ई, क्या है? धीमे स्वर में किन्तु तीखे ढँग से जारी हमारे विवाद के बाद, हम ख़ामोश थे। राकेश जी, हमेशा की तरह, मेरी मदद के लिए आगे आये। वे छत के दरवाज़े पर नमूदार हुए, और स्पष्ट दिखायी देते तनाव को नज़रअन्दाज़ करते हुए, उन्होंने मुझसे कहा कि सिनेमेटोग्राफ़र को मेरी ज़रूरत है। बेशक, यह एक झूठ था, लेकिन वे हमेशा मेरी ज़रूरत को महसूस करने की अपनी क़ाबिलियत से मुझे चकित करते रहे थे।

नीचे पहुँचकर मैंने उन्हें धन्यवाद दिया। उन्होंने सलाह दी कि मैं कुछ समय बाहर अकेला रहूँ। अगर क्रू के किसी भी आदमी ने मेरा क्षोभ देख लिया होता, तो यह अच्छा नहीं होता।

मैं बग़ल के एक दरवाज़े से बाहर निकल गया। बाहर निकलने पर मैंने हवेली के क़रीब पेड़ों के झुरमुट में इरफ़ान को देखा। मैं जो देख रहा था, उससे हतप्रभ होकर देहलीज़ पर खड़ा रह गया। और उसके बाद मैं प्रसन्न और उत्सुक हो उठा। वह पेड़ों का चक्कर लगा रहा था और उसका लम्बा खाकी कुर्ता हवा में उसके शरीर पर लहरा रहा था। डूबते सूरज ने झुरमुट में घनी छायाओं और चमकीले पीले रंग के पैटर्न उकेर दिये थे।

एक क्षण आया जब इरफ़ान के हाथ उसके सामने अनिश्चित-सी अनुनय में उठे। उसने एक पेड़ की पत्तियों के गुच्छे की ओर ग़ौर-से देखा। मैं उसे बोलते हुए सुन पा रहा था। वह विचित्र-से ढँग से गुनगुना रहा था।

फिर उसके हाथ धीरे-धीरे उसकी बग़ल में लटक गये और पीछे मुड़कर आपस में बँध गये। उसकी आवाज़ की लय बदल गयी।

इस पूरे दौरान, जब वह छायाओं और उज्जवल प्रकाश के बीच सहज प्रवाह और आकस्मिक मोड़ों के विचित्र क़िस्म के नृत्य में निमग्न था, उसकी आवाज़ में लगातार आरोह-अवरोह पैदा हो रहे थे, वह कभी गाती लगती थी, तो कभी बुदबुदाती। लग रहा था जैसे वह उस झुरमुट में रहने वाले प्रेतों से बतिया रहा था।

कुछ देर बाद, मैंने उन शब्दों को सुनना शुरू किया जिन्हें वह गुनगुना और बुदबुदा रहा था, और तब मुझे समझ में आया कि वह फ़िल्म के संवादों को गा रहा था। अब तक मेरा क्षोभ शान्त हो चुका था और मैं उसे उस स्नेह और श्रद्धा के भाव से देख रहा था जिसे हम उस किसी भी व्यक्ति की उपस्थिति में महसूस करते हैं जो किसी अतृप्य आवेग के वशीभूत होता है।

मैं उसे चौंकाना नहीं चाहता था, इसलिए मैं बग़ीचे में दूर तक चला गया और फिर उसकी ओर मुड़ा ताकि वह मुझे आता हुआ देख सकता।

'आप यह कौन-सा मन्त्र बुदबुदा रहे थे, जनाब? लगता है जैसे आप अपने निर्देशक को शाप

दे रहे थे।'

इरफ़ान हँस दिया। 'ये पंजाबी डायलॉग्स! मैं खुद को निर्देशक के अभिशाप से आज़ाद करने की कोशिश कर रहा हूँ।'

'हाँ, मैं आपको सुन पा रहा था! मेरे ही संवादों को मेरे ख़िलाफ़ गाते हुए?'

'हाँ, आपके डायलॉग अब धीरे-धीरे वश में आ रहे हैं!'

'पंजाबी ज़्यादा बेहतर लगती है।'

'टूना जैसे शब्दों को गाने से उन्हें याद करना ज़्यादा आसान हो जाता है। सुनिए - '

उसने अपनी पीठ एक पेड़ से टिका दी।

'नी...तू कि-थे जा-री...जा-री तू कि-थे...अए नीली, ओ नीली,' वह गुनगुनाया। 'संवाद है : नीली, तु किथे जा रही है?'

'डायलॉग बहुत फ़िज़िकल हो जाता है।'

'हाँ। और एक कोई छुपी हुई धड़क लफ़्ज़ में पता नहीं कौन-सा दरवाज़ा खोल दे उम्बर की आत्मा में।'

इरफ़ान द्वारा संवाद को गाये जाने ने मेरे लिए फ़िल्म में बहुत-से दरवाज़े खोल दिये। हम जैसे-जैसे फ़िल्म (और हमारे द्वारा साथ-साथ की गयी दूसरी फ़िल्म, द साँग ऑफ़ स्कॉर्पियन्स) की गहराई में पहुँचते गये, जो चीज़ मुझे बार-बार समझ में आती गयी, वह यह थी कि संवादों को लेकर उसका उद्यम शायद ही कभी एक विचार या भाव को सम्प्रेषित करता था।

ज़्यादातर तो, उसकी कोशिश शब्दों को तोड़कर उनके बुनियादी तत्त्वों तक पहुँचने की, अक्षरों, स्वरों और व्यंजनों को चखने और सुनने की होती थी। इसके बाद वह कुछ ख़ास व्यंजनों की ताल पर ज़ोर देने का चुनाव करता था या किन्हीं ख़ास स्वरों को खींचते हुए एक पैटर्न रच लेता था। इन ध्वनियों को क्रियाशील करते हुए उम्मीद यह होती थी कि यह क्रियाशीलता उसके समूचे अस्तित्व और जगत को भी क्रियाशील कर देगी : हो सकता है कोई भाव उत्पन्न हो जाए या तेज़ी-से क्षीण हो जाए या अपूर्वदृष्ट को किसी दूसरे भाव की दिशा में धकेल दे, कोई नवजात संवेग किसी अव्याख्येय स्थिति को किसी वस्तु, रंग आकाश के सन्दर्भ में अनुप्राणित कर दे। ध्वनियों से उत्प्रेरित नये सम्बन्धों के साथ हर चीज़ ऐन्द्रिय और संवेदनक्षम हो उठती है।

बेशक, इस तरह की क्रीड़ा अक्सर हास्यास्पद क़िस्म की दुर्घटना का कारण भी बन सकती है। कुछ दिन पहले, हम अटारी की एक व्यस्त सड़क पर आभूषणों की एक छोटी-सी दूकान में शूट

कर रहे थे। उम्बर सिंह और उसकी बीवी को उनकी बहू के साथ आभूषण ख़रीदने वहाँ लाया गया था। उम्बर सिंह की बीवी मेहर सोने का एक नाज़ुक हार चुनती है, लेकिन उम्बर की निगाहें एक वज़नी क़िस्म के आभूषण पर हैं। वह उसे उठाता है और कहता है, 'अए ले लेहन्दे आ (हम यह लेंगे)।'

इरफ़ान इस वाक्य की रिहर्सल कई दिनों से करता रहा था। उसके साथ के अभिनेता इस बात के प्रति जागरूक थे कि चूँकि वह पंजाबी नहीं समझता था, इसलिए वह उस वाक्य को इस तरह सीख रहा था जैसे वह किसी गाने का सांगीतिक टुकड़ा हो। लेकिन 'अ' और 'ल' का प्रवाह उसकी ज़ुबान में गाँठ लगाता और उमेठता प्रतीत होता था। इस समय उसके मुँह से जो निकला, वह कुछ इस तरह ध्वनित हो रहा था, 'अए-ले-ले-न-दा' जो बिथोविन की सिम्फ़ॅनी का कोई टुकड़ा भी हो सकता था।

मैं अगली दूकान में कानों में इयरफ़ोन लगाये उस दृश्य को सुन और देख रहा था। उसने उस वाक्य को जिस तरह लय-ताल में बाँध दिया था, उसे मैंने सुना और तुरन्त अपने मुँह पर हाथ रखकर खुद को हँसने से रोका। आभूषण की दूकान में टिस्का और रसिका एक दूसरे की बाँहों में ढेर हो गयीं और हँसते-हँसते उस लाइन को दोहराने लगीं।

मैं हँसता हुआ फुर्ती-से आभूषणों की दूकान में पहुँचा। इरफ़ान एक हाथ टिस्का के कन्धे पर रखकर सन्तुलन बनाता हुआ झुका था। लेकिन हँसते हुए भी उसकी चमकती भूरी आँखें हमें देख रही थीं। वह आवाज़ की ताक़त से प्रसन्न और उत्तेजित था और इस बात से प्रभावित लग रहा था कि इस तरह की एक अर्थहीन आवाज़ भी हम पर इतना सशक्त प्रभाव डाल सकी थी।

हर बार जब भी हमने दुबारा शॉट लेने की कोशिश की, तीनों अभिनेता चीख़ने और हँसने लगते थे और खुद को नियन्त्रित कर पाने में विफल एक दूसरे को चुप कराने लगते थे।

बाद में, उस रात, इरफ़ान वेट्रेस के साथ मेरे कमरे के दरवाज़े पर नमूदार हुआ। वेट्रेस बियर और व्हिस्की की बोतलें और तमाम तरह के खाने के सामान लिये हुए थी। कुछ मिनिट बाद, बाक़ी अभिनेता और उनके पीछे क्रू के सदस्य भी आ गये। ज़्यादातर लोग दो-एक पैग पीने के बाद चले गये क्योंकि हमें अगले दिन तड़के सुबह शुरुआत करनी थी। टिस्का और तिलोत्तमा रसिका के साथ उसके कमरे में चली गयीं, जो मेरे कमरे के ही सामने था, और कुछ पल बाद हमने सुना कि तीनों स्त्रियाँ बहुत ज़ोर-ज़ोर से हँस रही थीं। इरफ़ान और मैं उनके कमरे में गये और हमने देखा कि टिस्का और रसिका उस वाक्य को बोलने की इरफ़ान की नक़ल उतारकर तिलोत्तमा को सुना रही थीं।

इरफ़ान ने पल भर उन्हें सुना और फिर उनसे कहा कि वे लोग उसे बिल्कुल ग़लत ढँग से पेश कर रही हैं। उसने अपनी व्हिस्की की बोतल मुझे थमायी और उम्बर की मुद्रा बना ली। वह व्हिस्की की आधी बोतल ख़ाली कर चुका था और उसके पैर लड़खड़ा रहे थे। 'मैं अब जानता हूँ कि इसे कैसे कहना चाहिए,' उसने कहा।

उसने उन लोगों की ओर संजीदगी के साथ देखा और आगे की ओर उसी तरह झुका जैसे वह आभूषण की दूकान में हार उठाने के लिए झुका था और फिर हार उठाने का अभिनय किया। 'अए-ले-ले-न-दा,' उसने उम्बर सिंह के पूरे आत्मविश्वास के साथ कहा।

रसिका ने अपनी रजाई की किनार को अपने मुँह में ठूँस रखा था और वह हँसी से कराहती हुई अपने बिस्तर पर लोट-पोट हो रही थी। तिलोत्तमा इतना ज़्यादा हँस चुकी थी कि उसे हिचकियाँ आने लगी थीं। टिस्का, हमेशा की तरह बेक़ाबू और इरफ़ान के साथ काम करने के अपने पिछले क़िस्सों के साथ इरफ़ान को लगातार उसकी पिछली ग़लतियों की, ख़ासतौर से उसे (टिस्का को) को पटाने (लर्ट करने) की उसकी दर्दनाक कोशिशों की याद दिलाये जा रही थी। इरफ़ान ने उसकी ओर इन्कार के भाव से अपने हाथ हिलाये, लेकिन वह वास्तव में उसका विरोध नहीं कर सका। वह अपनी कमर पर हाथ रखे कमरे में लड़खड़ाता घूम रहा था।

बहुत बाद में, रसिका ने हर किसी को अपने कमरे से बाहर धकियाने की कोशिश की क्योंकि बुरी तरह हँसते-हँसते उसका पेट दुखने लगा था और उसे सुबह होते ही मेक-अप के लिए तैयार होना था। लेकिन इरफ़ान को बाहर निकालना सम्भव नहीं था। लगता था जैसे उसे चिढ़ाया जाना अच्छा लग रहा था और जब उसे उसकी किसी गम्भीर भूल के लिए निशाना बनाया जाता था, तो वह किसी तरह का अहंकार प्रदर्शित नहीं करता था।

वह टिस्का की बग़ल में बैठ गया था और उससे लड़कियों को सफलतापूर्वक पटाने के गुर बताने का आग्रह कर रहा था। टिस्का उससे कह रही थी कि वह (इरफ़ान) पटाने के मामले में निकम्मा है। उसका कहना था कि वह इश्क़बाज़ होने की बजाय शरारती ज़्यादा है। और वह शिष्टाचार की मर्यादा का उल्लंघन कभी नहीं करता।

इरफ़ान अपनी पटाने की दक्षता को लेकर किये गये टिस्का के विश्लेषण से निराश लगता था और उसपर बहस करना चाहता था लेकिन टिस्का अब तक खुद को अपनी रजाई में बन्द कर चुकी थी और सोने की कोशिश कर रही थी।

अन्ततः मैंने इरफ़ान की बाँह पकड़ी और आधा उसको उठाये हुए और आधा घसीटते हुए उसके कमरे तक ले गया। गलियारे में वह टिस्का के कमरे की ओर अपना सिर मोड़कर चिल्ला रहा था : 'मैं बहुत बड़ा इश्क़बाज़ हूँ!'

मुझे इरफ़ान का यह कौतुक भविष्य में और भी देखने मिलना था, शरीर या आवाज़ द्वारा अप्रत्याशित ढँग से ली जा सकने वाली गुस्ताख़ आज़ादी के प्रति उसकी सहज स्वीकृति और सम्मान। वह यह देखने के लिए उत्सुक हुआ करता था कि इस तरह के संयोग हमारे साथ क्या करते हैं। वे हमारे बारे में, दूसरों के साथ और हमारी दुनिया के साथ हमारे रिश्तों के बारे में, क्या उजागर करते

हैं?

और फ़िल्म के क़िस्से की सारी हिंसा के भीतर इस तरह के क्षण एक अपरिभाषेय दीप्ति पैदा करते रहते थे। वे फ़िल्म के स्नायुओं में उत्कण्ठा और ललक की सुखद कामयाबी का अहसास जगाते थे। इससे फ़िल्म की अशान्त कहानी को अपना मध्यमार्ग - एक अप्रत्याशित कोमलता - हासिल करने में मदद मिलती थी।

निर्माता के साथ अपनी तकरार वाले दिन पर वापस लौटते हैं। उस शाम हमने उस दृश्य को शूट किया था जिसमें उम्बर सिंह अपनी तीनों बेटियों को क्रूरतापूर्वक पीटता है, क्योंकि उसका विश्वास है कि वे ही उसके बेटे कँवर की गम्भीर दुर्घटना के लिए ज़िम्मेदार हैं। इस समय कँवर बारह बरस का है। सिनेमेटोग्राफ़र के साथ दृश्य के पहले शॉट को जमाते हुए मैं जब भी मुड़कर देखता था, हर बार इरफ़ान को अपनी कोहनी के क़रीब पाता था। वह उस दृश्य की हिंसा से व्यथित था और उस संयोजन को जो हमने उस शॉट के लिए तैयार किया था, प्रकाश और छायाओं को तथा कैमरे तथा फ़्रेम में मौजूद चरित्रों के चलन को बारीकी-से जाँच-परख रहा था। वह कोई सुराग़, दृश्य तक पहुँचने का कोई तरीक़ा तलाश रहा था।

'जनाब,' मैंने कहा, 'हम हिंसा का सिर्फ़ संकेत देने जा रहे हैं। उसे वास्तव में दिखाने नहीं जा रहे हैं।'

'जब वह उन्हें मारता है, क्या वह ख़ुद के क़ाबू से भी बाहर नहीं हो जाता है? या फिर वह ज़्यादा सोचा-समझा है?'

'जनाब, मुझे तमाचा मारिए। ज़ोर-से तमाचा मारिए,' मैंने कहा।

वह चकित होकर मुझे देखने लगा, उसकी निगाहें मुझपर टिकी हुई थीं।

'वह क्या चीज़ होगी जो आपको प्रेरित करेगी कि आप मुझे तमाचा मारें?'

वह मुझे देखता रहा और फिर मुस्कराने लगा।

'प्रेम?' मैंने अटकल लगायी।

उसने स्वीकृति के भाव से सिर हिलाया। वह मुड़ा, लगा जैसे वह हिचकिचा रहा था और फिर उसने अपनी नज़रें फिर से मुझपर टिका दीं। मैंने उसे सवालिया निगाहों से देखा। वह क़रीब आया और मेरे कानों में फुसफुसाया, 'अनूप साब, सब ठीक?'

उसने मुझे औचक पकड़ लिया था। मैं समझता था कि मैं ठीक था और निर्माता के साथ अपनी तकरार के बाद अपने दुःख को छिपाने में कामयाब रहा था। लेकिन उसने निश्चय ही मेरे अतिरिक्त उत्साह के पीछे कहीं छुपी हुई उदासी को सुन लिया था।

'सब ठीक, जनाब,' मैंने कहा।

उसने अविश्वास से अपनी भँवें उठायीं, लेकिन मुझपर और ज़ोर नहीं डाला।

हमने फुर्ती-से शॉट के लिए अभिनय की रूपरेखा तैयार की, 'शान्त' रहने के लिए आवाज़ लगायी और कैमरा घूमने लगा। टेक के दौरान जब मैंने सुना की इरफ़ान सबसे बड़ी बेटी को अपने पास बुला रहा था, तो मुझे लगा जैसे उसने हमारी मनुष्यता के सबसे गहरे, छिपे हुए कुओं को खोल दिया है।

उसकी पहली पुकार आदेशात्मक है। आवाज़ उखड़ी हुई है, जो बेटी को उसकी स्वाधीनता की ज़रा-सी भी गुंजाइश नहीं छोड़ती। वह उसकी सम्पत्ति है और वह उसके साथ जैसा चाहेगा करेगा। अगले ही क्षण उसकी आवाज़ फुसफुसाहट में बदल जाती है। यह पुकार लगभग अनुनय-विनय जैसी है। अब वह उससे आने का अनुरोध कर रहा है। वह चाहता है कि वह आने का विकल्प चुने कुछ इस तरह मानो उसका वह चुनाव पिता की क्रुद्ध निगाह के समक्ष उसको अपनी भंगुर मनुष्यता की रक्षा करने में मदद कर सकता है। और यह, शायद उसे अपनी क्रूरता को कम करने को राज़ी कर सकती है।

लेकिन, जब वह उससे डरकर भाग जाती है, तो उसका क्रोध भड़क उठता है और दृश्य एक ऐसा उग्र रूप ले लेता है जिसकी मैंने कल्पना नहीं की थी। और तब भी, उम्बर की क्रूरता समझ में आने लायक़ बनी रहती है। इरफ़ान ने अपनी श्वास के प्रवाह पर बल देकर और इस तरह व्यथा का एक गहरा अहसास पैदा कर, और इसी के साथ संवाद को एक कठोर आवाज़ में बदलने के लिए कुछ ख़ास शब्दों को कुचलते हुए या दूसरे शब्दों के अन्तराल और उतार-चढ़ाव को बढ़ाते हुए, यह कर दिखाया था।

शॉट के अन्त में, मैंने चुपचाप अपने हाथ से उसके कन्धों को घेर लिया। उसका पूरा शरीर काँप रहा था। वह कुछ देर के लिए अकेला होने एक ओर चला गया और जब मैं टिस्का चोपड़ा से बात कर रहा था, तब लौट आया। अगले शॉट में उसे तेज़ी-से कमरे में आकर उम्बर को अपनी बेटियों से दूर धकेलना था। इरफ़ान ने कहा की उस दृश्य की हिंसा ने उसकी शिराओं में आग भड़का दी थी, उसे बहुत चिड़चिड़ा बना दिया था, और उसे चिन्ता हो रही थी कि जब टिस्का कमरे में आकर उसे झिंझोड़ेगी, तो पता नहीं वह कैसी प्रतिक्रिया करेगा। उसने कहा कि वह उसे छुए नहीं, बल्कि इसकी बजाय कुछ क़दम दूर से उसे सिर्फ़ चेतावनी दे। मैंने कहा, हम एक टेक आज़माकर देखते हैं कि उसका कैसा नतीजा निकलता है।

उस टेक में, टिस्का सिटकनी लगे दरवाज़े को इतनी ज़ारे से धकेलती हुई कमरे में दाख़िल हुई कि वह इरफ़ान से लगभग भिड़ गयी। उसने झटका खाया और सहज प्रतिक्रिया करते हुए उसे पीछे

धकेल दिया। टिस्का लहरायी और पीछे की ओर लड़खड़ाती हुई अलमारी से टकरायी। अलमारी चरमरायी और वह खुद फ़र्श पर ढेर हो गयी।

इरफ़ान उसे उठाने उसकी ओर दौड़ा। वह शर्मिन्दा था और माफ़ी माँगे जा रहा था। 'मैं ठीक हूँ, मैं ठीक हूँ,' टिस्का उससे कहे जा रही थी। 'हम एक और टेक ले सकते हैं, सर' उसने मुझसे कहा और इरफ़ान की बाँहों में मूर्च्छित हो गयी। इरफ़ान ने उसे झटके-से उठाया और बिस्तर पर ले गया, लेकिन वह लगभग तुरन्त ही फिर-से होश में आ गयी।

उसने ज़ोर देकर कहा कि वह अगले टेक के लिए एकदम दुरुस्त है और हम ज़ल्दी-से शॉट लेने लगे। शॉट के बाद मैं उससे कह रहा था कि उसने कितने अच्छे-से किया है और जब मैंने उसकी आँखों में आँसू देखे तो उससे कहा कि वह जाकर आराम करे। तब जाकर उसने स्वीकार किया कि उसकी पीठ में बुरी तरह चोट लग गयी थी और बहुत तेज़ दर्द हो रहा था। उसके विरोध के बावजूद, हम उसे उठाकर कार में ले गये और अस्पताल की ओर भागे।

उसकी पीठ को कोई स्थायी क्षति नहीं पहुँची थी, हालाँकि उसे भयानक खरोंचें आयी थीं और उसकी मांसपेशियों को गहरी चोट पहुँची थी। उसे कम-से-कम दो दिन तक बहुत तेज़ दर्द रहा। हमने सुनिश्चित किया कि वह नर्स के निरीक्षण में रहे और उसे दर्दनिवारक दवाएँ दी जाती रहें।

उस दिन देर रात को मेरे दरवाज़े पर दस्तक हुई। इरफ़ान था।

'मैंने देखा कि आपकी बत्तियाँ जल रही थीं। मुझे भी नींद नहीं आ रही। चलो साथ में एक टोना करते हैं प्रोड्यूसर पे,' उसने हँसते हुए कहा।

'अरे, राकेश जी ने आपसे कहा होगा? उन्हें नहीं कहना चाहिए था।' हालाँकि मैं इस बात से काफ़ी द्रवित हुआ कि इरफ़ान मेरे हालचाल जानने आया था।

वह अपने हाथों में अपना बेलनाकार, खूबसूरत हर्मन कार्डोन पोर्टेबल ब्ल्यूटूथ स्पीकर लिये हुए था। उसने मेरे कमरे में दाख़िल होकर स्पीकर का प्लग लगा दिया। वह उसे अपने मोबाइल के ब्ल्यूटूथ से कनेक्ट करने बैठा था कि तभी वह मेरी ओर मुड़ा।

'आपका लैपटॉप कहाँ है? उसपर राम और श्याम चलाइए। उसमें कुछ है जो मैं देखना चाहता हूँ।'

इरफ़ान खिड़की पर जा बैठा और अपनी सिगरेट भाँजने लगा। कोहरे और ठण्ड की धूल-भरी हवा ने तेज़ी-से कमरे को सर्द कर दिया। मैंने स्वेटर डाला और उसकी ओर एक शॉल फेंका और केतली में चाय के लिए पानी उबलने रख दिया।

हमने फ़िल्म को उस जगह तक फ़ास्ट-फ़ार्वर्ड किया जहाँ श्याम (दिलीप कुमार) का फ़िल्म में

प्रवेश होता है। हमने उसके और मुमताज़ के बीच की शरारतें देखीं। जल्द ही वह अवसर आया जब हम हँसते, मज़े लेते टीका-टिप्पणियाँ कर रहे थे।

'इसे क्या कहते हैं अंग्रेज़ी में?' इरफ़ान ने मुझे पुकारते हुए पूछा।

हम एक-दूसरे से बमुश्किल एक फुट की दूरी पर बैठे हुए थे, लेकिन उस दृश्य की दीवानगी से भरी प्रफुल्लता हमें चिल्लाने पर मज़बूर कर रही थी।

दिलीप कुमार जो ट्रैक्टर चला रहे हैं उसकी आवाज़ की नक़ल उतारते, उसे मन्त्र की तरह बुदबुदाते हुए मुमताज़ की ओर भागते हैं जो घबराकर खेत में भाग जाती हैं। 'ब-बदबदबदबद-ट्रर्र-ट्रर्र!'

'आपका मतलब है, ओनोमेटोपिआ (ध्वनि का अनुकरण)?'

'हाँ वही! पूरे सीन का मज़ा वही है।'

और फिर जब मुमताज़ रोने-चिल्लाने लगती हैं, तो दिलीप कुमार तुरन्त धीरे-से उनके हंगामे की नक़ल करने लगते हैं।

'पूरे सीन में सिर्फ़ आवाज़ का खेल है, जनाब!' मैंने कहा।

'पूरा रिश्ता, अनूप साब, लड़की के मन में क्या है, दिलीप कुमार क्या सोचता है उसके बारे में, कैरक्टर की फ़ितरत क्या है, सब एक सीन में!'

'आपको गंगा और जमुना की याद है? उस फ़िल्म में जब दिलीप साब वैजयन्तीमाला को पुकारते हैं, ''अरी ओ धन्नो!'' - तो उसमें समूची सभ्यता को पुकारा गया होता है। पालन-पोषण करती नदी, खेतों की महक, लम्बी यात्रा करती पुकार और यह आत्मविश्वास कि हमेशा जवाब आता है...'

'सही, सही।'

हमने अपने चाय के कपों से घूँट लिये और कुछ देर ख़ामोश बने रहे।

'बदबदबदबद...' वह अचानक चिल्लाया। 'टर्र-टर्र।' हम फिर-से हँसने लगे।

'अब नुसरत साब की आवाज़ को सुनते हैं।'

'जनाब अब आपको थोड़ी देर सोने की कोशिश करनी चाहिए। अगले चार घण्टे बाद हमें फिर-से शूटिंग करनी है।'

'आपको सोना है?'

'नहीं, मुझे नहीं लगता।'

उसने मेरी ओर देखा।

'अनूप साब प्रोड्यूसर तो फ़ायनली फ़िल्म बेचेगा। लेकिन जो लोग हैं, वो तो आपकी फ़िल्म देखेंगे। आप बस अपनी फ़िल्म बनाइए।'

मैंने उसकी ओर देखकर सिर हिलाया। नुसर्रत साब की आवाज़ कमरे में गूँजने लगी।

'एक और चाय पिलाइए। 'वह एक और सिगरेट भाँजने लगा।

इरफ़ान नुसरत के एक-के-बाद-एक गाने बजाता हुआ मेरे साथ बैठा रहा। जब काला आकाश निरन्तर बैंगनी होता गया और परिन्दों की पुकार सुनायी देने लगी, तब वह जाने के लिए उठा। वह दरवाज़े पर मुड़ा और मुस्कराया। वह देख सकता था कि मेरे सपने में मेरी आस्था वापस लौट आयी थी और मैं उस उत्पीड़न का सामना करने की पर्याप्त शक्ति अनुभव कर रहा था जो, जैसाकि हम दोनों जानते थे, जारी रहने वाला था।

'जनाब, अपना स्पीकर मत भूलिए,' मैंने कहा।

'आप यहीं रखिए। अपना फ़ोन दीजिए।'

उसने मेरे फ़ोन के ब्ल्यूटूथ को स्पीकर से कनेक्ट कर दिया। उसने अपना हाथ उठाकर सलाम किया और गलियारे में टहलता हुआ अपने कमरे की ओर चला गया।

उसने वह स्पीकर मुझे कभी वापस नहीं करने दिया।

शूटिंग के लिए तैयार होने से पहले मैं कुछ मिनिट के लिए बिस्तर पर लेटा सोचने लगा कि शायद नुसरत के गाने की ही तरह, इरफ़ान द्वारा संवाद गाये जाने को भी एक तरह से उसी रूप में देखना चाहिए जिसे सूफ़ी लोग सम कहते हैं। सुनना, एकाग्र होना, और आवाज़ को गुंजाइश देना कि वह आपको जहाँ चाहे ले जाए।

जब सुबह इरफ़ान मुझे लोकेशन पर मिला, तो मैंने इस बात का ज़िक्र उससे किया। वह वहाँ ज़ल्दी पहुँच गया था और हवेली की छत पर खड़ा पतंग उड़ा रहा था।

'सम?'

'कल जब मैंने आपको अकेले में गाते और किसी पागल की तरह पेड़ों के उस झुरमुट के इर्दगिर्द घूमते देखा था, तो आप में निश्चय ही दरवेशनुमा कुछ था,' मैंने उसे चिढ़ाया।

वह हँसा। फिर पतंग की डोर बढ़ाते हुए वह मेरी बात के बारे में कुछ सोचता-सा लगा।

'मेरे लिए', उसने कहा, 'कुछ-कुछ हैमलेट के ''होना, या न होना'' जैसा है। एक स्वगत कथन। हम ज़्यादा-से-ज़्यादा सवाल पूछने की कोशिश करते हैं...'

वह रुका। हमें अपने ऊपर पतंग की फड़फड़ाहट सुनायी दे रही थी। और तभी उसने इन्कार में अपना सिर हिलाया और धीरे-से हँसते हुए बोला, 'और साला कभी भी सीधा जवाब नहीं मिलता है!'

उसकी इस बात ने मुझे उस एक और दृश्य के बारे में सोचने को प्रेरित किया जिसे हमने कुछ दिन पहले शूट किया था, जिसमें वह रात के समय छत पर कँवर से बात करता है। इरफ़ान दो विपरीत आवाज़ों के बीच आवाजाही करता है : एक, नयी बहू के साथ कँवर के रिश्ते के बारे में उम्बर की बेचैनी, और उसी के साथ-साथ लयों की वह उत्सवी गतिशीलता जिसमें अपने पुत्र के प्रति उसका गर्व निहित है। उसका गम्भीर परामर्श धीरे-धीरे अपने बेटे के प्रति उसके आनन्द और गर्व के श्रव्य प्रवाह का मार्ग प्रशस्त करता है।

अस्तित्व की दो विपरीत अवस्थाओं को सँभाले रखने और प्रत्येक को समान उत्ताप के साथ अभिव्यक्त होने देने की उस क़ाबिलियत ने मुझे जीवन जीने के इरफ़ान के निर्भीक और ऐन्द्रिय ढँग को समझने में मदद दी। यह बात तब मैंने इरफ़ान से नहीं कही थी, लेकिन मेरा मानना है कि शब्दों और उनकी ध्वनियों की इस गहरी जाँच-पड़ताल ने, शब्दों को एक लय की ओर धकेलने की इस कोशिश ने, इरफ़ान के भीतर एक सृजनात्मक अन्तरावलोकन की शुरुआत की थी। और उसे सुनना, दर्शकों में भी वैसे ही अन्तरावलोकन को उकसाता है। इरफ़ान को सुनते हुए, वह चरित्र हमारे भीतर उभरने लगता है जिसको वह अपने अभिनय से उद्‌बुद्ध कर रहा होता है। चरित्र की आत्मा की सूक्ष्मताओं पर इतना प्रांजल मनन कभी-कभी अभिनेता के मन में और साथ ही हमारे मन में भी एक डरावना सवाल पैदा कर सकता है : और मैं? मैं क्या हूँ?

'जानते हैं, अनूप साब,' इरफ़ान ने पतंग को उत्तरोत्तर ऊपर जाने देते हुए, अचानक अपनी बात आगे बढ़ाते हुए कहा, 'कहा जाता है कि सम में अगर आप एक भी ग़लत मुद्रा इख़्तियार करते हैं, अगर एक भी स्वर ग़लत गाते हैं, तो आप न सिर्फ़ अपने शरीर को क्षति पहुँचा सकते हैं, बल्कि इस विश्व की उस बड़ी शक्ति के साथ का अपना रिश्ता भी तोड़ सकते हैं जिस तक पहुँचने की आप कोशिश कर रहे थे।'

'ख़ैर, मैं इतना क्रूर नहीं हूँ। मैं आपको दूसरा टेक देने के लिए हमेशा तैयार हूँ!'

उसने मेरी ओर देखा। उसकी आँखों में सलवटें उभर आयी थीं। 'लेकिन जो यक़ीन या धोखा हम अपने काम में लाते हैं न, मैं जानता हूँ, मैंने देखा है, वह सीधे उस चीज़ में बदल जाता है जो आपकी ज़िन्दगी को खूबसूरत बनाता है या फिर हमें राक्षसों में बदल देता है।'

उस शाम, जब हमने उस दृश्य की शूटिंग शुरू की जिसमें उम्बर, अपने बेटे कँवर की बीवी, नीली के साथ बलात्कार करने की कोशिश करता है, तो इरफ़ान ने बिना किसी अनिश्चय के खुद

को अपने अन्दर के राक्षसीपन के लिए उन्मुक्त कर दिया था।

जिस चरित्र, उम्बर, का अभिनय वह कर रहा है उसे किसी भी क़ीमत पर एक बेटा चाहिए, और उसे अहसास हो जाता है कि यह क़ीमत न सिर्फ़ उस स्त्री का अपवित्रीकरण है जिसे उसका बेटा प्यार करता है, वह न सिर्फ़ उसका अपना अपकर्ष है, बल्कि, शायद, अपने बेटे के प्रेम की क्षति है, जो उसके लिए सबसे ज़्यादा दुखदायी बात है।

इस दृश्य की शूटिंग के पहले मैंने इरफ़ान को यह बता दिया था कि जहाँ उम्बर ने यह निश्चय कर लिया है कि वह नीली के साथ बलात् संसर्ग करेगा, वहीं उतना ही उसका निश्चय यह भी था कि वह उसे चोट नहीं पहुँचाएगा या डराएगा नहीं। बावजूद इसके कि यह बात अपने में विरोधाभासी और भ्रामक थी, इरफ़ान उसे तुरन्त समझ गया था।

एकबार फिर, उसे उस दृश्य में अभिनय करते हुए देखकर मुझे लगा था कि इरफ़ान ने अपनी आवाज़ के स्वरमान में उतार-चढ़ाव और बदलाव लाते हुए अपने शरीर को परिचालित किया था।

नीली हवेली से बाहर भागने की कोशिश कर रही है। जब इरफ़ान उस तक पहुँचता है, तो वह उसके कन्धों को पकड़ता है और उसे तर्क देने की कोशिश करता है। उसकी आवाज़ में दृढ़ता किन्तु सहिष्णुता है, वह लगभग सहानुभूतिशील है। और फिर, अपने सिर के हल्के-से मोड़ से वह जता देता है कि उसे अपने शरीर से सटे नीली के शरीर की धड़कन का अहसास है। अब वह जिस तरह से उसका नाम लेता है वह अलग है और हम उसके चेहरे पर एक विचार की, एक संवेग की, एक चाहना की कौंध देखते हैं। उसका हाथ, उसकी खुली हथेली, नीली के नितम्बों पर फिसलती है और वह उसे अपने शरीर से चिपका लेता है। वह एकबार फिर उसे उसका नाम लेकर पुकारता है। इस बार उसकी आवाज़ अटकल से, उम्मीद से स्फीत है। उसमें नीली की आकांक्षा है, लेकिन और भी कुछ है। उसमें एक सम्भावना का संकेत है, यह अहसास कि अन्ततः उसकी गहनतम इच्छा पूरी हो सकती है - एक पुत्र का पिता होने की आकांक्षा। एक वास्तविक पुत्र।

वे ज़मीन पर गिर जाते हैं। इरफ़ान भरसक हल्के-से उसे दबाता है। वह उसे कुछ इस तरह अपनी कैफ़ियत देने की कोशिश करता है जैसे वह किसी बच्ची को कैफ़ियत दे रहा हो और पल भर के लिए उसकी आवाज़ किसी लोरी की तरह सुनायी देती है। इसीके नतीजे में वह अपने हाथ से उसका माथा सहलाता है। उस परिस्थिति में वह कमाल की बेमेल भंगिमा है, एक ऐसे समय में जब वह उससे बलात् संसर्ग करने की कोशिश कर रहा है, उसे ढाढस बँधाने और शान्त करने की एक भयानक कोशिश!

जब कँवर अचानक प्रकट हो जाता है, तो इरफ़ान जो शर्मिन्दगी महसूस करता है, उसे उसकी आवाज़ रोक नहीं पाती। लेकिन क्योंकि उसे यक़ीन है कि यही उसके पिता बनने का क्षण है, वह अपने

आत्मसंयम के ख़िलाफ़ संघर्ष करता है और उस स्नेहिल, कठोर और अमोघ लहज़े को वापस हासिल कर लेता है जिसका इस्तेमाल वह कँवर पर हमेशा करता रहा है। तब भी, उस लहज़े को एक पल से ज़्यादा देर तक क़ायम नहीं रख पाता। बावजूद इसके कि वह कँवर से चले जाने को कहता है, उसकी आवाज़ टूट जाती है। वह मुड़ता है और नीली के सीने पर सिर रखकर रोने लगता है। लेकिन, तुरन्त ही वह कँवर पर फिर-से गुर्राने लगता है।

ये भावनात्मक रूपान्तरण कई हैं, और एक भाव से दूसरे भाव पर जाने की क्रिया बहुत क्षिप्र है। लगता है जैसे इरफ़ान ने आवाज़ और शरीर के बीच परस्पर आवाजाही की क़ाबिलियत हासिल कर ली है। मुझे लगा था जैसे उसने कई स्तरों पर सहज ढँग से, लेकिन एकाग्र ढँग से अकेले में की गयी रिहर्सलों और सैट पर भी, इस बात को गहराई से समझ लिया था कि किसी ख़ास दृश्य में उसके लिए उत्प्रेरक भंगिमा क्या होगी - आवाज़ या आंगिक अभिनय।

जब मैंने इरफ़ान से उसके आंगिक अभिनय और आवाज़ की इस आवाजाही के बारे में कहा, तो उसने कहा था कि, 'यह उस पत्ते की तरह है जो पेड़ से गिरता है। उसे ठीक पेड़ के नीचे गिरना चाहिए, लेकिन थोड़ी-सी भी हवा उसे उस जगह से बहुत दूर ले जा सकती है जहाँ हम सोचते हैं कि उसे होना चाहिए।'

'मुझे आपकी बात ठीक-से समझ में नहीं आयी।'

'हम सभी सोचते हैं कि दृश्य में इस मुक़ाम पर और उस मुक़ाम पर क्या-क्या कर सकते हैं, और पूर्वाभ्यास उन मुकामों को स्पष्ट करने में हमारी मदद करते हैं। लेकिन जब आप वास्तव में दृश्य में होते हैं, तो आपके साथी कलाकार की स्थिति में मामूली-सा बदलाव भी आपकी सारी तैयारियों को चौपट कर देता है। अचानक कोई और ही चीज़ आपसे बात करने लगती है। यह कुछ ऐसा है जैसे आपके सामने किसी दानव या देव ने खुद को प्रकट कर दिया हो।'

मैं कौतूहल से भरा हुआ था। मैंने भौंह उठाकर उसकी ओर देखा। 'दानव या देव?'

'अब आपसे दृश्य या अभिनेता बात नहीं कर रहा होता है, यह हमारे भीतर छुपी हुई कोई चीज़ होती है, विश्व के भीतर छिपी हुई। इसका ताल्लुक इस बात से होता है कि जीवन और मृत्यु को हम वास्तव में क्या क्या मानते हैं।'

'यह चीज़ भयानक हो सकती है।'

'या इसका उलटा। आपने तिलोत्तमा के साथ दुविधा की स्थिति देखी होगी, उसकी आँखों में खोजने का भाव। वह महज़ अभिनय नहीं करती। आप पाते हैं कि वह अपनी हरेक हरक़त को लेकर असहज होती है। यही चीज़ उसे सशक्त अभिनेत्री बनाती है। उसके मामले में भाव महज़ प्रदत्त नहीं होता। आप भाव को खुद को हासिल करता हुआ देखते हैं। आप उसमें यह देखते हैं। यह खुलापन,

अनूप साब, जीवन का खुलापन है। आप इसे अभिनय में नहीं उतार सकते। और यह ऐसी चीज़ भी नहीं है जो आपको पैदा होने के साथ मिल जाती हो।'

अब मैं सहमति की मुद्रा में सिर हिला रहा था। 'आपने इसे जिया है। हर क्षण। यह चीज़ साहस की माँग करती है।'

'उसमें साहस है।'

तिलोत्तमा के बारे में इरफ़ान जो कुछ कह रहा था, उससे मुझे आश्चर्य नहीं था। जिस चीज़ ने मुझे छू लिया था वह उसका (इरफ़ान का) गहरा चौकन्नापन था, युवा अभिनेता के एक-एक चारित्रिक लक्षण पर उसकी गहरी नज़र और उसे सीखने तथा स्वयं अपने आचरण में उसे जीवन्त ढँग से ढाल लेने की काबिलियत।

कुछ गिने-चुने मामलों को छोड़ दिया जाए तो, इरफ़ान शूट से पहले पूरी तरह सहज प्रतीत होता था। यह समझने में मुझे कुछ वक़्त लगा कि उसकी यह सहजता हमेशा अच्छी तरह तैयार होने से आती थी। वह हमेशा रिहर्सल करता रहता था, उस वक़्त भी जब वह कुछ भी नहीं करता लगता था।

हो सकता है कि अपना मेक-अप करा चुकने के बाद या शूटिंग के अन्तराल में पंजाब के हरियाले लैण्डस्केप में पतंग उड़ाने के बाद, वह चाय पी रहा हो, लेकिन मैं दूर से भी उसके हाथों के उठने-गिरने से, उसकी मुद्रा में आये घुमाव या ठहराव से, यह अनुमान लगा सकता था कि वह बहुत धीमी आवाज़ में कोई संवाद बुदबुदा रहा होता था।

कभी-कभी मैं उसे महज़ गाते हुए सुनने का आनन्द लेने उसके पास पहुँच जाता था। ऐसे भी वक़्त आते थे जब संवाद की ध्वनि के साथ उसकी क्रीड़ा मुझे कैमरे की रफ़्तार पर पुनर्विचार करने के लिए या दृश्य की लय को सम्पादित करने के लिए प्रेरित करती थी। मैं यह देखकर सम्मोहित हो जाता था कि वह किस तरह किसी विचलित कर देने वाले विराम से आरोह-अवरोह का सामना कर सकता था, किसी अप्रत्याशित उच्चारण में विराम को उन्मुक्त कर सकता था, किसी कर्कश व्यंजन पर हमला करते हुए उसे अनुप्राणित कर सकता था, किसी मन्द्र प्रवाह को तीव्र बनाते हुए, उसे सहसा खींचकर किसी लय में बदलते हुए उसे तबाह कर सकता था। यह निश्चय ही वही चीज़ है जिसे हम सिनेमा के सर्वश्रेष्ठ अर्थ में 'मोन्ताज' कहेंगे! उसके गाने में, ध्वनि के सारे तत्त्वों के परिवर्तित होते सम्बन्ध और टकराव उस संगीत के स्तर पर उठ जाते हैं जो, उसका अभिनय देखने के क्षण में, हमें असहाय और वध्य बना देता है और दुनिया तथा हमारे बीच अन्तहीन नये वार्तालापों की शुरुआत कर देता है।

एक वार्तालाप हम दोनों के बीच हमेशा चलता रहता है। कोई शब्द, कोई लहज़ा, कोई विचार,

जो किसी दिन हमारे मन में आया हुआ था, वह हतों बाद किसी भिन्न सन्दर्भ में हमारे पास आसानी-से लौट आ सकता है। और हम फिर शुरू हो जाते हैं!

उसकी मृत्यु के बाद भी, मैं शायद ही कभी यह महसूस करता हूँ कि हमारी बातचीत थम गयी है।

आवाज़ में कोई चीज़ होती है जो, चेहरे से भी ज़्यादा, हमारे साथ बनी रहती है। वह दिमाग़ में बनी रही गयी कोई गुनगुनाहट होती है, कोई गीत होता है। कभी-कभी हवा की गुनगुनाहट, दरवाज़ा बन्द करने से पैदा हुई चररमरर, किसी परिन्दे की पुकार, उसे अनुगूँज के रूप में वापस ले आती है। उसकी आवाज़ सम्भावना के रूप में मेरे आसपास बनी रहती है, कोई भी स्पन्दशील वस्तु फिर-से बातचीत की शुरुआत कर सकती है।

क़िस्सा की शूटिंग किये हमें लगभग दस बरस हो चुके हैं, लेकिन ये पंक्तियाँ लिखते हुए, उसकी वह सौगात, वह हर्मन कॉर्डोन पोर्टेबल ब्ल्यूटूथ स्पीकर, आज भी मेरे घर को नुसरत साब की एक और क़व्वाली से भर देता है।

हमारे 'राष्ट्रपति' यानी जितेन्द्र

पंकज सिंह

सोलह मई को हमारे 'राष्ट्रपति' नहीं रहे।

'राष्ट्रपति' की संज्ञा उन्हें गजानन माधव मुक्तिबोध ने दी थी- सागर विश्वविद्यालय के उन गौरवशाली दिनों में जब 'राष्ट्रपति' यानी जितेन्द्र कुमार ने अशोक वाजपेयी, आग्नेय और अन्य तरुणों को लेकर रचना और संस्कृति कर्म की खूब जीवन्त और सक्रिय दुनिया निर्मित की थी। मुक्तिबोध को वह दुनिया आकर्षित करती थी। आज भी तब के लोक मुक्तिबोध के साथ विमर्श सूचना सहमति-मतभेद से आन्दोलित दिनों और रतजगों की सघन आत्मीयता से भरी स्मृतियों को अनूठी थाती की तरह दुहराते हैं। जितेन्द्र कुमार को मुक्तिबोध द्वारा दी गयी 'राष्ट्रपति' की संज्ञा इतनी प्रचलित हो चली थी कि उनके तब के समकालीन बाद के वर्षों में भी आपस में उनका उल्लेख करते हुए बड़ी सहजता से 'हमारे राष्ट्रपति' कहते रहे।

उस दिन सुबह मेरे सेलफ़ोन की घण्टी पहली बार बजी। निर्मला जी की काँपती सी आवाज़ थी। उन्होंने कहा... 'जितेन्द्र...' और फिर उनकी रुलाई फूट पड़ी। पल-दो पल में ही यह समझ लेना कतई मुश्किल न था कि क्या घटित हुआ है। सहायिका क्रिया बदलते हुए। फ़ैज़ का एक बिम्ब लेकर कहें कि अन्ततः वह आ पहुँचा- 'रोक रखा था जो एक तीर क़ज़ा ने कब से'।

जितेन्द्र अस्वस्थ रहते थे और पिछले दो वर्षों में उनका शरीर तेजी से छीजने के लक्षण दिखा रहा था। लेकिन उनका मनोदैहिक स्वास्थ्य तो तभी से बुरी तरह गड़बड़ था जब कश्मीर में आतंकवादियों ने उनकी अकेली सन्तान की जघन्य हत्या कर डाली थी। (जितेन्द्र और निर्मला जी के अपार स्नेह और आशा-आकांक्षा का केन्द्र 'बेटू' डॉक्टरी की पढ़ाई पूरी करने के बाद सेना के डॉक्टर के तौर पर तैनात हुआ ही था कि आतंकवादियों का निशाना बन गया। वह मेडिकल कॉलेज में ही प्रेम में पड़ा था और जितेन्द्र और निर्मला तब उसके विवाह की योजना बना रहे थे जब वह अकाल मृत्यु का ग्रास बना।)

जितेन्द्र ने 'बेटू' को खोने के बाद अपने जीवन को समेट लिया। यह और बात है कि उनके सच्चे दोस्त और उनकी प्रतिमा, रचना, मानवीयता और खरेपन को सराहनेवाले लोग उनके पास

आत्मीयता और आदर के साथ जाते रहे- इस अहसास के बावजूद कि दुःख के विष ने उनके भीतर जो उत्कट निस्संगता रच डाली है उसे अब हिला-डुला पाना भी बेहद दुश्वारियों भरा काम है- असम्भव की सीमाओं को छूता था।

फिर भी, अक्सर फ़ोन पर कभी-कभार पत्रों के ज़रिए और भोपाल जाकर उनसे मिलते हुए मैं कोशिश करता था कि 'राष्ट्रपति' में अतीत की कुछ प्रतिक्रियाएँ, होने की कोई पुरानी शैली, किसी आदत का कोई टुकड़ा, कोई इच्छा फिर से जाग सके। जब तब मैं सफल भी हुआ, एक हद तक ही। दरअसल उन जैसे सब समझे-बूझे इंसान के लिए मेरी ऐसी तमाम कोशिशों के पीछे काम कर रही मंशा को भाँप लेना कठिन न था। फिर भी उन्हें क्रीड़ा-कौतुक के स्तर पर मेरे इस प्रकार के व्यवहार में कभी-कभी आनन्द आता था और वे अपने पुराने, सुपरिचित औघड़ अन्दाज़ में मुझे गालियाँ देने लगते या फिर 'तुम' से 'आप' वाली शैली में बात करते हुए अलंकृत भाषा के तिरछे वाक्यों से व्यंग्य और उपालम्भ की बौछार कर डालते। और तब मैं कुछ-कुछ आश्वस्त होता कि जितेन्द्र को, शायद प्रयत्न करके, हम फिर से रच लेंगे। निर्मला जी कहतीं, 'आप से मिलकर, बात करके उन्हें खुश होते हुए देखी हूँ। अच्छा लगता है।'

'बेटू' के जाने के बाद भोपाल के आत्म-निर्वासित जीवन में जितेन्द्र ने धीरे-धीरे लिखना छोड़ दिया था। लेकिन क़िताबें, पत्र-पत्रिकाएँ और टेलीविजन की ख़बरों वगैरह से उन्होंने नाता बनाये रखा था। कवि-लेखकों में प्रभात त्रिपाठी और उदयन वाजपेयी उनके मित्र और संगी बने रहे। उदयन डॉक्टर और रचनाकार दोनों होने के कारण देह से लेकर साहित्य-संस्कृति तक के नये पुराने रोगों के बारे में उनकी जिज्ञासाओं का समाधान करते थे, सच तो यह है कि धीर-प्रशान्त निर्मला जी की अद्‌भुत शक्तिमत्ता की छाप के अलावा उनके मन पर जिन मित्र छवियों के अमिट प्रभाव अन्त तक रहे उनमें प्रभात त्रिपाठी की निश्छल संवेदनशीलता और उदयन वाजपेयी के प्रीति-प्रेरित सहकार की चर्चा वे अक्सर बातचीत में करते थे। अशोक वाजपेयी, प्रयाग शुक्ल और अशोक सेक्सरिया जैसे बहुत पुराने मित्रों के हाल-चाल जानने की रुचि उनमें सदा बनी रही और वे इन मित्रों के साथ के प्रसंगों और स्मृतियों की बजाय इनकी उक्तियों को चर्चा में लाकर शायद समय में खोयी, छूटी या धुँधली पड़ती दीप्तियों और ऊष्मा को याद करते थे।

पिछली सदी के आठवें दशक की शुरुआत में जब मैं दिल्ली आया था तो सप्रू हाउस का लान, कैन्टीन और सप्रू हाउस हॉस्टल अकादमिक और बौद्धिक सांस्कृतिक युवाओं के केन्द्र थे। प्रोफेसर विमल प्रसाद जैसे उदार और सदाशय व्यक्ति के अभिभावक होने के कारण सप्रू हाउस हॉस्टल में सौ फूलों को खिलने दो वाला उन्मुक्त और रचनात्मक वातावरण था जहाँ लेखक-रंगकर्मी-चित्रकार-छात्र नेता और विचारशील अकादमिक मिलकर एक दुर्लभ किस्म की दैनन्दिन अन्तर्क्रिया को सम्भव करते थे।

जितेन्द्र से मेरी पहली मुलाक़ात उसी माहौल में हुई थी। पुष्पेश पन्त का 'जवानी के दिन' आ चुका था जिसमें सप्रू हाउस हॉस्टल के नये-पुराने बाशिन्दों को सहज ही चीन्हा जा सकता था। वह अत्यन्त प्रखर युवाओं का एक रोमानी संसार था जिसमें बियर की पार्टियों, संगीत, बहस-मुबाहसों और मन-प्राणों को वात्याचक्र की तरह लपेटे प्रेम था। जितेन्द्र अक्सर प्रयाग शुक्ल, अशोक सेक्सरिया या महेन्द्र भल्ला आदि के साथ मिलते। कभी रास्ते से गुजरते हुए या त्रिवेणी कला संगम के सामने या ऐन बंगाली मार्केट की भीड़ में भारी आवाज़ में एक साथ मोटी-मोटी गालियाँ गूँजतीं और कई परिचित-अपरिचित गर्दनें गालियों की दिशा में मुड़तीं तो वहाँ जितेन्द्र दिखायी पड़ते। पास आने पर कुछ और गालियाँ और फिर बातों का सिलसिला जिसमें रह-रहकर गालियों का विस्फोट होता। कुछ आम किस्म की गालियाँ तो 'राष्ट्रपति' की बातों में इस कदर गुँथी होती थीं कि वे गालियाँ लगती ही नहीं थीं।

शुरू में 'राष्ट्रपति' की गालियाँ मुझे हतप्रभ करती थीं आते जाते लोग हैरत से देखते। लड़कियाँ तेज चाल में चलती हुई 'खिस्-खिस्' की दबी हँसी हँसती निकलतीं। मेरे एतराज़ करने पर 'राष्ट्रपति' कहते 'मैंने तुम्हें रोका है? तुम भी गाली दे सकते हो। लेकिन तुम नहीं देते क्योंकि तुम साले क़स्बे से दिल्ली आकर यहाँ के इस सभ्य समाज के नागरिक बन चुके हों। ये सब 'भोंसड़ी के...' यह सिलसिला खत्म तो नहीं हुआ लेकिन काफ़ी कम तब हो पाया जब मैंने जी कड़ा करके, उनकी वय को भुलाकर, उन पर दो-तीन बार अकस्मात अप्रत्याशित गालियों के प्रक्षेपास्त्रों से हमला किया। लेकिन ऐसा करते हुए मैं सावधान रहा कि आस पास उनके साहित्यिक मित्र या उनका परिवार न हो। ऐसे हमलों के बाद उनकी शैली में अपनी तरह का आपेक्षिक सौजन्य तो आया, पर उन्होंने विचित्र विजेता भाव से मुझे यह अहसास दिलाया कि उनकी खरोचों से दिल्ली वाला रंग-रोगन उतर गया।

सप्रू हाउस की उन दिनों की स्मृतियों में जितेन्द्र की सपरिवार स्मृतियाँ कई हैं। जितेन्द्र का . .... का परिवार ..... दिखता तो मैं लपकता। जब निर्मला जी और बेटू साथ होते तो जितेन्द्र हाड़मांस गला देने वाली गालियों को देर तक मुल्तवी किये रहते। निर्मला जी हमेशा की तरह कम बोलतीं। मुस्कुराती रहतीं। फिर बीच में कोई चुटीली टिप्पणी करतीं।

उन दिनों जितेन्द्र अपने मित्रों के बीच खूब प्रसन्न रहते। चूँकि सागर के दिनों में उन्होंने अभिनय और निर्देशन भी किया था सो उनकी बातचीत में प्रभाव पैदा करनेवाली नाटकीयता भी कम न थी। किसी उत्तेजित या अनुत्तेजित चर्चा में भी उनकी बाहर की ओर उभारवाली बड़ी-बड़ी आँखें सामने वाले पर जा टिकती थीं और अपनी असंदिग्ध बेधकता से उसके सामर्थ्य का इस्तहान लेने लगती थीं। कई बार तो उनकी सूखी उपहास भरी हँसी और अन्तस तक बेधती दृष्टि के आगे सतही बौद्धिकता के प्रपंचयुक्त तर्क स्वतः निरस्त और हतवाक् होने लगते थे।

उन दिनों सप्रू हाउस के लॉन में ऐसे दृश्य आम थे कि ढलती शाम में अज्ञेय, रघुवीर सहाय,

निर्मल वर्मा, नियाज़ हैदर जैसे लोग चर्चा में मशगूल हों। जितेन्द्र और उनके दोस्त भी वहाँ होते थे मगर उत्तरी दीवार की तरफ जिधर एक साथ कई पेड़ और दीवार के साथ लगी झाड़ी एक सुरक्षित सा नीम-अँधेरा इलाका बनाते थे। रसरंजन के लिए उतनी जरा सी आड़ पुरसुकून होती थी। लेकिन जितेन्द्र के लिए वहाँ होना कोई मजबूरी की बात न थी जैसी कि प्रेमी युगलों और दिल्ली विश्वविद्यालय की ओर से आनेवाले युवाओं और अध्यापकों की हुआ करती थीं। खुले में रसरंजन जितेन्द्र और उनके मित्रों के लिए मौज का मामला था, अन्यथा सप्रू हाउस हॉटल में रमेश दीक्षित जैसों की सदा बाहें पसारे मिलने वाली मेहमानवाजी तो मयस्सर थी ही। वैसे उस सारी यारबाशी के बीच गम्भीर विचारों और सरोकारों की अन्तर्धाराएँ निरन्तर मौजूद होती थीं और मार्क्सवादी-लेनिनवादी राजनीति के तहत मेरी सक्रियता को लेकर कई बार तल्ख बहसें भी हुआ करती थीं। जितेन्द्र के सामाजिक, राजनीतिक सरोकारों और साहित्यिक सौन्दर्यबोध की जड़ें कई परतों के नीचे धड़कती उनकी गहरी संवेदनशीलता में थीं इसलिए वे मनुष्य की वास्तविक स्वाधीनता के स्वप्न और संघर्ष के समर्थक थे। उनकी रचना और व्यक्तित्व के बहुत सारे आदिमपन में सहज स्वाधीनता के लिए छटपटाते मनुष्य की असीम और उत्कट आकांक्षाओं की गूँज निरन्तर प्रवाहित होती रही। अशोक वाजपेयी द्वारा सम्पादित 'पहचान' सिरीज में छपे कृशकाय संग्रह 'रतजगा' के बाद जब उनका कविता संग्रह 'आईने में चेहरा' प्रकाशित हुआ तो वे क़िताब लेकर मेरे पास आये और मुझे देने से पहले लिखा 'प्रिय पंकज, हर तरह की प्रतिबद्धता के लिए/जितेन्द्र/१६.१०.८... उस दिन हम दोनों देर तक बैठे और जाने क्यों, बहुत कम बातें कीं। उसी मुलाक़ात में जितेन्द्र ने आपातकाल के कई वर्ष बाद उस दौरान हुई मेरी दुर्दशा के बारे में बात की और बड़े अपनेपन से शिकायत की कि फ़रारी के उन दिनों में मैं उनके पास क्यों नहीं गया था। मेरे पास कोई जवाब नहीं था। वे थोड़ी देर खामोश रहने के बाद बोले, 'जानता तुमने सोचा होगा कि हम दोनों मियाँ-बीवी सरकारी मुलाज़िम हैं, न

नवें दशक में, १९८७ में मेरे लंदन जाने से पहले तक, उनसे मेरी ज़्यादा मुलाक़ातें हुईं। जब भी दिल्ली आना होता, ख़बर करते और फिर हर बार कोई न कोई उपहार लेकर आते। उनके उपहार में अक्सर एक रम और एक व्हिस्की की बोतल ज़रूर होती। मेरी तंगहाली को लेकर वे अजीबोग़रीब मज़ाक करते और अमीर बनने के नुस्खे बताते। लेकिन अक्सर बातचीत साहित्य की ओर मुड़ती तो वे संजीदा हो जाते। जानबूझकर प्रगतिशीलों-जनवादियों की बदकारियाँ गिनाते और साबित करते कि भारतीय समाज में किसान-मज़दूर और ग़रीब आदमी की दशाओं से साहित्यिक के संगठित वामपंथी बिल्कुल दूर हैं और बिल्कुल करियरिस्टिक तरीके से फ़ायदे हासिल करने के लिए एक-दूसरे से जुड़े हैं। लेकिन इस तरह की बातचीत के दौरान उनकी आक्रामकता से दुःख और निराशा झाँका करती थी।

उसी दौर में विशाखापतनम में उनका तबादला हुआ और वहाँ कुछ ऐसे नये संगी-साथी उन्हें मिले जिनके साथ उनके दिन अच्छी तरह बीते। एक बार वहाँ की आर्मी कैन्टीन से वे मेरे लिए एक

बड़े आकार का प्रेशर कुकर लाये। एक दफ़ा जब दिल्ली के नलों में आनेवाले पानी के प्रदूषण और अखबारों में ख़बरें छपना शुरू हुईं तो वे स्टेनलेस स्टील का एक वाटर फ़िल्टर लाकर रख गये। मुझे अकेले के डेरे में इस तरह की घर-गृहस्थी वाली चीज़ों के साथ और भी किस्से और प्रसंग जुड़े, मसलन सुरेन्द्र प्रताप जब भी आते तो प्रेशर कुकर देखकर तहरी बनाने का प्रस्ताव करते। यह दीगर था कि जब तक तहरी बनकर तैयार होती, फ़र्श पर बिछी केरल की कोराग्रास वाली चटाई पर पी-पाकर वह सो चुके होते थे। उन दिनों मैं नॉर्थ एवेन्यू में एक बरसाती में रहता था जिसके साथ की खुली छत पर कवि-लेखक और पत्रकार मित्रों के संग रसरंजन और काव्य पाठ के जाने कितने कार्यक्रम हुए। उन कार्यक्रमों की शोहरत कुछ ऐसी फैली थी कि कई-कई बार बिन बुलाये अतिथियों के पधारने से छोटी-मोटी अव्यवस्था भी हो जाया करती थी।

'राष्ट्रपति' मुझ पर कभी-कभी बरस पड़ते थे, 'तुम तो साले बेवकूफ़ हो। अपनी बेतुकी भावुकता में मुफ़्तखोरों की भीड़ जुटाते रहते हो। प्रूफ रीडिंग और कॉपी एडिटिंग में आँखें फोड़ते हो और ये भोंसड़ी के...'। मैं उन्हें शान्त कराने के लिए बात बदल देता। उन्हें किसी और दिशा में मोड़ने का सबसे अच्छा तरीका था उनके हाथ में कोई नयी लिखी कविता थमा देना। वे मनोयोग से उसे पढ़ते और अपने सुझाव देते। एक आध दफा तो उन्होंने मेरी कविता के वैकल्पिक पाठ लिखकर भी तैयार किये थे जो अब तक मेरे काग़ज़ों के बीच से जब-तब झाँकते हैं। यह सब मेरे प्रति उनके उस अपार प्रेम की अभिव्यक्तियाँ थीं जो बार-बार अनोखे लक्षणों के साथ प्रकट होता था। ३५, फीरोजशाह रोड का एक प्रसंग याद आता है जब वे अपने कविता संग्रह 'ऐसे भी तो सम्भव है मृत्यु' की हस्तलिखित पाण्डुलिपि लेकर आये थे। उनका हस्तलेख चूँकि अक्षरों और मात्राओं को जोड़कर लम्बी लताओं सा बनाता था जिसे पढ़ने में किसी हद तक मुश्किल हो सकती थी इसलिए अक्सर निर्मला जी उनकी रचनाओं को अपनी साफ-सुथरी लिखावट में लिख दिया करती थीं। वह पाण्डुलिपि भी निर्मला जी ने ही तैयार की थी। 'राष्ट्रपति' आये और बिना किसी भूमिका के मुझसे कहा, 'इन कविताओं को पढ़कर बताओ, कुछ बात बन रही है... या...?' मैंने तय किया कि कविताओं में कुछ युवा साथियों को बुलाकर ज़रा क़ायदे से एक अनौपचारिक पाठ आयोजित किया जाये। उन दिनों राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय के छात्र-छात्राओं के बीच मैंने एक स्टडी सर्किल सी चला रखी थी और मेरे पास उनका नियमित आना-जाना था। मैंने उनमें से कुछ को शाम को आने का न्योता दिया और मुख्य इमारत के पीछे के लान में दरियाँ-चादरें बिछाकर खुले आसमान के नीचे बैठने का प्रबन्ध किया। उन दिनों दिल्ली का वायुमण्डल आज की तुलना में काफी साफ होता था सो जब चाँद निकला तो उसका प्रकाश इतना था कि उसमें कविताएँ पढ़ी जा सकती थीं। मोमबत्तियाँ तो थीं ही। रसरंजन के साथ पाठ शुरू हुआ जो देर रात तक चला। जितेन्द्र अपनी ही कविताएँ हमारे मुँह से सुनते रहे। हॉस्टल के खाने का समय होने पर नाट्य विद्यालय वाले लड़के-लड़कियाँ चले गये थे सो ज़्यादातर कविताओं का पाठ मैंने ही किया। जितेन्द्र बहावलपुर हाउस की अतिथि शाला में रुके थे। अगले दिन की मुलाक़ात तय करके

जाते हुए उन्होंने पाण्डुलिपि मुझे दे दी, इस हिदायत के साथ कि 'एक बार और क्रिटिकली देख लेना।' आधी रात के बाद तक मैं बिस्तर में लेटा कई कविताओं को फिर से पढ़ता रहा और एक अपर्याप्त सा क़लम ढूँढकर मैंने कुछ पंक्तियाँ पाण्डुलिपि पर ही लिख दीं जो शायद रम का पैदा किया हुआ अनौचित्य था। अशोक अग्रवाल ने बड़ी भावना के साथ जितेन्द्र का वह संग्रह प्रकाशित किया। जब पुस्तक की प्रति अशोक ने मुझे दी तो मैं बेहद चकित हुआ कि उस रात कुछ विचित्र से आलोड़न में नींद और रम के असर के झोंकों पर झूलते हुए मैंने जो कुछ वाक्य लिखे थे वे पुस्तक के पिछले आवरणों पर ज्यों के त्यों छपे हुए थे। मैंने अशोक से कहा कि उसे रोकना चाहिए था। अगर मुझे ही लिखना था तो मैं अपने विचारों और भाषा को ठीक से संयोजित करके लिख देता। अशोक ने बताया कि जितेन्द्र इस विषय में कुछ सुनना नहीं चाहते थे। उनकी जिद थी कि 'इसी तरह हू-ब-हू पंकज की राइटिंग में इसे देना है।' 'ऐसे भी सम्भव है मृत्यु' की पाण्डुलिपि पर मैंने जून ८३ में अपनी वह रससिक्त प्रतिक्रिया लिखी थी, उस पर प्रकाशन वर्ष छपा है १९८५। इतने वर्षों बाद जब-जब उस पुस्तक को देखता हूँ तो यही महसूस होता है कि वह 'राष्ट्रपति' का प्रेम जताने का ही एक तरीक़ा था। ऊपर से हास-परिहास, गाली-गलौज, व्यंग्य और नाटकीय कठोरता का आवरण डाले जितेन्द्र भीतर से कितने तरल, मानवीय और प्रेम की कैसी अद्‌भुत संवेदना और सामर्थ्य से भरे थे यह उनके निकट के लोग ही जानते थे।

हम जब भी मिलते एक-दूसरे को बाँहों में भरकर भींच लेते। लम्बे अन्तरालों के बाद या अपने-अपने हिस्से की ज़िन्दगी की चोटें खाने के बाद हम मिलते तो खामोशी में वे मुझ पर आँखें टिकाये रहते और फिर उनकी आँखें पनिया जातीं। उन्हें मैंने वर्षों खुलकर हँसते तो खूब देखा लेकिन 'कहीं मारें, उनके दिल को चाहे जितना भी हिला गयी हों उनके आँसू उनकी मर्यादा के बन्दी बने रहे।

नॉर्थ एवेन्यू की मेरी बरसाती में १९८४ में वे कुछ ठीक से रहे क्योंकि स्वास्थ्य को लेकर किसी मित्र डॉक्टर ने उन्हें ज़्यादा ही फ़िक्रमन्द कर दिया था। सिगरेट और बीड़ी वे बहुत ज़्यादा पीते थे और उनके उस डॉक्टर मित्र ने उन्हें सलाह दी थी कि वे दिल्ली में अपनी पूरी जाँच करा लें। उस बार जब वे आये तो पहली बार उन्होंने छाती में होने वाले दर्द और स्वास्थ्य सम्बन्धी आशंकाओं का ज़िक्र किया था। खुद ही यह भी बताया कि डॉक्टर ने धूम्रपान बन्द करने की हिदायत दी है। यह एक नयी स्थिति थी। मैंने तय किया कि मैं भी सिगरेट नहीं पिऊँगा- हालाँकि उन्हें इसका यकीन नहीं था। रात में मैंने उन्हें नींद में कराहते सुना। अगले दिन मैंने उन्हें लड़-झगड़कर और यथासम्भव धमकाकर अनुशासित दिनचर्या के लिए राज़ी करवाया जिसमें यह भी शामिल था कि रोज़ मैं उनके शरीर की मालिश करूँगा। इस बात पर वे भड़के लेकिन आख़िरकार मान गये। यह सब ठीक था लेकिन उनके धूम्रपान पर लगी पाबन्दी उन्हें असहनीय लगती थी और मैं था कि चौबीसों घण्टे पहरेदारी करता रहता था। एक आध बार मैं इधर-उधर गया तो वापस आने पर मुझे बीड़ी की गन्ध कमरे के आस-पास

महसूस होती थी। पूछने पर वे मना करते, 'अरे, कोई तुम्हारा माली या चौकीदार पीकर गया होगा।

एक रात, देर से, जब मैं गहरी नींद में था, अचानक बीड़ी की महक आयी। मैंने देखा जितेन्द्र का बिस्तर ख़ाली था और छत की तरफ खुलने वाला दरवाज़ा अधखुला सा था। मैं आहिस्ता से पाँव दबा छत की तरफ निकला। चौकन्ना वे भी रहे होंगे। ज़रा सी आहट पर उन्होंने बीड़ी फेंक दी थी। मैंने पास जाकर कहा, 'तुम बाज़ नहीं आओगे!' वे सहमे चुप रहे। मैंने कहा, 'चलकर सो जाओ। और बीड़ी पीनी ही है तो चोरी छिपे क्यों पीते हो! जो भी करना है जी भरके करो... खुल के करो... तुमने कब किसकी परवाह की है...'

दुश्चिन्ता से लगातार घिरा था ही, दुःख से मेरी आँख भर्रा गयी। मैं रो दिया। जितेन्द्र चुपचाप अन्दर जाकर लेट गये। अगली सुबह हम दोनों चुप थे। सामने, सड़क की दूसरी तरफ एम.पी. कैंटीन में नाश्ता करते हुए जितेन्द्र ने कहा, 'मुझे माफ़ कर दो, मैंने बीड़ियाँ फेंक दी हैं।'

उस दिन जितेन्द्र छाती के एक्स-रे के लिए गये। एक्स-रे के प्लेट में छाती के बीच गोल काला धब्बा किसी अनाड़ी को भी साफ दिख सकता था। जितेन्द्र बिल्कुल ख़ामोश थे। मालिश के लिए जब मैंने उनके कपड़े उतारे तो उनके गले में धागे से लटके रुद्राक्ष पर मेरी निगाह अटकी। मैंने पूछा, 'एक्स-रे के वक़्त तुमने इसे उतारा था। वे बोले, 'याद नहीं है।' मैंने कहा, 'दुबारा एक्स-रे करायेंगे।' दुबारा एक्स-रे कराया तो मेरा शक सही निकला। सीने के बीचोंबीच दिखता वह गोल काला धब्बा, जिसने हमारी जान निकाल दी थी, गले से लटकता वह बड़ा सा रुद्राक्ष ही था।

जितेन्द्र को बहुत प्रेम मिला क्योंकि अपने औघड़ अन्दाज़ में उन्होंने बहुत प्रेम बाँटा। अनेक महिलाओं की लालसा और कामना के केन्द्र में वे रहे। उनके व्यक्तित्व में एक खास तरह का दुर्निवार आकर्षण था जो प्रेम करने वाली स्त्रियों अगाध-अबाध समर्पण के बिन्दु तक ले आता था। ऐसी महिलाओं या कम उम्र की युवाओं के साथ होने वाली मनोदैहिक समस्याओं का ज़िक्र वह मुझसे किया करते। एकाधिक बार ऐसे मामलों में दूसरे पक्ष को समझा बुझाकर विमुख करने में उनकी 'ऐसी तैसी हो गयी'। पर निर्मला जी के प्रति उनकी भावना अक्षुण्ण और स्थायी थी। अक्सर वे मुझसे कहते, 'समस्या तो यही है कि निर्मला जी बहुत अच्छी हैं... अब क्या करें...!'

बहुत पढ़े-लिखे होने के बावजूद उनमें ज्ञान के प्रदर्शन की प्रवृत्ति ज़रा भी नहीं थी। सेमिनारों और गोष्ठियों में दिखायी पड़ने की व्याख्यान बहादुरी में उनकी रुचि नहीं थी। पर उनका अपना अध्ययन लगातार चलता रहता था। मित्रों के साथ गम्भीर बातचीत में उनके अध्ययन का सुफल निखर कर आता था। अंग्रेजी में एम.ए. तो उन्होंने किया ही था, फ्रेंच और रूसी साहित्य के सारे कवि-कथाकारों पर उनकी अपनी राय थी। टाल्सरॉय, दोस्तोएव्स्की, आंद्रे जीद, हेमिंग्वे, बॉदलेयर, मला रिल्के और अंग्रेज़ी के रोमैंटिक्स पर जिस गहराई और संलग्नता से वे बात करते थे वह विलक्षण थी। पर वह खूब सावधान रहते थे कि उनका अध्ययन किसी आतंक की सृष्टि न करे।

'बेटू' के जाने के बाद और नौकरी से अवकाश पाकर उन्होंने अपने को भोपाल के शाहपुरा वाले घर में समेट लिया था। अपेक्षाकृत अच्छी मनःस्थिति में होते तो फूल-पौधों को पानी देते थे। भोपाल के मित्रों ने जब मेरा एकल काव्यपाठ आयोजित किया था तो सात-आठ वर्ष बाद 'राष्ट्रपति' निर्मला जी के साथ उस कार्यक्रम में शामिल हुए थे और भोपाल के सांस्कृतिक जगत के लिए वह एक अकल्पनीय ख़बर थी।

दिल्ली में कई बार मैं अशोक (वाजपेयी) जी के साथ योजना बनाता रहा कि किसी तरह जितेन्द्र को दिल्ली लाया जाये और उनकी रचनाओं के पाठ और मंचन वगैरह का एक बड़ा कार्यक्रम किया जाये। कैसी विडम्बना रही कि जितेन्द्र से इस बारे में अनुनय-विनय कर मैंने सहमति भी पा ली थी लेकिन वह कार्यक्रम कभी हो नहीं पाया।

शाहपुरा वाले घर में जितेन्द्र से मिलना आसान नहीं था, यों मुलाक़ात का सौभाग्य बहुत थोड़े से लोगों के हिस्से था। उन्हें अपनी घनी पीड़ा के एकान्त से बाहर आने में खींझ-सी होती थी। उनकी बड़ी-बड़ी आँखों में एक पथरायी हुई उदासी थी- मानो यह कहती हुई कि देखो, मैं जो अब रचना और भाषा को तजकर अलग-थलग हूँ तो मुझे अपने हाल पर छोड़ दो। देह के स्वायत्त स्पन्दनों और अपनी भावप्रवण स्त्री के सरोकारों की छाँह में 'राष्ट्रपति' ने कुछ कविताओं के ज़रिए फिर से अपनी सर्जना करने की कोशिश भी की थी, लेकिन तब तक देह कुछ ज़्यादा ही छीज चली थी और मन... वैसे उनके मन के बुझने की कथा में क्या उनकी निजी पीड़ा भर थी, या कि हिन्दी समाज की नृशंसता ने भी कोई भूमिका.....

लेखक परिचय

वागीश शुक्ल – गहरे और तीक्ष्ण सिद्धान्तकार, आलोचक, उपन्यासकार। समास के नियमित लेखक। इनकी तीन पुस्तकें, 'शहंशाह के कपड़े कहाँ हैं' 'चन्द्रकान्ता (सन्तति) का तिलिस्म' और 'छन्द-छन्द पर कुमकुम' प्रकाशित हैं। पहली पुस्तक में साहित्य के अनेक मूलभूत प्रश्नों पर वैचारिक निबन्ध हैं। 'छन्द-छन्द पर कुमकुम' निराला की सुदीर्घ कविता 'राम की शक्ति पूजा' की अद्वितीय टीका है। आधुनिक समय में ऐसा कोई वैचारिक उद्यम किसी अन्य भारतीय लेखक ने इस स्तर का नहीं किया है। ग़ालिब के लगभग पूरे साहित्य की विस्तृत टीका लिख रखी है, जो आने वाले वर्षों में प्रकाशित होगी। वे पिछले कुछ वर्षों से एक सुदीर्घ उपन्यास लिखने में लगे हैं, जिसके कुछ अंश समास- छः और पन्द्रह में प्रकाशित हुए हैं। उन्होंने देवकीनन्दन खत्री के कृतित्व पर 'चन्द्रकान्ता (सन्तति) का तिलिस्म' प्रकाशित। इन दिनों बस्ती (उ.प्र.) में रहते हैं।

अमृता भारती – हिन्दी कवि और गद्य लेखिका। सात कविता संग्रह और एक गद्य संग्रह प्रकाशित। पुदुचेरी में रहती हैं।

कमलेश राहाराय – बांग्लादेश के रंगपुर ज़िले के उलीपुर गाँव में १९४६ में जन्म। देश विभाजन के बाद पिता के साथ पश्चिम बंगाल के अलीपुरद्वार चले आए। साठ के दशक में लिखने की शुरुआत। दो कविता-संग्रह प्रकाशित हुए 'विपरीत वसन्त' और 'लिनोकटे ताप निच्छी'। 'मादल', 'साग्निक' और 'शिलालिपि' पत्रिकाओं का सम्पादन। २०२१ में ७५ वर्ष की उम्र में निधन।

कुमार मोहन्ती – ओड़िया के प्रख्यात कवि। कम उम्र में देहावसान। अपने प्रभावशाली उद्‌बोधनात्मक कविताओं के लिए प्रसिद्ध। ओड़िया साहित्य के जाने-माने 'अनाम' आन्दोलन के प्रणेता और श्रेष्ठ कवि। हाल में उनकी कविताओं के अंग्रेज़ी अनुवाद का एक संग्रह 'द बायोग्राफ़ी ऑफ़ एंगर' प्रकाशित।

महेश एलकुंचवार – भारत के सुविख्यात नाटककार एवं पटकथा लेखक। 'एक नट की मृत्यु' जैसे बीस से अधिक नाटकों के रचयिता। सैद्धान्तिक और आलोचनात्मक लेखन। न केवल मराठी रंगमंच में बल्कि भारतीय रंगमंच में महत्वपूर्ण उपस्थिति। संगीत नाटक अकादमी फैलोशिप समेत अनेक महत्वपूर्ण सम्मानों से सम्मानित।

वंशी माहेश्वरी – कवि और सम्पादक। विश्व कविता पर एकाग्र 'तनाव' पत्रिका का प्रकाशन एवं सम्पादन। 'पाठशाला', 'थोड़ी-सी कोशिश' आदि कविता संग्रह प्रकाशित। 'बर्फ में जमी आग' कविता संग्रह शीघ्र प्रकाश्य। रज़ा फ़ाउण्डेशन की पुस्तक माला में तनाव से विश्व कविता के चयन से तीन खण्ड प्रकाशित। मध्यप्रदेश साहित्य परिषद् और वातायन संस्था (लन्दन, यू.के.) द्वारा 'तनाव' पत्रिका

सम्मानित।

ध्रुव शुक्ल – कवि, कथाकार, उपन्यासकार और टिप्पणीकार। कई कविता संग्रह प्रकाशित हैं जिनमें 'खोजो तो बेटी पापा कहाँ हैं', 'फिर वह कविता वही कहानी' और 'एक बूँद का बादल' प्रमुख हैं। इनके तीन उपन्यास 'उसी शहर में', 'अमर टॉकीज़' और 'कचराघर' प्रकाशित। कहानी संग्रह 'हिचकी', सामयिक विषयों पर टिप्पणियों का संग्रह, 'एक नागरिक की डायरी', महात्मा गाँधी की प्रसिद्ध पुस्तक, 'हिन्द स्वराज' पर केन्द्रित सुदीर्घ निबन्ध, 'पूज्य पिता के सहज सत्य' आदि प्रकाशित हुए हैं। ध्रुव को अनेक पुरस्कार प्राप्त हुए है। हिन्दी साहित्य की पत्रिका, 'पूर्वग्रह' में सम्पादन सहयोग और 'साक्षात्कार' का सम्पादन किया है। हाल में कृति संचयन 'यह दिन सब पर उगा है' प्रकाशित। आप भोपाल में रहते हैं।

ख़ालिद जावेद – उर्दू के सुविख्यात उपन्यासकार और कहानीकार बरेली में कई साल तक दर्शन शास्त्र पढ़ाते रहे। फिर उर्दू में एम.ए., पीएच.डी. और इन दिनों जामिया मिल्लिया इस्लामिया में उर्दू के प्रोफेसर हैं। ख़ालिद जावेद के दो कहानी संग्रह 'बुरे मौसम में' और 'आख़िरी दावत' तथा दो उपन्यास 'मौत की क़िताब' और 'नेमत ख़ाना' प्रकाशित हैं। वर्ष २०२२ का अंग्रेज़ी में अनुदित भारतीय उपन्यास का सबसे बड़ा 'जे.सी.बी.' पुरस्कार नेमतख़ाना के अंग्रेज़ी अनुवाद 'पैराडाइस ऑफ़ फूड' को मिला है। इस उपन्यास का एक अंश समाज-१५ में प्रकाशित हुआ है।

आनन्द हर्षुल – हिन्दी के महत्वपूर्ण कथाकार और उपन्यासकार। तीन कहानी संग्रह 'हाथी के भीतर लड़का', 'पृथ्वी को चन्द्रमा' और 'अधखाया फल' प्रकाशित। हाल में आपका नया उपन्यास 'चिड़िया बहनों का भाई' प्रकाशित। रायपुर में रहते हैं।

अनूप सिंह – भारतीय मूल के फ़िल्मकार अनूप सिंह का जन्म १९६१ में तंज़ानिया में हुआ। आपने २००३ में 'एक्ति नादिर नाम' फ़िल्म का निर्देशन किया, जो महान फ़िल्मकार ऋत्विक घटक की याद में बनायी गई है और साथ ही २०१३ में 'किस्सा' जैसी फ़िल्म का निर्देशन किया इसके बाद इनकी फ़िल्म 'द साँग ऑफ़ द स्कोर्पियन' दिखायी गयी है। अभिनेता इरफ़ान खान की मृत्यु के बाद हाल ही में उनके काम पर 'इरफ़ान : अ डायलॉग विद द विंड' नाम की महत्वपूर्ण पुस्तक का लेखन।

प्रवासिनी महाकुड़ – ओड़िया की सुप्रसिद्ध कवि। 'परमा' सहित लगभग बारह कविता संग्रह प्रकाशित। 'सुपर्णा' नाम का एक उपन्यास भी प्रकाशित। हिन्दी और अंग्रेज़ी से ओड़िया में अनुवाद की कई पुस्तकें। ओड़िआ साहित्य अकादेमी, जयपुर साहित्य अकादेमी सहित अनेक पुरस्कारों से सम्मानित। भुवनेश्वर में रहती हैं।

अमित दत्ता – देश के सम्भवतः सबसे अधिक कल्पनाशील और गहन फ़िल्मकार। पुणे के भारतीय फ़िल्म एवं टेलीविजन संस्थान के स्नातक। कला, इतिहास और सिनेमा माध्यम की वैकल्पिक सम्भावनाओं को लेकर कई फ़िल्में बनायी हैं जिनमें क्रमशः, नैनसुख, चित्रशाला, गीतगोविन्द, रामखिन्द, पूर्ण/अपूर्ण, आदमी की औरत एवं अन्य कहानियाँ, सातवाँ रास्ता और अज्ञात शिल्पी प्रमुख हैं। फ़िल्मों को कई राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय पुरस्कार मिले हैं जिनमें मुम्बई अन्तर्राष्ट्रीय में सर्वश्रेष्ठ फ़िल्म का

गोल्डन कोंच पुरस्कार और चार राष्ट्रीय रजत कमल पुरस्कार शामिल। फ़िल्में अनेक महत्वपूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय फ़िल्म समारोहों और कला संग्रहालयों में दिखायी जाती रही हैं। फ़िल्मों का पुनरावलोकी समारोह पेरिस, बर्कले, केलिफोर्निया, ओबरहाउजेन, लुगानो (स्विट्ज़रलैण्ड) आदि स्थानों के प्रतिष्ठित समारोहों में हुए हैं। उपन्यास 'कालजयी कमबख़्त' को कृष्ण बलदेव वैद पुरस्कार प्राप्त। इनकी अंग्रेज़ी में लिखी पुस्तक का हिन्दी अनुवाद 'खुद से कई सवाल' प्रकाशित। भारतीय कला पर 'इनविज़िबल वेब' इनकी नवीनतम पुस्तक है। पालमपुर (हिमाचल प्रदेश) में रहते हैं।

पंकज सिंह – जन्म १९४८ में मुज़फ़्फ़रपुर, बिहार में हुआ। मुज़फ़्फ़रपुर से आरम्भिक शिक्षा के बाद आपने जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय से वियतनाम के संघर्ष पर शोध-कार्य किया। आपके तीन काव्य-संग्रह 'आहटें आसपास', 'जैसे पवन पानी' और 'नहीं' शीर्षक से प्रकाशित हैं। 'मैथिलीशरण गुप्त सम्मान' आदि सम्मानों से पुरस्कृत। लम्बी बीमारी के बाद २६ दिसम्बर २०१५ को दिल्ली में उनका निधन हो गया।

अम्बर पाण्डेय – अम्बर पाण्डेय हिन्दी और अंग्रेज़ी में कविता तथा गद्य लिखते हैं। उनकी पहली पुस्तक 'कोलाहल की कविताएँ' है जिस पर उन्हें अनेक पुरस्कार प्राप्त हुए है। वे फ्रांसीसी और जर्मन भाषा से हिन्दी एवं अंग्रेज़ी में अनुवाद करते हैं।

वसु गन्धर्व – युवा हिन्दी कवि। अंग्रेज़ी, अर्थशास्त्र और मनोविज्ञान में स्नातक। कथादेश सहित कई पत्रिकाओं में कविताएँ प्रकाशित। 'किसी रात की लिखित उदासी में' शीर्षक से कविताओं की एक पुस्तिका प्रकाशित। शास्त्रीय संगीत के गम्भीर छात्र, वर्तमान में पण्डित अजय चक्रवर्ती के शिष्य। रायपुर में रहते हैं।

दिनेश कुमार माली – प्रकाशित कृतियों में 'न हन्यते' (एक श्रद्धांजलि) और साथ ही ओड़िया कहानियों, कविताओं, उपन्यास आदि के हिन्दी में अनुवाद की कई पुस्तकें प्रकाशित। 'भारतेन्दु साहित्य शिरोमणि सम्मान' सहित अनेक सम्मान। इन दिनों जगन्नाथ क्षेत्र में विभागाध्यक्ष (खनन) के रूप में कार्यरत। हंडिधुआ, तालचेर (ओडिशा) में रहते हैं।

मदन सोनी – हिन्दी के प्रख्यात आलोचक और अनुवादक। 'कविता का व्योम और व्योम की कविता,' 'विषयान्तर', निर्मल वर्मा पर 'कथापुरुष', 'विक्षेप' पुस्तकें। बर्टोल्ट ब्रेख़्त और कालिदास के नाटकों के बुन्देली में अनुवाद। हर्मन हेस के उपन्यास 'सिद्धार्थ' और उम्बर्टो इको के उपन्यास 'द नेम ऑफ़ द रोज़' के हिन्दी अनुवाद 'ख़ाली नाम गुलाब का' के साथ इज़राईली इतिहासकार युवाल नोआ हरारी की कई किताबों के अनुवाद प्रकाशित हुए हैं। अभी हाल में निबन्ध संचयन 'काँपती सतह पर' प्रकाशित। इन दिनों भोपाल में रहते हैं।

वरयाम सिंह – रूसी भाषा से हिन्दी में अनुवाद की अनेक पुस्तकें प्रकाशित हैं। लगभग सभी महत्वपूर्ण रूसी कवियों की कविताओं का मूल रूसी भाषा से प्रांजल हिन्दी अनुवाद किया है। वर्षों तक दिल्ली के जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय में अध्यापन कार्य किया है।

उत्पल बैनर्जी – कवि, अनुवादक। 'लोहा बहुत उदास है' कविता संग्रह प्रकाशित। बँगला से हिन्दी में अनूदित १३ पुस्तकें प्रकाशित। बँगला कवि श्री शंख घोष के आलोचनात्मक गद्य की किताब 'निःशब्द की तर्जनी' के अनुवाद के लिए अमर उजाला फाउण्डेशन का अखिल भारतीय 'भाषा बन्धु' सम्मान, २०१६. इन्दौर में रहते हैं।

कुलजीत सिंह – 'रात की नदी' कविता संकलन प्रकाशित। ओड़िआ से हिन्दी अनुवाद का कहानी संग्रह, 'गुड्डी की दुनिया' (स्वर्ण देवी) और कविता संकलन, 'दुख जहाँ था' (कृपा सिन्धु नायक) प्रकाशित। अध्यापन से सेवानिवृत्त। दिल्ली में रहते हैं।

गोरख थोराट – पुणे में रहने वाले गोरख थोराट ने मराठी की कई महत्वपूर्ण किताबों का हिन्दी में अनुवाद किया है, जिनमें प्रमुख हैं, भालचन्द्र नेमाड़े का उपन्यास 'हिन्दू' और सुधाकर यादव की भारतीय चित्रकला पर पुस्तक 'चित्रमय भारत' शामिल हैं।

ज़मान तारिक़ – जामिया मिल्लिया इस्लामिया, नयी दिल्ली के शोधकर्त्ता। हाल ही में आपने उर्दू लेखक ख़ालिद जावेद के उपन्यास 'नेमतख़ाना' का हिन्दी में अनुवाद किया है।

ISSN-2394-2355

नवज्योति सिंह
वागीश शुक्ल
अमृता भारती
महेश एलकुंचवार
ख़ालिद जावेद
कमलेश राहा राय
कुमार मोहन्ती
वंशी माहेश्वरी
मदन सोनी
ध्रुव शुक्ल
पंकज सिंह
आनन्द हर्षुल
वरयाम सिंह
अनूप सिंह
ल्योनीद गुबानोव
प्रवासिनी महाकुद
अमित दत्ता
अम्बर पाण्डेय
दिनेश कुमार माली
वसु गन्धर्व
गुलाब हुसैन सा'अदी
होशंग गुल्शीरी
गोरख थोरात
ज़मान तारिक़
कुलजीत
उत्पल बैनर्जी

समास, प्रकाशक : अशोक वाजपेयी, प्रबन्ध न्यासी द्वारा द रज़ा फ़ाउण्डेशन, सी-४/१३६, सफ़दरजंग डेवलपमेण्ट एरिया, नयी दिल्ली के लिए मुद्रित एवं प्रकाशित। मुद्रक : भण्डारी ऑफसेट, अरेरा कॉलोनी, भोपाल (म.प्र.) सम्पादक : उदयन वाजपेयी
Samas, A literary Quarterly Magazine, Language : Hindi, Published by Ashok Vajpeyi, Managing Trustee, The Raza Foundation, C-4/139, Safdarjung Development Area, New Delhi-110016 Edited by Udayan Vajpeyi.